प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

चौथी बार : १९६१
मूल्य
दो रुपए ७५ न० पै०

मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
दिल्ली ६

प्रकाशकीय

आचार्य विनोबाजीकी कई पुस्तकें हिन्दीमें प्रकाशित हो चुकी हैं, लेकिन उनके एक ऐसे संग्रहकी आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, जो विशेष रूपसे युवकोंके लिए उपयोगी हो और जिसे पढ़कर वे जान सकें कि सच्ची शिक्षा एवं संस्कृति क्या है और उन्हें किस प्रकार अपने जीवनका निर्माण तथा विकास करना चाहिए, जिससे वे समाज और राष्ट्रकी अधिक-से अधिक सेवा कर सकें।

प्रस्तुत संग्रह इसी कमीको पूरा करनेके विचारसे निकाला जा रहा है। पुस्तकमें विशेषकर विद्यार्थियोंकी दृष्टिसे लगभग सभी आवश्यक विषयोंका समावेश हो गया है। हमारी शिक्षा कैसी होनी चाहिए, वर्तमान शिक्षा प्रणालीको किस प्रकार लाभदायक बनाया जा सकता है, शिक्षकमें किन किन गुणोंका होना जरूरी है, विद्यार्थियोंको आत्मविकास के लिए किन-किन मूलभूत बातोंको अपने अन्दर विकसित करना चाहिए, शरीर-श्रम क्यों आवश्यक है, वास्तविक धर्मशास्त्र क्या है, हमें ग्रामोंकी सेवापर अपना ध्यान क्यों केन्द्रित करना चाहिए, ग्रामोद्योगोंको प्रोत्साहन देनेमें क्या लाभ है, हमारे जीवनमें मातृभाषाका क्या महत्त्व है, त्याग और दानका क्या स्थान है, आजकी सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओंको सर्वोदयके सिद्धान्त द्वारा किस प्रकार दूर किया जा सकता है, महापुरुषोंके जीवनसे हमें क्या-क्या शिक्षाएं मिलती हैं, आदि-आदि सभी विषयोंपर इस पुस्तकमें प्रकाश डाला गया है। विनोबाजी जो कुछ कहते हैं उसके व्यावहारिक पहलूको पहले देख लेते हैं। अतः इस पुस्तकमें सिद्धान्त और व्यवहार, दोनोंका बड़ा ही सुन्दर समन्वय पाठकोंको मिलेगा।

विनोबाजी महान चिन्तक और साधक हैं। देशके करोड़ों भूखे, नंगे और पीड़ित लोगोंकी पुकार उन्हें आश्रमसे खींचकर उनके बीच ले आई

है और वह समाजमें अहिंसक शान्ति उत्पन्न करनेके लिए देशके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक पैदल यात्रा कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि उनके विचारोंका अध्ययन मनन और स्वाध्याय करके पाठक इस महान ध्येयकी पूर्तिमें योग देंगे जिसके लिए विनोबाजीने अपने प्राणोंकी बाजी लगा रखी है।

पुस्तककी सामग्री 'विनोबाके विचार' 'गांधीजीको श्रद्धांजलि' 'शान्ति-यात्रा' आदि कई पुस्तकोंसे ली गई है।

चौथा संस्करण

प्रस्तुत पुस्तकका चौथा संस्करण पाठकोंकी सेवामें उपस्थित करते हुए हमें बड़ा हर्ष हो रहा है। पुस्तकमें शिक्षा और संस्कृतिके विषयमें बुनियादी विचार हैं और इन विचारोंका जितना अधिक प्रचार होगा उतना ही लाभदायक है। हम चाहते हैं कि पुस्तक प्रत्येक युवकके हाथमें पहुंचे जिससे अपने जीवन-निर्माणमें उसे सही मार्गदर्शन प्राप्त हो।

हमें विश्वास है कि पुस्तक उत्तरोत्तर लोकप्रिय होगी।

—मंत्री

गंभीर अध्ययन

अध्ययनमें लंबाई चौड़ाई महत्त्वकी चीज नहीं है। महत्त्व है गंभीरताका। बहुत देरतक घंटों-के-घंटे और भांति भांतिके विषयोंका अध्ययन करते रहनेको मैं लंबा-चौड़ा अध्ययन कहता हूं। समाधिस्थ होकर नित्य निरंतर थोड़ी देरतक किसी निश्चित विषयके अध्ययनको मैं गंभीर अध्ययन कहता हूं। दस-बारह घंटे सोना पर करवटें बदलते रहना या सपने देखते रहना—ऐसी नींदसे विश्रांति नहीं मिलती बल्कि पांच ही छ घंटे सोयें किंतु गाढ़ निद्रा हो तो इतनी नींदसे पूर्ण विश्रांति मिल सकती है। यही बात अध्ययनकी है। समाधि अध्ययनका मुख्य तत्त्व है।

समाधियुक्त गंभीर अध्ययनके बिना काम नहीं। लंबा चौड़ा अध्ययन बहुत-कुछ फिजूल ही होता है। उसमें शक्तिका अपव्यय होता है। अनेक विषयोंपर माशीभर पढ़ाई करते रहनेसे कुछ हाथ नहीं लगता। अध्ययनसे प्रज्ञा बुद्धि स्वतंत्र और प्रतिभावान होनी चाहिए। प्रतिभाके मानी हैं बुद्धिमें नई-नई कोंपलें फूटते रहना। नई कल्पना नया उत्साह, नई खोज नई स्फूर्ति ये सब प्रतिभाके लक्षण हैं। लंबी-चौड़ी पढ़ाईके नीचे यह प्रतिभा दबकर मर जाती है।

वर्तमान जीवनमें आवश्यक समस्याओंका ध्यान रखकर ही सारा अध्ययन करना चाहिए अन्यथा भविष्य-जीवनकी आशामें वर्तमान कालमें मरने-जैसा प्रकार बन जाता है। शरीरकी स्थितिपर कितना विश्वास किया जाता है यह प्रत्येकके अनुभवमें आनेवाली बात है। भगवानकी हम सबपर अपार कृपा ही समझनी चाहिए कि हममें वह कुछ न-कुछ कमी रख ही देता है। वह चाहता है कि यह कमी जानकर हम जाग्रत रहें।

दो बिंदुओंसे रेखाका निश्चय होता है। जीवनका मार्ग भी दो बिंदुओंसे ही निश्चित होता है। हम कहाँ हैं यह पहला बिंदु। हम जाना कहाँ है यह दूसरा बिंदु। इन दो बिंदुओंको तय कर लेना जीवनकी दिशा तय कर लेना है। इस विचारपर अमल किये बिना इधर-उधर भटकनेसे रास्ता तय नहीं हो पाता।

'ग्रामसेवावृत्त' से] —विनोबा

विषय-सूची

	विषय	पृष्ठ		विषय	पृष्ठ
१	रोजकी प्रार्थना	९	२१	त्याग और दान	१०३
२	जीवन और शिक्षण	११	२२	कृष्णभक्तिका रोग	१०५
३	कौटुंबिक पाठशाला	१७	२३	कविके गुण	१०९
४	राष्ट्रीय शिक्षकोंका दायित्व	२[illegible]	२४	फायदा क्या है?	११३
५	तेजस्वी विद्या	२४	२५	चार पुरुषार्थ	११६
६	नई शिक्षा प्रणालीका आधार	२७	२६	निर्भयता	१३३
७	ब्रह्मचर्यका धर्म	३९	२७	आत्मशक्तिका अनुभव	१३४
८	साक्षर या सार्थक?	४२	२८	सेवाका आधार-धर्म	१४१
९	विभक्त शिक्षण	४५	२९	परशुराम	१५३
१०	मातृभाषा	५६	३०	राष्ट्रीय अर्थशास्त्र	१५७
११	साहित्य उसकी विधाएं	६१	३१	खादी और गांधीजी सहार्थ	१६२
१२	तुलसीकृत रामायण	६३	३२	खादीका समग्र दर्शन	१६७
१३	जीवनकी तीन प्रधान बातें	६[illegible]	३३	उद्योगमय ज्ञान-वृत्ति	१७५
१४	गांधीजीकी सिखावन	७[illegible]	३४	मां-सेवाका रहस्य	१८१
१५	सर्वोदयकी विचार-सरणी	७५	३५	भिक्षा	१८९
१६	सेवा व्यक्तिकी भक्ति समाजकी	७[illegible]	३६	गुणनाम	१९२
१७	ग्रामसेवा और ग्रामधर्म	[illegible]३	३७	गुल्लमद	१९९
१८	ग्राम-सफाईकी उपासना	[illegible]६	३८	लोकमान्यके चरणोंमें	२०७
१९	स्वाध्यायकी आवश्यकता	९७	३९	भूदान-यज्ञ और उसकी भूमिका	२१५
२०	दरिद्रोंसे तन्मयता	[illegible]	४०	ग्रामदानकी विचार और आचार-योजना	२[illegible]४

जीवन और शिक्षण

१

रोजकी प्रार्थना

ॐ असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय॥

हे प्रभो मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा। अन्धकारमेंसे प्रकाशमें ले जा। मृत्युमेंसे अमृतमें ले जा।

इस मंत्रमें हम कहां हैं अर्थात् हमारा जीव-स्वरूप क्या है और हमें कहां जाना है अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है। हम असत्यमें हैं, अंधकारमें हैं, मृत्युमें हैं। यह हमारा जीव-स्वरूप है। हमें सत्य की ओर जाना है, प्रकाशकी ओर जाना है, अमृतत्वको प्राप्त कर लेना है। यह हमारा शिव-स्वरूप है।

दो बिंदु निश्चित हुए कि सुरेखा निश्चित हो जाती है। जीव और शिव के दो बिंदु निश्चित हुए कि परमार्थ-मार्ग तैयार हो जाता है। मुक्तके लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है कारण उसका जीव-स्वरूप जाता रहा है। शिव-स्वरूप का एक ही बिंदु बाकी रह गया है, इसलिए मार्ग पूरा हो गया। जड़के लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है। कारण उसे शिव-स्वरूप का भान नहीं है। जीव स्वरूपका एक ही बिंदु नजरके सामने है इसलिए मार्ग आरंभ ही नहीं होता। मार्ग बीचवाले लोगोंके लिए है। बीचवाले लोग अर्थात् मुमुक्षु। उनके लिए मार्ग है और उन्हींके लिए इस मंत्रवाली भावना है।

'मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा' ईश्वरसे यह प्रार्थना करनेके मानी हैं 'मैं असत्यमेंसे सत्यकी ओर जानेका बराबर प्रयत्न करूंगा' इस तरहकी

एक प्रतिज्ञा-सी करना। प्रयत्नवादकी प्रतिज्ञाके बिना प्रार्थनाका कोई अर्थ ही नहीं रहता। यदि मैं प्रयत्न नहीं करता और चुप बैठ जाता हूँ अथवा विरुद्ध दिशामें जाता हूँ और जबानसे 'मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा' यह प्रार्थना किया करता हूँ तो इससे क्या मिलनेका? नागपुरसे कलकत्तेकी ओर जानेवाली गाड़ीमें बैठकर हम 'हे प्रभो मुझे बम्बई ले जा' की कितनी ही प्रार्थना करें,तो उसका क्या फायदा होगा? असत्यसे सत्यकी ओर ले जानेकी प्रार्थना करनी हो तो असत्यसे सत्यकी ओर जानेका प्रयत्न भी करना चाहिए। प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी प्रार्थना करनेमें यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मैं अपना सब असत्यसे सत्यकी ओर कदम्मा और अपनी शक्तिभर सत्यकी ओर जाने का भरपूर प्रयत्न करूंगा।

प्रयत्न करना है तो फिर प्रार्थना क्या? प्रयत्न करना है, इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए। मैं प्रयत्न करनेवाला हूं। पर फल मेरी मुट्ठीमें थोड़े ही है। फल तो ईश्वरकी इच्छापर अवलंबित है। मैं प्रयत्न करके भी कितना करूंगा? मेरी शक्ति कितनी अल्प है? ईश्वरकी सहायताके बिना मैं अकेला क्या कर सकता हूं? मैं सत्यकी ओर अपने कदम बढाता रहूं तो भी ईश्वरकी कृपाके बिना मैं मंजिलपर नहीं पहुंच सकता। मैं रास्ता काटनेका प्रयत्न तो करता हूं पर अंतमें मैं रास्ता काटूंगा कि बीचमें मेरे पैर ही टूट जानेवाले हैं यह कौन कह सकता है? इसलिए अपने ही बलबूते मैं मंजिलपर पहुंच जाऊंगा यह घमंड फिजूल है। कामका अधिकार मेरा है पर फल ईश्वरके हाथमें है। इसलिए प्रयत्नके साथ-साथ ईश्वरकी प्रार्थना आवश्यक है। प्रार्थना के सम्बोधनसे हमें बल मिलता है। यों कहो न कि अपने पासका संपूर्ण बल काममें लाकर और बाकी ईश्वरसे मांग करना यही प्रार्थनाका मतलब है।

प्रार्थनामें दैववाद और प्रयत्नवादका समन्वय है। दैववादमें पुरुषार्थकी अवहेलना नहीं है इसमें यह जानता है। प्रयत्नवादमें निरहंकार वृत्ति नहीं है इससे वह अधूरा है। कारण दोनों ग्रहण नहीं किये जा सकते। किंतु दोनोंको छोड़ा भी नहीं जा सकता। कारण दैववादमें जो नम्रता है वह जरूरी है। प्रयत्नवादमें जो पराक्रम है वह भी आवश्यक है। प्रार्थना इनका मेल साधती

है। 'मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः' गीतामें सात्त्विक कर्ताका यह जो लक्षण कहा गया है उसमें प्रार्थनाका रहस्य है। प्रार्थना यानी अहंकार रहित प्रयत्न। सारांश 'मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा' इस प्रार्थनाका संपूर्ण अर्थ होगा कि "मैं असत्यमेंसे सत्यकी ओर जानेका अहंकार छोड़कर, उत्साहपूर्वक सतत प्रयत्न करूंगा। यह अर्थ ध्यानमें रखकर हम रोज प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिए कि—

हे प्रभो तू मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा। अंधकारमेंसे प्रकाशमें ले जा। मृत्युमेंसे अमृतमें ले जा।

२
जीवन और शिक्षण

आजकी विचित्र शिक्षण-पद्धतिके कारण जीवनके दो टुकड़े हो जाते हैं। आयुके पहले पन्द्रह-बीस बरसोंमें आदमी जीनेके झंझटमें न पड़कर सिर्फ शिक्षाका प्राप्त करे और बादको शिक्षणको बस्तेमें लपेट रखकर मरने तक जिये

यह रीति प्रकृतिकी योजनाके विरुद्ध है। हाथभर लम्बाईका बालक साढ़े तीन हाथका कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरोंके ध्यानमें भी नहीं आता। शरीरकी वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश क्रम क्रमसे थोड़ी-थोड़ी होती है। इसलिए उसके होनेका भान तक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रातको सोये तब तो दो फुट ऊंचाई थी और सबेरे उठकर देखा तो ढाई फुट हो गई। आजकी शिक्षण-पद्धतिका तो यह ढंग है कि अमुक वर्षके बिल्कुल आखिरी दिनतक मनुष्य-जीवनके विषयमें पूर्ण रूपसे गैरजिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नहीं। यही नहीं उसे गैरजिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्षका पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेनेको तैयार हो जाना चाहिए। संपूर्ण गैरजिम्मेदारीसे संपूर्ण जिम्मेदारीमें कूदना तो एक हनुमान-कूद ही हुई। ऐसी हनुमान-कूदकी कोशिशमें हाथ-पैर टूट जायं तो क्या अचरज!

भगवान्‌ने अर्जुनसे कुरुक्षेत्रमें भगवद्गीता कही। पहले भगवद्गीताके क्लास लेकर फिर अर्जुनको कुरुक्षेत्रमें नहीं धकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवनकी तैयारीका ज्ञान कहते हैं उसे जीवनसे बिलकुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उस ज्ञानसे मौतकी ही तैयारी होती है।

बीस बरसका उत्साही युवक अध्ययनमें मग्न है। तरह-तरहके ऊँचे विचारोंके महल बना रहा है। मैं शिवाजी महाराजकी तरह मातृभूमिकी सेवा करूँगा। मैं वाल्मीकि-सा कवि बनूँगा। मैं न्यूटनकी तरह खोज करूँगा। एक दो चार, जाने क्या-क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करनेका भाग्य भी थोड़ोंको ही मिलता है। पर जिनको मिलता है, उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओंका आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नोन-तेल-लकड़ीके चक्करमें पड़ा जब पेटका प्रश्न सामने आया तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवनकी जिम्मेदारी क्या चीज है, आजतक इसकी बिलकुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया। फिर क्या करता है? फिर पेटके लिए दर-दर फिरनेवाले शिवाजी कलम घीसनेवाले वाल्मीकि और कभी नौकरीकी तो कभी भीखकी कभी तरक्की-के लिए अरजी और अन्तमें स्मशानकी खोज करनेवाले न्यूटन—इस प्रकार की भूमिकाएँ लेकर अपनी कल्पनाओंका समाधान करता है। यह हनुमान दूसरा कम है।

मैट्रिकके एक विद्यार्थीसे पूछा "क्योंजी तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? आगे कालेजमें जाऊँगा।

"ठीक है। कालेजमें तो जाओगे। लेकिन उसके बाद? यह सवाल तो बना ही रहता है।

"सवाल तो बना रहेगा है। पर अभीसे उसका विचार क्यों किया जाय? आगे देखा जायगा।

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थीसे वही सवाल पूछा।

"अभीतक कोई विचार नहीं हुआ।

"विचार हुआ नहीं भाई? लेकिन विचार किया था क्या?

"नहीं साहब विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें? कुछ सूझता नहीं। पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा।

'आगे देखा जायगा' ये वेही शब्द हैं जो तीस वर्ष पहले कहे गए थे। पर पहलेकी आवाज में बेफिक्री थी। आजकी आवाज में थोड़ी चिंताकी झलक थी।

फिर डेढ़ वर्ष बाद उसी प्रश्नकर्ताने उसी विद्यार्थीसे—अथवा कहो अब 'गृहस्थ' से—वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिंताक्रांत था। आवाज की बेफिक्री बिल्कुल गायब थी। 'ततः किं? ततः किं? ततः किम्?' यह शंकराचार्यजीका पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमागमें चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाब नहीं था।

आजकी मौत कलपर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसंग उनपर नहीं आता जो 'मरनेके पहले ही मर लेते हैं' जो अपना मरण आंखोंसे देखते हैं। जो मरणका 'अगाऊ' अनुभव कर लेते हैं उनका मरण टलता है और जो मरणके अगाऊ अनुभवसे जी चुराते हैं, छिपते हैं, उनकी छातीपर मरण आ पड़ता है। सामने खंभा है यह बात अंधेको उस खंभेका छातीमें प्रत्यक्ष धक्का लगनेके बाद मालूम होती है। आंखवालेको वह खंभा पहले ही दिखाई देता है। अतः उसका धक्का उसकी छातीको नहीं लगता।

जिंदगीकी जिम्मेवारी कोई निरी मौत नहीं है और मौत ही कौन ऐसी बड़ी 'मौत' है? अनुभवके अभावसे यह सारा 'हौआ' है। जीवन और मरण दोनो आनंदकी वस्तु होनी चाहिए। कारण अपने परम प्रिय पिताने—ईश्वरने—वे हमें दिये हैं। ईश्वरने जीवन दुःखमय नहीं रचा। पर हमें जीवन जीना आना चाहिए। कौन पिता है, जो अपने बच्चोंके लिए परेशानीकी जिंदगी चाहेगा। तिसपर ईश्वरके प्रेम और करुणाका पार है? वह अपने लाड़ले बच्चोंके लिए सुखमय जीवनका निर्माण करेगा कि परेशानी और झंझटोंसे भरा जीवन रचेगा? कल्पनाकी क्या आवश्यकता है प्रत्यक्ष ही देखिये न। हमारे लिए जो चीज जितनी जरूरी है उसके उतनी ही सुलभतासे मिलने का इंतजाम ईश्वरकी ओरसे है। पानीसे हवा ज्यादा जरूरी है तो ईश्वरने पानीसे हवाको अधिक सुलभ किया है। जहां नाक है, वहां हवा मौजूद है। पानीसे अन्नकी जरूरत कम होनेकी वजहसे पानी प्राप्त करनेकी बनिस्बत अन्न प्राप्त करनेमें अधिक

परिश्रम करना पड़ता है। 'माया' शब्दसे अधिक महत्वकी वस्तु होनेके कारण यह ईश्वरको हमेशाके लिए दे डाली गई है। ईश्वरकी ऐसी प्रेम पूर्ण योजना है। इसका ख्याल न करके हम जितने भी अत्याचार जमा करके जितना भी धन बटोर लें वह हमेशा हम खोते ही हैं। यह सब हमारी मूर्खता रोग है स्वास्थ्य नहीं।

किसीकी जिम्मेदारी कोई दूसरा ले नहीं सकता है। यह मानते हुए भी ज्ञान है कि ईश्वरकी रची हुई जीवनकी महान योजनाका ध्यानमें रख। हम मनुष्य कामनाओंके ऊपर उठ जाएं। यह जैसे यह मानते नहीं हैं कि ईश्वर ही जिसके भी मालिक हैं। यह सबको साथ समझनी

[illegible]

अर्जुनके सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देनेके लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसीका नाम शिक्षा है। बच्चोंको खेत में काम करने दो। वहां कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देनेके लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञानकी या दूसरी जिस चीजकी जरूरत हो उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चोंको रसोई बनाने दो। उसमें जहां जरूरत हो रसायनशास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो'। व्यवहारमें काम करनेवाले आदमीको भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चोंको भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चोंके आस-पास जरूरत के अनुसार मार्ग-दर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वे भी 'जीवन जीनेवाले' हों जैसे व्यवहारमें आदमी जीवन जीते हैं। अन्तर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालोंका जीवन विचार मय होगा उसमेंके विचार मौकेपर बच्चोंको समझाकर बतानेकी योग्यता उनमें होगी। पर 'शिक्षक' नामके किसी स्वतन्त्र धन्धे की जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नामके मनुष्य-कोटिसे बाहरके किसी प्राणीकी। और 'क्या करते हो' पूछनेपर 'पढ़ता हूं' या 'पढ़ाता हूं' ऐसे जवाबकी जरूरत नहीं है। 'खेती करता हूं' अथवा 'बुनता हूं' ऐसा शुद्ध पेशेवर कहिये या व्यावहारिक कहिये पर जीवनके भीतरसे उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम-लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्रका लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षाके लिए उन्होंने दशरथसे लड़कोंकी याचना की। उसी कामके लिए दशरथने लड़कोंको भेजा। लड़कोंमें भी यह जिम्मेवारीकी भावना थी कि हम यज्ञ रक्षण के 'काम' के लिए जाते हैं। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मणने क्या किया तो कहना होगा कि 'यज्ञ-रक्षा की'। 'शिक्षण प्राप्त किया' नहीं कहा जायगा। पर शिक्षण उन्हें मिला जो मिलना ही था।

शिक्षण कर्तव्य कर्मका आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्तव्य करता है उसे जाने-अनजाने वह मिलता ही है। लड़कोंको भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरोंको वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लड़कोंमें उतनी शक्ति नहीं आई है इसलिए उनके आस-पास ऐसा वातावरण बनाना

चाहिए कि बहुत ठोकर न खाने पायें और धीरे धीरे वे स्वावलम्बी बनें ऐसी व्यवस्था और योजना होनी चाहिए। शिक्षण धर्म है। और 'मा फलेषु कदाचन' यह मर्यादा धर्मके लिए भी लागू है—खास शिक्षणके लिए कोई धर्म करना वह भी हराम हुआ—और उसमें भी 'इदमद्य मया लब्धम्'—आज मैंने यह पाया 'इदं प्राप्स्ये'—कल यह पाऊंगा इत्यादि वासनाएं आती ही हैं। इसलिए हम 'शिक्षण-मोह' से छूटना चाहिए। इस मोहसे जो छूटा उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। माँ बीमार है उसकी सेवा करनेमें मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षणके लोभसे मुझे माताकी सेवा नहीं करनी है। यह तो मेरा पवित्र कर्तव्य है इस भावनासे मुझे माताकी सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करनेसे मेरी दूसरी चीज—जिसे मैं 'शिक्षण' समझता हूं वह—जाती है तो इस शिक्षणके नष्ट होनेके डरसे मुझे माताकी सेवा नहीं त्यागनी चाहिए।

प्राथमिक महत्त्वके जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षणमें स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षणशास्त्रियोंका इसपर यह कहना है कि वे परिश्रम शिक्षणकी दृष्टिसे ही दाखिल किये जायं पेट भरनेकी दृष्टिसे नहीं। आज 'पेट भरने' का जो विकृत अर्थ प्रचलित है, उससे डरकर यह कहा जाता है और उस हदतक यह ठीक है। पर मनुष्यको 'पेट' देनेमें ईश्वरका हेतु है। ईमानदारीसे 'पेट भरना' अगर मनुष्य जान ले तो समाजके बहुतेरे दुःख और पातक नष्ट हो ही जायं। इसीसे मनुने 'योऽर्थशुचिः स हि शुचिः' —जो आर्थिक दृष्टिसे पवित्र है वही पवित्र है यह यथार्थ उद्‌गार प्रकट किये हैं। 'अनपायविरोधेन' कैसे जियें इस विज्ञानको सारा शिक्षण कहा जाता है। अविरोधवृत्तिसे शरीर-यात्रा करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है। यह कर्तव्य करनेसे ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर यात्राके लिए उपयोगी परिश्रम करनेको ही शास्त्रकारोंने 'यज्ञ' नाम दिया है। 'उदर भरण नोहे जाणिजे यज्ञकर्म'—यह उदर-भरण नहीं है इसे यज्ञकर्म जान। वामन पण्डित का यह वचन प्रसिद्ध है। अब मैं शरीर-यात्राके लिए परिश्रम करता हूं यह भावना उचित है। शरीर यात्रासे मतलब अपने साढ़े तीन हाथके शरीरकी यात्रा न समझकर समाज

शरीरकी यात्रा यह उदार धर्म मनमें बैठना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा यानी समाजकी सेवा और इसीलिए ईश्वरकी पूजा इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और इस ईश्वर-सेवामें देह लगाना मेरा कर्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरेकमें होनी चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चोंमें भी होनी चाहिए। इसके लिए उनकी शक्तिभर उन्हें जीवनमें भाग लेनेका मौका देना चाहिए और जीवनको मुख्य केंद्र बनाकर उसके आस-पास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षणकी रचना करनी चाहिए।

इससे जीवनके दो खंड न होंगे। जीवनकी जिम्मेवारी अचानक आ पड़नेसे उत्पन्न होनेवाली अड़चन पैदा न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी पर 'शिक्षणका मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्मकी ओर प्रवृत्ति होगी।

३

कौटुम्बिक पाठशाला

विचारोंका प्रत्यक्ष जीवनसे नाता टूट जानेसे विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचार-शून्य बन जाता है। मनुष्य घरमें जीता है और मदरसेमें विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचारका मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओरसे घरमें मदरसेका प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओरसे मदरसेमें घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्रको चाहिए कि शालीन कुटुम्ब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुंबिक पाठशाला स्थापित करे।

आश्रम अथवा शिक्षकोंके घरको शिक्षाकी बुनियाद मानकर उसपर शिक्षणकी इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुंबिक शाला है। ऐसे कौटुंबिक शालाके जीवनक्रमके संबंधमें—पाठ्यक्रमको अलग रखकर—कुछ सूचनाएं इस लेखमें करनी हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ ईश्वर-निष्ठा संसारमें सार वस्तु है। इसलिए नित्यके कार्यक्रम

व दोनों वेला सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थनाका स्वरूप सब-धर्मोंकी सद्भावनासे ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासनामें एक भाग नित्यके किसी निश्चित पाठको देना चाहिए। 'सर्वेषामविरोधेन' यह नीति हो। एक प्रार्थना सबको सोनेके पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठनेपर।

२ आहार-शुद्धिका चित्त-शुद्धिसे निकट सम्बन्ध है, इसलिए आहार सात्त्विक रखना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तले हुए पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थोंका त्याग करना चाहिए। दूध और दूधसे बने पदार्थोंका मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

३ आश्रममें या दूसरे किसी रसोईघरमें रसोई नहीं बनवानी चाहिए। रसोईकी शिक्षा शिक्षाका एक अंग है। सार्वजनिक काम करनेवालेके लिए रसोईका ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी सबको यह आनी चाहिए। स्वावलम्बनका यह एक अंग है।

४ कौटुंबिक पाठशालाको अपने पाखानेका काम भी अपने हाथमें लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारणका अर्थ किसीसे छुआछूत न मानना ही नहीं, किसी भी समाजोपयोगी काममें अड़चन न करना भी है। पाखाना साफ करना अत्यन्त हीन काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छताकी अच्छी तालीम भी इसमें है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखनेका उत्तम अभ्यास है।

५ अस्पृश्योंसहित सबको मदरसेमें स्थान मिलना चाहिए, यह तो है ही, पर 'कौटुंबिक' पाठशालामें पंक्ति भेद रखना भी संभव नहीं। आहार शुद्धिका नियम रहना जरूरी है।

६ स्नानादि प्रातःकर्म सबेरे ही कर डालनेका नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य भेदसे अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठंडे पानीसे करना चाहिए।

७ प्रातःकर्मोंकी तरह सोनेके पहलेके 'सायंकर्म' भी जरूर होने चाहिए। सोनेके पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायंकर्मका आरोग्य और ब्रह्मचर्यसे सम्बन्ध है। इसीमें नियत-समय सोनेका नियम होना चाहिए।

८ विद्यार्थी शिक्षाके अधीन उद्योगपर ज्यादा ज़ोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घंटे तो उद्योगमें लगने ही चाहिए। इसके बिना अध्ययन तेजस्वी नहीं होनेका। 'कर्मातिशेषेण' अर्थात् काम करके बचे हुए समयमें वेदाध्ययन करना श्रुतिका विधान है।

९ शरीरको तीन घंटे उद्योगमें लगाने और गृहकृत्य और स्वहस्त स्नान करनेका नियम रखनेके बाद दोनों समय व्यायाम करनेकी ज़रूरत नहीं है। फिर भी एक वेला अपनी-अपनी ज़रूरतके मुताबिक खुली हवामें खेलना घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

१० कातनेको राष्ट्रीय धर्मकी प्रार्थनाकी भांति नित्यकर्ममें गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योगके समयके अलावा कम-से-कम आधा घंटा वक्त देना चाहिए। इस आधे घंटे में तकलीका उपयोग करनेसे भी काम चल जायगा। कातनेका नित्यकर्म यात्रामें या बीमारीमें भी छोड़े बिना जारी रखना हो तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकलीपर कातना तो आना ही चाहिए।

११ कपड़ेमें खादी ही बरतनी चाहिए। दूसरी चीजें भी जहांतक संभव हो स्वदेशी ही लेनी चाहिए।

१२ सेवाके सिवा दूसरे किसी भी कामके लिए रातको जागना नहीं चाहिए। बीमार आदमीकी सेवा इसमें अपवाद है। पर मौजके लिए या ज्ञान-प्राप्तिके लिए भी रातका जागरण निषिद्ध है। सोनेके लिए ढाई पहर रखने चाहिए।

१३ रातमें भोजन नहीं करना चाहिए। आरोग्य व्यवस्था और अहिंसा तीनों दृष्टियोंसे इस नियमकी आवश्यकता है।

१४ प्रचलित विषयोंमें संपूर्ण जागृति रखकर वातावरणको निर्मल रखना चाहिए।

अभ्यास अनुभवके आधारपर कौटुंबिक शालाके जीवनक्रमके बारेमें ये चौदह सूचनाएं की गई हैं। इनमें विद्यार्थी शिक्षा और औद्योगिक शिक्षाके पाठ्यक्रमके बारेमें ब्यौरा नहीं दिया गया है। राष्ट्रीय शिक्षाके विषयमें जिन्हें रस है वे इन सूचनाओंपर विचार करें।

४

राष्ट्रीय शिक्षकोंका दायित्व

एक देशसेवाभिलाषीसे किसीने पूछा, "कहिये, अपनी समझमें आप क्या काम अच्छा कर सकते हैं?"

उसने उत्तर दिया, "मेरा खयाल है, मैं केवल सिखानेका काम कर सकता हूं और उसीका शौक है।"

"यह तो ठीक है। अक्सर आदमीको जो आता है, मजबूरन उसका उसे शौक होना ही है। पर यह कहिये कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नहीं?"

"जी नहीं। दूसरा कोई काम नहीं करना आयेगा। सिर्फ सिखा सकूंगा और विश्वास है कि यह काम तो अच्छा कर सकूंगा।"

"हां-हां, अच्छा सिखानेमें क्या शक है? पर आप क्या सिखा सकते हैं? कातना, बुनना, धुनना अच्छा सिखा सकेंगे?"

"नहीं, वह नहीं सिखा सकता।"

"तब सिलाई? रंगाई? बढ़ईगिरी?"

"न, वह बिलकुल नहीं।"

"रसोई बनाना, पीसना वगैरा घरेलू काम सिखा सकेंगे?"

"नहीं, कामके मामलेमें तो मैंने कुछ किया ही नहीं। मैं केवल सिखाना..."

"भाई, जो पूछा जाता है, उसीमें 'नहीं, नहीं' कहते हो और कहे जाते हो, केवल सिखानेका काम कर सकता हूं। इसके मानी क्या हैं? बागवानी सिखा सकियेगा?"

देशसेवाभिलाषीने जरा चिढ़कर कहा, "आप क्या पूछ रहे हैं? मैंने पूर्ण रीतिसे कह दिया, मुझे दूसरा कोई काम करना नहीं आता। मैं साहित्य पढ़ा सकता हूं।"

प्रश्नकर्ताने जरा मजाकमें कहा, "ठीक कहा। अपनी आपकी बात कुछ तो समझमें आई! आप 'रामचरितमानस' जैसी पुस्तक सिखला सकते हैं?"

अब तो देशसेवाभिमानी महाशयका पारा गरम हो उठा और मुझे कुछ ऊटपटांग निकलनेको ही था कि प्रश्नकर्ता बीचमें ही बोल उठा 'शांति क्षमा तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे ?

अब तो हद होगई। आगमें जैसे मिट्टीका तेल डाल दिया हो। वह उबार खूब जोरसे भभकता लेकिन प्रश्नकर्ताने तुरंत उसे पानी डालकर बुझा दिया—"मैं आपकी बात समझा। आप लिखना-पढ़ना आदि सिखा सकेंगे और इसका भी जीवनमें थोड़ा-सा उपयोग है बिल्कुल न हो ऐसा नहीं है। और आप बुनाई सीखनेको तैयार हैं ?

"अब कोई नई चीज सीखनेका हौसला नहीं है और तिसपर बुनाईका काम तो मुझे आनेका ही नहीं क्योंकि आजतक हाथको ऐसी कोई आदत ही नहीं।

"माना इस कारण सीखनेमें कुछ ज्यादा वक्त लगेगा लेकिन इसमें न आनेकी क्या बात है ?

"मैं तो समझता हूं नहीं ही आयेगा। पर मान लीजिए बड़ी मेहनत से आया भी तो मुझे इसमें बड़ा झंझट मालूम होता है। इसलिए मुझसे यह नहीं होगा यही समझिये।

"ठीक जैसे लिखना सिखानेको तैयार हैं वैसे खुद लिखनेका काम कर सकते हैं ?

"हां जरूर कर सकता हूं। लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे लिखते रहनेका काम भी है झंझटी फिर भी उसके करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

यह बातचीत यहीं समाप्त होगई। नतीजा इसका क्या हुआ यह जानकारी हमें जरूरत नहीं।

शिक्षकोंकी मनोवृत्ति समझनेके लिए यह बातचीत काफी है। शिक्षक यानी—

लिखना पढ़ना भी जीवनोपयोगी शिक्षाभिमानी पुरुष

कोई नई कामकी चीज सीखनेमें स्वभावतः असमर्थ हो गया है

शिक्षाभिमानके लड़नेके लिए बनाया हुआ

सिर्फ लिखना या बकबक करनेवाला पुस्तकोंमें पला हुआ आलसी जीव

'सिर्फ शिक्षण' का मतलब है जीवनसे तोड़कर बिठाया हुआ मुर्दा शिक्षण और शिक्षकके मानी 'मृत-जीवी' मनुष्य।

'मृत-जीवी' को ही कोई-कोई बुद्धि-जीवी कहते हैं। पर यह है वाणीका व्यभिचार। बुद्धि-जीवी कौन है? कोई गौतम बुद्ध कोई सुकरात शंकराचार्य अथवा ज्ञानेश्वर बुद्ध-जीवनकी ज्योति जगाकर दिखाते हैं। 'गीता' में बुद्धि-ग्राह्य जीवनका अर्थ अतीन्द्रिय जीवन बतलाया है। जो इन्द्रियोंका गुलाम है, या देहासक्तिका मारा हुआ है, वह बुद्धि-जीवी नहीं है। बुद्धिका पति आत्मा है। उसे छोड़कर जो बुद्धि देहके द्वारकी दासी हो गई वह बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धिका जीवन ही मरण है। और उसे जीनेवाला मृत-जीवी। सिर्फ शिक्षणपर जीनेवाले जीव विशेष अर्थमें मृत जीवी हैं। सिर्फ शिक्षणपर जीनेवालोंको मनुने 'भृतकाध्यापक' उर्फ 'वेतन-भोगी शिक्षक' नाम देकर श्राद्धके काममें उनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्धमें तो मृत पूर्वजोंकी स्मृतिको जिंदा करना रहता है और जिन्होंने प्रत्यक्ष जीवनको मृत कर दिखाया है, उनका इस काममें क्या उपयोग?

शिक्षकोंको पहले आचार्य कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान्। स्वयं आदर्श जीवनका आचरण करते हुए राष्ट्रसे उसका आचरण करा लेनेवाला आचार्य है। ऐसे आचार्योंके पुरुषार्थसे ही राष्ट्रका निर्माण हुआ है। आज हिन्दुस्तानकी नई तह बैठनी है। राष्ट्र-निर्माणका काम आज हमारे सामने है। आचारवान् शिक्षकोंके बिना यह सम्भव नहीं है।

अभी तो राष्ट्रीय शिक्षणका प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और व्याप्ति हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्रका सुशिक्षित वर्ग निर्वीर्य और निष्क्रिय होता जा रहा है। इसका कारण राष्ट्रीय शिक्षणकी आज न्यूनता ही है।

पर यह अग्नि होनी चाहिए। अग्निकी दो पत्नियां मानी गई हैं। एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों पत्नियां जहां हैं वहां अग्नि है। 'स्वाहा' के मानी हैं आत्माहुति देनेकी आत्मत्यागकी शक्ति और 'स्वधा' के मानी हैं आत्म-धारणकी शक्ति। ये दोनों शक्तियां राष्ट्र-शिक्षणमें जागन

होनी चाहिए। इन शक्तियोंके होनेपर ही वह राष्ट्रीय शिक्षक कहलायेगा। बाकी सब मृत—निर्जीव—है, कोरा शिक्षण।

ऊपर ऊपरसे दिखाई देता है कि अबतक हमारे राष्ट्रीय शिक्षकोंने बड़ा आत्मत्याग किया है पर वह उतना सही नहीं है। फुटकर स्वार्थ-त्याग अथवा गर्भित त्यागके माने आत्मत्याग नहीं है। उसकी कसौटी भी है। जहां आत्मत्यागकी शक्ति होगी वहां आत्मधारणकी शक्ति भी होती है। न हुई तो त्याग कोई क्योंकर करता ? जो आत्मा अपनेको बचा ही नहीं रख सकता वह करेगा कैसे ? मतलब आत्मत्यागकी शक्तिमें आत्मधारण पहलेसे शामिल ही है। यह आत्मधारणकी शक्ति स्वयं राष्ट्रीय शिक्षकोंने अभीतक सिद्ध नहीं की है। इसलिए आत्मत्याग करनेका जो आभास हुआ वह आभास मात्र ही है।

पहले स्वधा होगी उसके बाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षण की अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षकोंको अब स्वधा-आराधनकी तैयारी करनी चाहिए।

शिक्षकोंको केवल शिक्षण की भ्रामक कल्पना छोड़कर स्वतंत्र जीवन की जिम्मेदारी—जैसी विद्यार्थियोंपर होती है वैसी—अपने ऊपर लेनी चाहिए और विद्यार्थियोंको भी उसीमें दायित्वपूर्ण भाग देकर उनके चारों ओर शिक्षणकी रचना करनी चाहिए, अथवा अपने-आप होने देनी चाहिए। 'गुरोः कर्मातिशेषेण' इस वाक्यका अर्थ 'गुरुके काम पूरे करके वेदाभ्यास करना' यही ठीक है नहीं तो गुरुकी व्यक्तिगत सेवा—इतना ही अगर 'गुरोः कर्म' का अर्थ लें तो गुरुकी सेवा आखिर कितनी होगी ? और उसके लिए कितने पढ़वैया ? कितना काम करनेको रहेगा ? इसलिए 'गुरोः कर्म' करनेके माने हैं गुरुके जीवन की जिम्मेदारीमें हिस्सा लेना। ऐसा दायित्वपूर्ण भाग लेकर उसमें जो सवाल अनेक पैदा हों उन्हें पूछे और गुरुको भी चाहिए कि अपने जीवनकी जिम्मेदारी निबाहते हुए और प्रश्नोंको एक एक समझकर उनका यथाशक्ति उत्तर दिया जाय। यह शिक्षणका स्वरूप है। इसीमें थोड़ा स्वतंत्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यासके लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वरकी उपासना ही हो पर वैसा करते भी कुछ एक थोड़ा समय उपासनाके लिए देना पड़ता है। इसी प्रकार वेदाभ्यास अथवा [illegible] लागू करना चाहिए। मतलब बोधको

जिम्मेदारीके काम ही शिक्षके मुख्य भागमें करने चाहिए और उन सभीको शिक्षणका ही काम समझना चाहिए। साथ ही रोज एक-दो घंटे (period) 'शिक्षणके निमित्त' भी देना चाहिए।

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवन में उतारना राष्ट्रीय शिक्षकका कर्तव्य है। यह कर्तव्य करते रहनेसे उसके जीवनमें अपने आप उसके आस-पास शिक्षाकी किरणें फैलेंगी और उन किरणोंके प्रभावसे आस-पासके वातावरणका काम अपने-आप हो जायगा। इस प्रकारका शिक्षक स्वतः सिद्ध शिक्षण-केंद्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षा पाना है।

मनुष्यको पवित्र जीवन बितानेकी फिक्र करनी चाहिए। शिक्षणकी असरदारी रखनेके लिए वह जीवन ही समर्थ है। उसके लिए 'केवल शिक्षण' की हवस रखनेकी जरूरत नहीं।

५

तेजस्वी विद्या

जब मैं अपनेको विद्यार्थियोंमें पाता हूं तो मुझे बहुत खुशी होती है। इसका कारण यह है कि आपकी और मेरी जाति एक है। आप विद्यार्थी हैं और मैं भी विद्यार्थी हूं। हर रोज कुछ-न-कुछ नया ज्ञान हासिल कर ही लेता हूं।

युनिवर्सिटीमें रहकर आप ज्ञान कुछ ज्ञान कमाते हैं और समझते हैं कि यह ज्ञान आपका अपने भावी जीवनमें काम पहुंचायेगा। वास्तवमें जहां युनिवर्सिटीका ज्ञान खतम होता है वहां शिक्षाका आरंभ होता है। युनिवर्सिटीका अध्ययन पूरा करनेका अर्थ इतना ही है कि अब आप अपने अमलमें विद्या प्राप्त कर सकते हैं। आप विद्याधार बनें, विद्याभार न रहें।

आप बाल्यावस्थामें हैं। बाल-वयकी आपको प्राप्त है। बाल तो वह होता है जो बलवान् है, जो मानता है कि यह सारी दुनिया मेरे हाथमें

मिट्टी-जैसी है, उसकी जो भी चीज मैं बनाना चाहूँगा बना लूँगा। सारांश यह कि आपको अपनी बुद्धि स्वतन्त्र रखनी चाहिए।

विद्यार्थियोंके बारेमें मेरी यह शिकायत है कि उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक किसी बातपर सोचने ही नहीं दिया जाता। आजतक हर हुकूमत (स्टेट) की यह कोशिश रही है कि बने-बनाये विचार विद्यार्थियोंके दिमागमें ठूँस दिये जायें फिर चाहे वह स्टेट सोशलिस्ट (समाजवादी) हो कम्युनिस्ट (साम्यवादी) हो कम्यूनलिस्ट (साम्प्रदायिकतावादी) हो या और भी कोई इष्ट या अनिष्ट हो। लेकिन यह तरीका गलत है। एक जमाना था जब हमारे गुरु विद्यार्थियोंको पूरा विचार-स्वातन्त्र्य देते थे। वे अपने शिष्योंसे कहते कि हमारे दोषोंका नहीं अच्छी बातोंका ही अनुसरण करो। गुरुको तो अपने उस शिष्यपर अभिमान होना चाहिए, जो सोच-समझकर विचारपूर्वक गुरुकी बातको माननेसे इनकार कर देता है। आजकल तो जो पढ़ाता है अपनी ही बात मनवाना चाहता है। विद्यार्थियोंके लिए यह एक बहुत बड़ा खतरा है। मानो ये लोग विद्यार्थियोंका यन्त्रीकरण ही करना चाहते हैं। आपको ऐसे किसी खतरेका शिकार नहीं बनना चाहिए। आपको पन्थ बनना है पथ नहीं बनना है। सन्त वह है जो मार्गका उद्घाटन करता है और पथ वह है जो किसी बने-बनाये पथपर बढ़ता जाता है। आप लोग अलग अलग यूनियनें बनाते हैं। इन यूनियनोंमें रहनेके लिए एक खास विचार प्रणालीका अनुसरण जरूरी होता है? मैं जानना चाहता हूँ किसीका कभी कोई यूनियन बनता है क्या? यूनियन तो भेड़ोंका बनता है। मेरा मतलब यह नहीं कि [illegible] ही नहीं करना है। अच्छी बातका [illegible] करना है। लेकिन विचारोंको स्वतन्त्र रखना है और [illegible] के लिए उनमें आवश्यक परिवर्तन करनेको सदा तैयार रहना है। हम [illegible] कहते हैं और [illegible] नहीं जानता है।

[illegible] के लिए एक और जरूरी बात है नम्रता। मैं [illegible] हूँ। [illegible] है। उसपर मेरा जोर होना चाहिए। विद्यार्थी [illegible] आपको [illegible] महान् विद्या [illegible] देती है। जब आप

समयकी शक्तिका संग्रह कर लेंगे तो एकाग्रता भी जो जीवनकी एक महान् शक्ति है, पा लेंगे।

आप आंख और पांवका भेद समझें। आंख सारी दुनियाके निरीक्षणके लिए खुली होनी चाहिए। उसको सर्व-संचारकी पूरी आजादी होनी चाहिए। लेकिन पांव तो नियत मार्गपर चलने चाहिए। तभी प्रवास होगा। बारिशका सारा पानी अलग-अलग दिशाओंमें बह-बहा जाय तो नदी नहीं बनेगी। नदी बननेके लिए नियत दिशा चाहिए। संयम की शक्ति इस दृष्टान्तसे समझ लीजियेगा।

एक बार मुझे विद्यार्थियोंके 'उत्तम उत्साही मण्डल' में जाना पड़ा। मैंने कहा कि उत्साही मण्डल तो बूढ़ोंके होने चाहिए। जिस राष्ट्रको अपने विद्यार्थियोंको उत्साहित करनेकी जरूरत पड़ती है, वह राष्ट्र तो काल ही हुआ समझिये। तरुणोंको धृतिकी आवश्यकता है। उसीसे उत्साह टिकता और कारगर होता है। जैसे गीतामें कहा है कि धृति और उत्साह मिलकर कर्मयोग बनता है। आपको कर्मयोगी बनना है।

एक सवाल हर वक्त पूछा जाता है कि विद्यार्थियोंको राजनीतिमें भाग लेना चाहिए या नहीं। विद्यार्थियोंको राजनीतिमें प्रवीण बनना है। हर जमात उनको चापलूस रहकर अपनी नीति निश्चित करती है। राजनीतिमें विद्यार्थी साक्षी और तटस्थ बनकर रहें। हम तटस्थ उसे कहते हैं, जिसकी आंख सारी दुनियापर रहती है। विद्यार्थी-दशामें आप जीवनसे सम्बन्धित सारे प्रश्नोंपर तटस्थकी भूमिकासे निरीक्षण-परीक्षण करते रहें और अपने निर्णय बनाते रहें। समय आनेपर उनपर अमल करें।

कर्मयोगी बननेके लिए विद्यार्थियोंको कुछ-न-कुछ निर्माण-कार्य करते रहना चाहिए। निर्माणके बिना निश्चयात्मक ज्ञान भी नहीं होता। प्रयोगोंसे प्राप्त ज्ञान ही निश्चयात्मक ज्ञान होता है। मैं विद्यार्थियोंसे पूछता हूं "आप लोग रोटी बनाना जानते हैं?" वे कहते हैं, "नहीं हम तो सिर्फ खाना जानते हैं। रोटी पकाना तो लड़कियोंका काम है।" रोटी पकाना अगर लड़कियोंका काम है तो रोटी खाना भी लड़कियोंका ही काम रहने दीजिये। इसके लिए 'ज्ञानामृत भोजन' रद्द कीजिये। जिन लोगोंने लड़कियों और लड़कोंके

कार्योंको इस तरह विभाजित किया उन्होंने दोनोंको गुलाम बनानेका तरीका ढूंढ निकाला है और मानवको पुरुषार्थ-हीन बनाया है।

श्रीकृष्ण बचपनमें हाथोंसे काम करता था मेहनत-मजदूरी करता था। इसीलिए गीतामें इतनी स्वतन्त्र प्रतिभाका दर्शन हमें होता है। हमें ढेर-की ढेर विद्या हासिल नहीं करनी है। तेजस्वी विद्या हासिल करनी है। जिस विद्यामें कर्तृत्व-शक्ति नहीं स्वतंत्र रूपसे सोचनेकी बुद्धि नहीं खतरा उठानेकी वृत्ति नहीं वह विद्या निस्तेज है। मैं चाहता हूं कि आप सब तेजस्वी विद्या प्राप्त करनेकी वृत्ति रखें।

६

नई शिक्षा प्रणालीका आधार

'ब्रेड लेबर' के मानी हैं 'रोटीके लिए मजदूरी'। यह शब्द आपमेंसे कई लोगोंने नया ही सुना होगा। लेकिन यह नया नहीं है। टॉल्स्टॉयने इस शब्दका उपयोग किया है। उन्होंने भी यह शब्द बॉन्डरेफ नामक एक लेखकके निबंधोंसे लिया और अपनी उत्तम लेखन-शैली द्वारा उसको दुनियाके सामने रख दिया। इस विषयपर विचार ही नहीं बल्कि वैसा ही आचार करनेकी कोशिश भी मैं लगातार करता आ रहा हूं क्योंकि जीवनमें और खास-कर शिक्षणमें भी शरीर-श्रमको मैं प्रथम स्थान देता हूं।

हम जानते हैं कि हिन्दुस्तानकी आबादी पैंतीस करोड़ है और चीनकी चालीस-पैंतालीस करोड़। ये दोनों राष्ट्र प्राचीन हैं। इन दोनोंको मिला लिया जाय तो कुल आबादी अस्सी करोड़ हो जाती है। इतनी जनसंख्या दुनियाका सबसे बड़ा और महत्वका हिस्सा हो जाता है। और यह भी हम जानते हैं कि यही दोनों देश आज दुनियामें सबसे ज्यादा दुखी, गरीब और दीन हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनों मुल्कोंके पूर्वजोंने जो आदर्श अपने सामने रखा था उसका पूरा अनुसरण इन्होंने नहीं किया और आलस्यके

धर्मने उस वृत्तिको कभी स्वीकार ही नहीं किया। मेरे कहने का मतलब यह है कि हिन्दुस्तानमें शरीर-श्रमको जीवनमें प्रथम स्थान दिया गया था और उसके साथ यह भी निश्चित किया गया था कि वह परिश्रम चाहे जिस प्रकार का हो कातनेका हो बढ़ईका हो रसोई बनानेका हो सबका मूल्य एक ही है। भगवद्गीता में यह बात साफ शब्दोंमें लिखी है। ब्राह्मण हो क्षत्रिय हो वैश्य हो या शूद्र हो किसीको चाहे जितना छोटा या बड़ा काम मिला हो मगर उसने उस कामको अच्छी तरह किया है तो उस व्यक्तिको संपूर्ण मोक्ष मिल जाता है। अब उससे अधिक कुछ कहना बाकी नहीं रह जाता। मतलब यह है कि हरेक उपयुक्त परिश्रमका नैतिक सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है। इस प्राचीन धर्मका आचरण तो हमने किया नहीं पर एक बड़ा भारी शूद्रवर्ग निर्माण कर दिया। शूद्रवर्ग यानी मजदूरी करनेवाला वर्ग। यहां जितना बड़ा शूद्रवर्ग है, उतना बड़ा शायद ही किसी दूसरी जगह हो। हमने उससे अधिक-से-अधिक मजदूरी करवाई और उसको कम-से-कम खानेको दिया। उसका सामाजिक दर्जा हीन समझा। उसे कुछ भी शिक्षा नहीं दी। इतना ही नहीं उसे अछूत भी बना दिया। नतीजा यह हुआ कि कारीगरवर्गमें ज्ञानका पूरा अभाव हो गया। वह पशुके समान केवल मजदूरी ही करता रहा।

प्राचीन कालमें हमारे यहां कला कम नहीं थी। लेकिन पूर्वजोंसे मिलने वाली कला एक बात है और उसमें दिन-प्रतिदिन प्रगति करना दूसरी बात। आज भी काफी प्राचीन कारीगरी मौजूद है। उसको देखकर हमें आश्चर्य होता है। अपनी प्राचीन कलाको देखकर हमें आश्चर्य होता है यही सबसे बड़ा आश्चर्य है। आश्चर्य करनेका प्रसंग हमारे सामने क्यों आना चाहिए? उन्हीं पूर्वजोंकी तो हम सन्तान हैं न? तब तो उनसे बढ़कर हमारी कला होनी चाहिए। लेकिन आज आश्चर्य करनेके सिवा हमारे हाथमें और कुछ नहीं रहा। यह कैसे हुआ? कारीगरोंमें ज्ञानका अभाव और ज्ञानमें परिश्रम-निष्ठाका अभाव ही इसका कारण है।

प्राचीन कालमें ब्राह्मण और शूद्रकी समान प्रतिष्ठा थी। जो ब्राह्मण था वह विचार-प्रवर्तक तत्त्वज्ञानी और तपश्चर्या करनेवाला था। जो किसान था वह ईमानदारीसे अपनी मजदूरी करता था। आज काम छोड़कर

भगवान्‌का स्मरण करके सूर्यनारायणके उदयके साथ खेतमें काम करने चला जाता था और सायंकाल सूर्य भगवान् जब अपनी किरणों को समेट लेते तब उनको नमस्कार करके घर वापस आता था। ब्राह्मण और इस किसानमें कुछ भी सामाजिक आर्थिक या नैतिक भेद नहीं माना जाता था।

हम जानते हैं कि पुराने ब्राह्मण 'उदर-पात्र' होते थे यानी उतना ही संचय करते थे जितना कि पेटमें समाता था। मतलब उनका अपरिग्रही आचरण था। आजकी भाषामें कहना हो तो ज्यादा-से-ज्यादा काम देते थे और बदलेमें कम-से-कम वेतन लेते थे। यह बात प्राचीन इतिहाससे हम जान सकते हैं। लेकिन बादमें ऊंच-नीचका भेद पैदा हो गया। कम-से-कम मजदूरी करनेवाला ऊंची श्रेणीका और हर तरहकी मजदूरी करनेवाला नीची श्रेणीका माना गया। उसकी योग्यता कम उसे जाननेके लिए कम और उसकी प्रगति ज्ञान प्राप्त करनेकी व्यवस्था भी कम।

प्राचीनकालमें न्यायशास्त्र व्याकरणशास्त्र वेदान्तशास्त्र इत्यादि शास्त्रोंके अध्ययनका जिक्र हम सुनते हैं। गणितशास्त्र वैद्यकशास्त्र ज्योतिष शास्त्र इत्यादि शास्त्रोंकी पाठशालाओंका जिक्र भी आता है। लेकिन उद्योगशालाका उल्लेख कहीं नहीं पाया है। इसका कारण यह है कि हम वर्णाश्रमधर्म माननेवाले थे इसलिए हरेक जातिका धंधा उस जातिके लोगोंके घर परम्परा चलता था और इस तरह हरेक घर उद्योगशाला था। कुम्हार हो या बढ़ई उसके घर में बच्चोंको बचपन हीसे उस धंधेकी शिक्षा अपने पितासे मिल जाती थी। उसके लिए अलग प्रबंध करनेकी आवश्यकता न थी। लेकिन बादमें क्या हुआ कि एक ओर हमने यह मान लिया कि विद्याका ही अध्ययन करना चाहिए और दूसरी ओर बाहरसे आया हुआ माल सस्ता मिलने लगा इसलिए उसीको खरीदने लगे। मुझे कभी-कभी ऐसे भाइयोंसे बातचीत करनेका मौका मिल जाता है। मैं उनसे कहता हूं कि वर्णाश्रम-धर्म नष्ट हो रहा है इसका अगर आपको दुःख है तो कम-से-कम स्वदेशी वस्त्रका तो पालन कीजिये। कुम्हारसे तो मैं पूछता कि अपने बापका धंधा करना तुम्हारा धर्म है लेकिन जुलाहेका बनाया हुआ कपड़ा मैं नहीं लूंगा तो वर्णाश्रम-धर्म कैसे टिक सकता है? हमारी इस कारण उद्योग गया और उद्योगके साथ उदारता भी गई। इसका

कारण यह है कि हमने शरीर-श्रमको गौण मान लिया। जो आदमी कम-से-कम परिश्रम करता है वही आज सबसे अधिक बुद्धिमान और प्रतिष्ठित माना जाता है।

किसीने कहा, "अब विनोबाजी किसान-जैसे दीखते हैं।" तो दूसरेने कहा, "लेकिन जबतक उनकी धोती सफेद है तबतक वह पूरे किसान नहीं हैं।" इस वचनमें एक मर्म था। खेती और स्वच्छ धोतीकी अदावत है, इस बातमें दम है। जो अपनेको ऊपरकी श्रेणीवाले समझते हैं उनको यह अभिमान होता है कि हम बड़े साफ रहते हैं। हमारे कपड़े बिल्कुल सफेद बगलेके पर जैसे होते हैं। लेकिन उनका यह सफाईका अभिमान मिथ्या और कृत्रिम है। उनके शरीरकी डाक्टरी जांच—मैं मानसिक जांचकी तो बात ही छोड़ देता हूं—की जाय और हमारे परिश्रम करनेवाले मजदूरोंके शरीरकी भी जांच की जाय और दोनों परीक्षाओंकी रिपोर्ट डाक्टर पेश करके कह दे कि कौन ज्यादा साफ है। हम लोटा मलते हैं तो बाहरसे। उसमें अपना मुंह देख लीजिये। लेकिन अंदरसे उसे मलनेकी जरूरत ही नहीं जान पड़ती। हमारे लिए अंदरकी मरम्मत ही नहीं होती। हमारी स्वच्छता केवल बाहरी और दिखावटी होती है। हमें शंका होती है कि खेतीकी मिट्टीमें काम करनेवाला किसान कैसे साफ रह सकता है। लेकिन मिट्टीमें या खेतमें काम करनेवाले किसानके कपड़े पर मिट्टीका रंग लगता है, वह मैल नहीं है। सफेद कमीजके बदले किसीने लाल कमीज पहन लिया तो उसे रंगीन कपड़ा समझते हैं। वैसेही मिट्टी-का भी एक प्रकारका रंग होता है। रंग और मैलमें काफी फर्क है। मैलमें जन्तु होते हैं, पसीना होता है, उसकी बदबू आती है। मृत्तिका तो 'पुण्यगन्ध' होती है। गीतामें लिखा है, 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च'। मिट्टीका शरीर है, मिट्टीमें ही मिल जाता है। उसी मिट्टीका रंग किसानके कपड़ेपर है। तब वह मैला कैसे हुआ।

अपनी उच्चारण पद्धतिका भी हमें ऐसा ही मिथ्या अभिमान है। देहाती लोग जो उच्चारण करते हैं उसे हम अशुद्ध मानते हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि साधारण जनता जो वाणी बोलती है वही व्याकरण है। तुलसीदासजीने रामायण आम जनताके लिए लिखी। वह जानते थे कि देहाती

लोग 'ष' 'श' और 'स' के उच्चारणमें फर्क नहीं करते। ग्राम लोगोंकी जबानमें लिखनेके लिए उन्होंने रामायणमें सब जगह 'स' ही लिखा। वह अमर हो गये। उनको तो ग्राम लोगोंको रामायण सिखानी थी तो फिर उच्चारण भी उन्हींका होना चाहिए।

हममेंसे कोई गीतापाठ, भजन और जप करता है या कोई उपनिषद् कंठ कर लेता है तो वह बड़ा भारी महात्मा बन जाता है। जप सन्ध्या पूजा-पाठ ही धर्म माना जाता है। लेकिन श्रम सत्य परिश्रममें हमारी श्रद्धा नहीं होती। जो धर्म बेकार, निकम्मा अनुत्पादक हो उसीको हम अच्छा धर्म मानते हैं। जिससे पैदावार होती है वह अच्छा धर्म कैसे हो सकता है? भक्ति और उत्पत्तिका भी कहीं मेल हो सकता है? लेकिन वेद मंत्रमें हम पढ़ते हैं "जिसकी उत्पत्ति करनेवालोंको पूज्य मानि अर्पण करो। उसने जिसकी सृष्टिका रास्ता दिया उसका अनुसरण करो।" लेकिन हमारी आजकी व्यवस्था इससे उल्टी है। एक ब्राह्मण खेतमें जोतनेका काम कर रहा है या हल चला रहा है ऐसी तस्वीर अगर किसीने खींच दी तो वह तस्वीर खींचनेवाला पागल समझा जायगा। "क्या ब्राह्मण भी मजदूरके जैसा काम कर सकता है?" यह सवाल हमारे यहाँ उठ सकता है। "क्या तत्त्वज्ञानी भी कर सकता है?" यह सवाल नहीं उठता। वह पढ़नेसे आ सकता है। ब्राह्मणको खिलाना ही तो हम अपना धर्म समझते हैं उसीको पुण्य मानते हैं।

हिन्दुस्तानकी संस्कृति इस तरह गिर गई। इसी कारणसे बाहरके लोगोंने इन ऊपरी लोगोंको हटाकर हिन्दुस्तानको जीत लिया। बाहरके लोगोंने आक्रमण क्यों किया? परिश्रमसे छुटकारा पानेके लिए। इसीलिए उन्होंने बड़े-बड़े मशीनोंकी खोज की। शरीर-श्रम बचा-बचा करके बचे हुए समयको भोग और आराम करनेकी उनकी दृष्टि है। इसका नतीजा आज यह हुआ है कि हरेक राष्ट्र एक मशीनोंका उत्पादन करने लग गया है। यहाँकी मशीन जितना निकम्मी उतनी दुश्मन नहीं थी जितना दूसरोंके पास मशीन नहीं थी। मशीनसे सम्पत्ति और सुख तभी तक मिला जबतक दूसरोंने मशीनका उपयोग नहीं किया था। होनेके बाद मशीन या आखिर गायब हो गई।

आज यूरोप एक बड़ा 'चिड़ियाखाना' ही बन गया है। जानवरोंकी तरह हरेक अपने अलग-अलग पिंजड़ेमें पड़ा है और पड़ा-पड़ा सोच रहा है कि एक-दूसरेको कैसे खा जाऊं, क्योंकि वह अपने हाथोंसे कोई काम करना नहीं चाहता। हमारे सुधारक लोग कहते हैं हाथोंसे काम करना बड़ा भारी कष्ट है, उससे किसी-न-किसी तरकीबसे छूट सके तो बड़ा अच्छा हो। अगर दो घंटे काम करके पेट भर सकें तो तीन घंटे क्यों करें? अगर आठ घंटे काम करेंगे तो कब साहित्य पढ़ेंगे और कब संगीत होगा? कलाके लिए वक्त ही नहीं बचता।

भर्तृहरिने लिखा है "साहित्यसंगीत कलाविहीन: साक्षात्पशु: पुच्छविषाणहीन:"—जो साहित्य-संगीत-कलासे विहीन है वह बिना पुच्छविषाण (पूंछ और सींग) का पशु है। मैं कहता हूं—ठीक है साहित्य संगीत-कला विहीन अगर पुच्छविषाणहीन पशु है, तो साहित्य-संगीत कलावाला पुच्छविषाणवाला पशु है। भर्तृहरिके लिखनेका मतलब क्या था वह तो मैं नहीं जानता लेकिन उसपरसे मुझे यह अर्थ सूझ गया। दूसरे एक पंडितने लिखा है "काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"—बुद्धिमान् लोगोंका समय काव्य-शास्त्र विनोदमें कटता है। मानो उनका समय कटता ही नहीं मानो वह उन्हें खानेके लिए उनके दरवाजेपर खड़ा है काल तो खाने ही वाला है। उसके खानेकी चिंता क्यों करते हो? वह सार्थक कैसे होगा यह देखो। शरीर-श्रमको दुःख क्यों मान लिया है यही मेरी समझमें नहीं आता। आनन्द और सुखका जो साधन है उसीको कष्ट माना जाता है।

एक अमरीकन धीमानसे किसीने पूछा 'दुनियामें सबसे अधिक बलवान कौन है?' उसने जवाब दिया "जिसकी पाचनेंद्रिय अच्छी है, वह।" उसका कहना ठीक है। संपत्ति खूब पड़ी है। लेकिन खूब भी हजम करनेकी ताकत जिसमें नहीं है उसको उस संपत्तिसे क्या लाभ? और पाचनशक्ति कैसे मजबूत होगी? काव्यशास्त्रसे तो 'कालो गच्छति'। उसमें पाचनशक्ति थोड़े ही मजबूत होनेवाली है। पाचनेंद्रिय तो व्यायामसे परिश्रमसे मजबूत होती है। लेकिन आजकल व्यायाम भी पंद्रह मिनटका निकला है। मैंने एक किताब देखी— 'फिफ्टीन मिनिट्स एक्सरसाइज'।

ऐसे व्यायामसे दीर्घायुषी बनेंगे या अल्पायुषी इसकी चिन्ता ही नहीं होती। सैंडो भी जल्दी ही मर गया। इन लोगोंने व्यायामका शास्त्र भी हिंसक बना रखा है। तीन मिनटमें एकदम व्यायाम हो जाना चाहिए। जल्दी-से जल्दी उससे निपटकर काम्यशास्त्रमें कैसे लग जायं यही फिक्र है। थोड़े ही समयमें एकदम व्यायाम करनेकी जो पद्धति है उससे स्नायु बनते हैं, नसें नहीं बनतीं। और अमरबेल जिस प्रकार पनपती जा जाती है वैसे ही स्नायु आरोग्यको खा जाते हैं। नसें आरोग्यको बढ़ाती हैं। धीरे-धीरे और सतत जो व्यायाम मिलता है उससे नसें बनती हैं और पाचनेंद्रिय मजबूत होती है। चौबीस घण्टे हम लगातार हवा लेते हैं लेकिन अगर हम यह सोचने लगें कि दिनभर हवा लेनेकी यह तकलीफ क्यों उठायें दो घण्टेमें ही दिनभरकी पूरी हवा मिल जाय तो अच्छा हो तो यही कहना पड़ेगा कि हमारी संस्कृति आखिरी दर्जेतक पहुंच गई है। हमारा दिमाग इसी तरहसे चलता है। पढ़ते-पढ़ते आंख बिगड़ जाती है तो हम ऐनक लगा लेते हैं लेकिन आंखें न बिगड़ें इसका कोई तरीका नहीं निकालते।

हमारा स्वास्थ्य बिगड़ गया है मेदमान बढ़ गया है और हमपर बाहरके लोगोंका आक्रमण हुआ है—इस सबका कारण यही है कि हमने परिश्रम छोड़ दिया है।

यह तो हुआ जीवनकी दृष्टिसे। अब शिक्षणकी दृष्टिसे परिश्रमका विचार करना है।

हमने शिक्षणकी जो नई प्रणाली बनाई है उसका आधार उद्योग है क्योंकि हम जानते हैं कि शरीरके साथ मनका निकट सम्बन्ध है। आज कल मनोविज्ञानका अध्ययन करनेवाले हमें बहुत दिखाई देते हैं। पर बेचारोंको खुद अपना काम क्रोध जीतनेका तरीका मालूम नहीं होता। मनके बारेमें इधर-उधरकी किताब पढ़-पढ़कर दो चार बात कर सकते हैं। चौदह सालके बाद मनुष्यके मनमें एकाएक परिवर्तन होता है। इसलिए चौदह सालतक लड़कोंकी पढ़ाई होनी चाहिए यह सिद्धान्त एक मानसशास्त्रीने मुझे सुनाया। सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा "क्या मनमें परिवर्तन होनेका भी कोई वर्ष होता है? हम देखते हैं कि शरीर धीरे-धीरे बढ़ता है। किसी एक दिन एकदम दो फुट ऊंचा हो गया हो

ऐसा नहीं होता। तो फिर मनमें ही एकदम परिवर्तन कैसे हो सकता है? बादमें मैंने उनको समझाया कि हड्डियां चौदह सालके बाद जरा तेजीसे बढ़ती हैं और मनका शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे दिमाग भी उसी हिसाबसे तेजीसे विकसित होता है। शरीर और मन दोनों एक ही प्रकृतिके एक ही कोटिमें आते हैं।

कार्लाइल एक भारी तत्त्ववेत्ता और विचारक था। उसके ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते कई जगह कुछ ऐसे विचार आ जाते थे जो मेरे विचारोंसे मेल नहीं खाते थे। अन्य आचार्योंका जैसा सीधा सरल विचार-प्रवाह मालूम होता है वैसा उसके लेखोंमें नहीं दीखता। उसका चरित्र बादमें मुझे पढ़नेको मिला। उससे मुझे मालूम हुआ कि कार्लाइलको सिरके दर्दकी बीमारी थी। तब मुझे उसके लेखन-दोषका कारण मिल गया। मैंने सोचा कि जिस समय उसका सिर दर्द करता होगा उस समयका उसका चिन्तन कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता होगा। योगशास्त्रमें तो मन शुद्धिके लिए प्रथम शरीर-शुद्धि बतलाई गई है। हमारे शिक्षण-शास्त्रका भी आधार वही है। शरीर-शुद्धिके साथ मनःशुद्धि होती है। लड़कोंकी मनःशुद्धि करनी है, उनको शिक्षा देनी है, तो शारीरिक श्रम कराके उनकी भूख जाग्रत करनी चाहिए।

परिश्रमसे उनकी भूख बढ़ेगी। जिसको दिनभरमें तीन बार अच्छी भूख लगती है उसे अधिक धार्मिक समझना चाहिए। भूख लगना जिन्दा मनुष्यका धर्म है। जिसे दिनभरमें एक ही दफा भूख लगती है सम्भवतः उसका जीवन अनीतिमय होगा। भूख तो भगवान्‌का सन्देश है। भूख न होती तो दुनिया बिलकुल अनीतिमय और अधार्मिक बन जाती। फिर नैतिक प्रेरणा ही हमारे अन्दर न होती। किसीको भी भूख-प्यास अगर न लगती तो हमें अतिथि-सत्कारका मौका कैसे मिलता। सामने यह बच्चा खड़ा है। उसका हम क्या सत्कार करेंगे? हमको न भूख है न प्यास। हमें भूख लगती है इसलिए हमारे पास धर्म है।

लड़कोंसे परिश्रम लेना है तो शिक्षकको भी उनके साथ परिश्रम करना चाहिए। क्लासमें झाड़ लगाना होता है, लेकिन इसके लिए या तो नौकर रखे जाते हैं या लड़के झाड़ लगाते हैं। शिक्षकको हम कभी झाड़ लगाते नहीं देखते। विद्यार्थी क्लासमें पहले आ गये तो वे झाड़ लगा लें, कभी

शिक्षक पहले आता तो वह लगा ले ऐसा होना चाहिए। लेकिन झाड़ू लगानेके कामको हमने नीचा मान लिया है। फिर शिक्षक भला वह कैसे करें? हम लड़कोंको झाड़ू लगाने का भी काम देंगे तो शिक्षणकी दृष्टिसे। जो परिश्रम लड़कोंसे कराना है वह शिक्षकको पहले सीख लेना चाहिए और लड़कोंके साथ करना चाहिए। मैंने एक झाड़ू तैयार की है। एक रोज दो-तीन लड़कियां यहां आई थीं। तब उनको मैंने वह दिखाई और उसमें कितनी बातें भरी हैं यह समझाया। समझानेके बाद जितनी बात मैंने कहीं वे सब एक-दो-तीन करके उनसे दोहरवा लीं। लेकिन यह मैं तभी कर सका जब झाड़ू लगानेका काम मैं खुद कर चुका था। इस तरह हरेक चीज शिक्षणकी दृष्टि से लड़कों को सिखानी चाहिए। एक भाईने मुझसे कहा 'बापूजीने पीसना कातना जूते बनाना वगैरा काम खुद करके परिश्रमकी प्रतिष्ठा बढ़ा दी। मैंने कहा 'मैं ऐसा नहीं मानता। परिश्रमकी प्रतिष्ठा किसी महात्माने नहीं बढ़ाई। परिश्रम की निजकी ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उसने महात्माको प्रतिष्ठा दी। आज हिंदुस्तान में गोपाल-कृष्णकी जो इतनी प्रतिष्ठा है वह उनके गोपालनने उन्हें दी है। उद्योग हमारा गुरुदेव है।

दुनियाकी हरेक चीज हमको शिक्षा देती है। एक दिन मैं धूपमें घूम रहा था। चारों तरफ बड़े-बड़े हरे वृक्ष दिखाई देते थे। मैं सोचने लगा कि ऊपर से इतनी कड़ी धूप पड़ रही है फिर भी ये वृक्ष हरे कैसे हैं? वे सब मेरे गुरु बन गये। मेरी समझ में आ गया कि जो वृक्ष ऊपर से इतने हरे-भरे दीखते हैं, उनकी जड़ें जमीनमें गहरी पहुंची हैं और वहांसे उन्हें पानी मिल रहा है। इस तरह अंदरसे पानी और ऊपरसे धूप दोनोंकी कृपासे यह सुंदर हरा रंग उन्हें मिला है। इसी तरह हमें अंदरसे भक्तिका पानी और बाहरसे तपश्चर्याकी धूप मिले तो हम भी पेड़ोंके-जैसे हरे-भरे हो जायं। हम ज्ञानकी दृष्टिसे परिश्रमको नहीं देखते इसलिए उसमें तकलीफ मालूम होती है। ऐसे लोगोंके लिए भगवानका यह शाप है कि उनको आरोग्य और ज्ञान कभी मिलने ही वाला नहीं।

किताबें पढ़नेसे ज्ञान मिलता है यह खयाल गलत है। पढ़ते-पढ़ते बुद्धि ऐसी हो जाती है कि जिस समय जो पढ़ते हैं वह ठीक लगता है। एक भाई

मुझसे कहते थे "मैंने समाजशास्त्रकी किताब पढ़ी तो वे विचार ठीक जान पड़े। बाद में मार्क्स-सिद्धांतकी पुस्तक पढ़ी तो वे भी ठीक लगे।" मैंने विनोदमें उनसे कहा "पहली किताब दो बजे पढ़ी होगी और दूसरी चार बजे। दो बजेके लिए पहली ठीक थी और चार बजेके लिए दूसरी।" मेरे कहने का मतलब यह है कि बहुत पढ़नेसे हमारा दिमाग स्वतन्त्र विचार ही नहीं कर सकता। खुद विचार करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। मेरी कुछ ऐसी राय है कि बचपन किताब सिखानेसे उसमें स्वतन्त्र विचार-पद्धति नष्ट हो गई है। कुरान शरीफ में एक सवाल आया है कि मुहम्मदसाहबसे कुछ विद्वान लोगोंने पूछा "तुम्हारे पहले जितने पैगम्बर आये उन सबने चमत्कार करके दिखाये। तुम तो कोई चमत्कार ही नहीं दिखाते तो फिर पैगम्बर कैसे बन गये?" उन्होंने जवाब दिया "आप कौन-सा चमत्कार चाहते हैं? एक बीज बोया जाता है, उसमें से बड़ा-सा वृक्ष पैदा होता, उसमें फूल लगते हैं और उनमें से फल पैदा हो जाते हैं। यह क्या चमत्कार नहीं है? यह तो एक जवाब हो गया। दूसरा जवाब उन्होंने यह दिया "मुझ-जैसा अनपढ़ आदमी भी आप लोगोंको ज्ञान दे सकता है यह क्या कम चमत्कार है? आप और कौन सा चमत्कार चाहते हैं? हमारे ज्ञानकी पुष्टि आलम भरी है। हम उसकी तहतक नहीं पहुंचते इसलिए उसमें जो आनन्द भरा है वह हमें नहीं मिलता।

रोटी बनानेका काम माता करती है। माताका हम गौरव करते हैं। लेकिन माताका असली माता-पन उस रसोईमें ही है। अच्छी से-अच्छी रसोई बनाना, बच्चोंको प्रेमसे खिलाना—इसमें कितना ज्ञान और प्रेम भावना भरी है। रसोईका काम यदि माताके हाथोंसे ले लिया जाय तो उसका प्रेम भावन ही चला जायगा। प्रेम भाव प्रकट करनेका वह मौका कोई माता छोड़नेके लिए तैयार न होगी। उसीके सहारे तो वह जिंदा रहती है। मेरे कहनेका मतलब कोई यह न समझे कि किसी-न-किसी बहाने मैं स्त्रियों पर रोटी पकानेका काम लादना चाहता हूं। मैं तो उनका बोझ हल्का करना चाहता हूं। इसीलिए हमने आश्रममें रसोईका काम मुख्यतः पुरुषों से ही कराया है। मेरा मतलब इतना ही था कि यदि रसोई का काम माता छोड़ देगी तो उसका ज्ञान-साधन और प्रेम-साधन चला

जायगा। वैसे ही यदि हम परिश्रमसे घृणा करेंगे तो ज्ञान-साधन ही खो बैठेंगे।

लोग मुझसे कहते हैं "तुम लड़कोंसे मजदूरी कराना चाहते हो। उनके दिन तो गुलाबके फूल-जैसे खिलने और खेलने-कूदनेके हैं।" मैं कहता हूं बिलकुल ठीक। लेकिन वह गुलाबका फूल किस तरह खिलता है यह भी तो जरा देखो। वह पूर्ण रूपसे स्वावलंबी है। जमीनसे सब तत्त्व चूस लेता है। खुली हवामें अकेला खड़ा होकर धूप, बारिश, जाड़ा सब सहन करता है। बच्चोंको भी वैसा ही रखो। मैं यह पसंद करता हूं। उनसे पूछकर ही देखो कि फूलको पानी देनेमें, चंद्रकलाको घटती-बढ़ती देखनेमें आनंद आता है या किताबोंमें और व्याकरणके नियम घोटते रहनेमें? मुरगांव (वर्धा) का एक उदाहरण मुझे मालूम है। वहां एक प्राथमिक पाठशाला है। करीब ७ से ११ सालके लड़के उसमें पढ़ते हैं। गांववालोंकी राय है कि वहांका शिक्षक अच्छा पढ़ाता है। परीक्षाके एक या दो महीने बाकी थे तब उसने सुबह ७ से १०॥ तक और दोपहरमें २ से ५॥ तक और रातको फिर ७ से ९ बजे तक—यानी कुल नौ घंटे पढ़ाना शुरू किया। न मालूम इतने घंटे वह क्यों पढ़ाता होगा और विद्यार्थी भी क्या पढ़ते होंगे! मगर लड़के पास हो गये तो हम समझते हैं कि शिक्षकने ठीक पढ़ाया है। इस तरह नौ-नौ घंटे पढ़ाई करानेवाला शिक्षक लोक-प्रिय हो सकता है। लेकिन मैं तीन घंटे कातनेकी बात कहूं तो कहते हैं "यह लड़कोंको हैरान करना चाहता है।" ठीक ही है। जहां यह भावना बचपनेकी दिलमें हो वहां लड़कोंको काम देनेकी बात भला कौन सोचे?

फिर लोग यह पूछते हैं कि "उद्योग इष्ट है यह तो मान लिया। लेकिन उसमें इतना उत्पादन होना ही चाहिए यह आग्रह क्यों?" मेरा जवाब यह है "लड़कोंको तो जब कोई चीज बनती है तभी आनंद आता है। बेचारे मेहनत भी करें और उससे कुछ पैदा न हो तो क्या इसमें उन्हें आनंद आ सकता है। किसीसे अगर कहा जाय कि चक्की तो पीसो लेकिन उसमें गेहूं न डालो और आटा भी तैयार न होने दो। तो वह पूछेगा कि फिर यह नाहक चक्की घुमानेका मतलब? तो क्या हम यह कहेंगे कि भुजाएं और छाती मजबूत बनानेके लिए? ऐसे उद्योगमें क्या कुछ आनंद आ

सकता है। वह तो बेकारकी मेहनत हो जायगी। अतः उत्पादनम ही आवश्यक है।

इसलिए मुख्य दृष्टि यह है कि शरीर-श्रमकी महिमाको हम समझें। प्राइमरी स्कूलोंमें हम उद्योगके आधार पर शिक्षण न देंगे तो शिक्षाको अनिवार्य न कर सकेंगे।

आज गाँववाले कहते हैं कि 'लड़का स्कूलमें पढ़ने जाता है तो उसमें कामके प्रति घृणा पैदा हो जाती है और हमारे लिए वह निकम्मा हो जाता है। फिर उसे स्कूल क्यों भेजें?" लेकिन हमारी पाठशालाओंमें अगर उद्योग शुरू हो गया तो मा-बाप खुशीसे अपने लड़केको स्कूल भेजेंगे। लड़का क्या पढ़ता है यह भी देखने आयेंगे। आज तो लड़केकी क्या पढ़ाई हो रही है यह देखनेके लिए भी मा-बाप नहीं आते। उनको उसमें रस नहीं मिलता। उद्योगके अभ्यासमें दाखिल हो जानेके बाद इसमें फर्क पड़ेगा। गाँववालोंके पास काफी ज्ञान है। हमारा शिक्षक सर्वज्ञ तो नहीं हो सकता। वह गाँववालोंके पास जायगा और अपनी कठिनाइयाँ उनको बतायेगा। स्कूलके बगीचेमें अच्छे पौधे नहीं लगते तो वह उसका कारण गाँववालोंसे पूछेगा। फिर वे बतायेंगे कि इस-इस किस्मकी खाद डालो खाद खराब होनेसे पौधोंमें कीड़े लग जाते हैं। हम समझते हैं कि कृषि-कालेजमें पढ़े हुए हैं, इसलिए हमारे ही पास ज्ञान है। लेकिन हमारा ज्ञान किताबी होता है। हम उसे व्यवहारमें नहीं लाते। जबतक हम प्रत्यक्ष उद्योग नहीं करते तबतक उसमें प्रगति और वृद्धि नहीं होती। अगर हम गाँववालोंका सहयोग चाहते हैं उनके ज्ञानसे अगर हम लाभ उठाना है, तो स्कूलमें उद्योग शुरू करना चाहिए। हमारे और उनके सहयोगसे उस ज्ञानमें सुधार भी होगा।

यह सब तब होगा जब हमारे शिक्षकोंमें प्रेम मानव और श्रमके प्रति आदर उत्पन्न होगा। हमारी नई शिक्षा-प्रणाली इसी आधारपर बनाई गई है।

७

ब्रह्मचर्यका अर्थ

यों तो हर धर्ममें मनुष्य-समाजके लिए कल्याणकारी बातें पाई जाती हैं। इस्लाम धर्ममें ईश्वर-भजन है। 'इस्लाम' शब्दका अर्थ ही 'भगवान्‌का भजन' है। अहिंसा भी ईसाई धर्ममें पाई जाती है। हिंदू ऋषि-मुनियोंने परीक्षा करके जो तत्त्व निकाले हैं वे दूसरे धर्मों में पाये जाते हैं। लेकिन हिंदूधर्मने विशिष्ट आचारके लिए एक ऐसा शब्द बनाया है जो दूसरे धर्मोंमें नहीं दीख पड़ता। वह है 'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्याश्रमकी व्यवस्था हिंदू-धर्मकी विशेषता है। अंग्रेजीमें ब्रह्मचर्यके लिए शब्द ही नहीं है। लेकिन उस भाषामें शब्द नहीं है इसका मतलब यह नहीं है कि उन लोगोंमें कोई संयमी हुआ ही नहीं। ईसामसीह खुद ब्रह्मचारी थे। वैसे अच्छे-अच्छे लोग संयमी जीवन बिताते हैं लेकिन ब्रह्मचर्याश्रमकी यह कल्पना उन धर्मोंमें नहीं है जो हिंदू धर्ममें पाई जाती है। ब्रह्मचर्याश्रमका हेतु यह है कि मनुष्यके जीवनको आरम्भमें अच्छी खाद मिले। जैसे वृक्षको जब वह छोटा होता है तब खादकी अधिक आवश्यकता रहती है। बड़ा हो जानेके बाद खाद देनेसे जितना लाभ है उससे अधिक लाभ जब वह छोटा रहता है तब देनेसे होता है। यही मनुष्य-जीवनका हाल है। यह खाद अगर आजन्म मिलती रहे तो अच्छा ही है लेकिन कम-से-कम जीवनके आरम्भ-कालमें तो वह बहुत आवश्यक है। हम बच्चोंको दूध देते हैं। उसे वह अन्त तक मिलता रहे तो अच्छा ही है लेकिन अगर नहीं मिलता तो कम-से-कम बचपनमें तो मिलना ही चाहिए। शरीरकी तरह आत्मा और बुद्धिको भी जीवनके आरम्भ-कालमें अच्छी खुराक मिलनी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रमकी कल्पना है। ऋषि लोग जिस चीजका स्वाद जीवनभर लेते थे उसका थोड़ा-सा अनुभव अपने बच्चों को भी मिले इस दृष्टिसे उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना की।

अनुभवसे मैं इस निर्णयपर आया हूँ कि आजीवन पवित्र जीवन बितानेकी दृष्टिसे कोई ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहे तो ब्रह्मचर्यकी अभावात्मक विधि उसके लिए उपयोगी नहीं होती। 'डोन्ट थिंक ऑफ ईविल' याने बुरे

काम नहीं आयेगा। 'सर्व बल' इस तरहकी 'पॉजिटिव' यानी भावात्मक भाषा ब्रह्मचर्यके काममें आती है। विषय-वासना मत रखो यह ब्रह्मचर्यका 'निगेटिव' यानी अभावात्मक रूप हुआ। सब इंद्रियोंकी शक्ति आत्माकी सेवामें खर्च करो यह उसका भावात्मक रूप है। 'ब्रह्म' यानी कोई बृहत् कल्पना। अगर मैं चाहता हूं कि इस छोटी-सी देहके सहारे दुनियाकी सेवा करूं उसके ही काममें अपनी सब शक्ति खर्च करूं तो यह एक विशाल कल्पना हुई। विशाल कल्पना रखते हुए ब्रह्मचर्यका पालन आसान हो जाता है। 'ब्रह्म' शब्दसे डरिये नहीं। मान लीजिये एक आदमी अपने बच्चेकी सेवा करता है और मानता है कि यह बच्चा परमात्मा-स्वरूप है, इसकी सेवामें सबकुछ अर्पण कर दूंगा और तुलसीदासजी जैसे रघुनाथजीको 'साहिब रघुनाथ हमारे' कहकर भजते थे वैसे ही यह उस लड़केको भजता है तो उस लड़केकी भक्तिसे भी वह आदमी ब्रह्मचर्य पालन कर सकता है। मेरे एक मित्र थे। उन्हें बीड़ी पीनेकी आदत थी। सौभाग्यसे उनके एक लड़का हुआ। तब उनके मनमें विचार आया कि मुझे बीड़ीका व्यसन लगा है इससे मेरा जो बिगड़ा सो बिगड़ा लेकिन अब मेरा लड़का तो उससे बच जाय। मेरा उदाहरण लड़केके लिए ठीक न होगा। सदाहरण उपस्थित करनेके लिए तो मुझे बीड़ी छोड़ ही देनी चाहिए। और तबसे उनकी बीड़ी छूट गई। यही कल्पना थोड़ी-सी आगे बढ़कर देशसेवाकी कल्पना उनके मनमें आती तो वे संपूर्ण ब्रह्मचर्यका आसानीसे पालन कर सकते। देशकी सेवा कोई ब्रह्मभावसे करता है तो वह ब्रह्मचारी है। उसमें उसे कष्ट जरूर उठाने पड़ेंगे लेकिन वे सब कष्ट उसे बहुत कम मालूम होंगे। माता अपने बच्चेकी सेवा रात-दिन करती है। जब उसके पास कोई सेवाकी रिपोर्ट मांगने जायगा तो वह क्या रिपोर्ट देगी? माता इतनी सेवा करती है कि उसकी वह रिपोर्ट ही नहीं दे सकती। वह अपनी रिपोर्ट इस वाक्यमें दे देगी —"मैंने तो लड़केकी कुछ भी सेवा नहीं की।" भला माताकी रिपोर्ट इतनी छोटी क्यों? इसका कारण है। माताके हृदयमें बच्चेके प्रति जो प्रेम है उसके मुकाबले उसकी कुछ भी सेवा नहीं हुई है, ऐसा उसे लगता है। सेवा करनेमें उसे कष्ट कुछ कम नहीं सहने पड़े हैं लेकिन वे कष्ट उसे कष्ट मालूम नहीं हुए। इसलिए हम अपने सामने कोई बृहत्

कल्पना रखेंगे तो मालूम होगा कि अभीतक तो हमने कुछ भी नहीं किया। इंद्रियोंका निग्रह करना यही एक वाक्य हमारे सामने हो तो हम गिनती करने लग जायेंगे कि इतने दिन हुए और अभी तक कुछ फल नहीं दिखाई देता। लेकिन इसी बृहत् कल्पना के लिए हम इंद्रिय-निग्रह करते हैं तो 'यह हम करते हैं' ऐसा 'कर्तरि प्रयोग' नहीं रहता। 'निग्रह किया जाता है' ऐसा 'कर्मणि प्रयोग' हो जाता है या यों कहिये कि निग्रह ही हमें करना है। भीष्म पितामहके सामने एक कल्पना आ गई कि पिताके संतोषके लिए मुझे संयम करना है। बस पिता का संतोष ही उनका ब्रह्म हो गया और उससे वह आदर्श ब्रह्मचारी बन गये। ऐसे ब्रह्मचारी पाश्चात्योंमें भी हुए हैं। एक वैज्ञानिककी बात कहते हैं कि वह रात-दिन प्रयोगमें मग्न रहता था। उसकी एक बहन थी। भाई प्रयोगमें लगा रहता है और उसकी सेवा करनेके लिए कोई नहीं है यह देखकर वह ब्रह्मचारिणी रहकर भाईके ही पास रही और उसकी सेवा करती रही। उस बहनके लिए 'बंधु-सेवा' ब्रह्म की सेवा हो गई। देहके बाहर जाकर कोई भी कल्पना ढूंढ़िये। अगर किसीने हिंदुस्तानके गरीब लोगोंको भोजन देनेकी कल्पना अपने सामने रखी तो इसके लिए वह अपनी देह समर्पण कर देगा। वह मान लेगा कि मेरा कुछ भी नहीं है जो कुछ है वह गरीब जनताका है। 'जनताकी सेवा' उसका ब्रह्म हो गई। उसके लिए जो आचार वह करेगा वही ब्रह्मचर्य है। हरेक काममें उसे गरीबोंका ही ध्यान रहेगा। वह दूध पीता होगा तो उसे पीते वक्त उसके मनमें विचार आ जायगा कि मैं तो निर्बल हूं इसलिए मुझे दूध पीना पड़ता है पर गरीबोंको दूध कहां मिलता है? लेकिन मुझे उनकी सेवा करनी है यह सोचकर वह दूध पियेगा। मगर इसके बाद फौरन ही वह गरीबोंकी सेवा करनेके लिए दौड़ जायगा। बस यही ब्रह्मचर्य है। अध्ययन करनेमें अगर हम मग्न हो जाय तो उस दशा में विषय-वासना कहांसे रहेगी? मेरी माता काम करते करते भजन गाया करती थी। क्योंकि मैं कभी-कभी भजन सुनने दुबारा पढ़ जाता था लेकिन जितनेमें मैं इतना मग्न रहता था कि मुझे उसका पता ही न चलता था। वेदाध्ययन करते समय मैंने अनुभव किया कि देह मानो है ही नहीं यों" भास होती है ऐसी भावना उस समय हो जाती थी। इसीलिए ऋषियोंने कहा है कि बचपनमें वेदाध्ययन करो।

मैंने अध्ययनके लिए ब्रह्मचर्य रखा। उसके बाद देशकी सेवा करता रहा। वहां भी इन्द्रिय-निग्रहकी आवश्यकता थी। लेकिन बचपनसे इन्द्रिय-निग्रहका अभ्यास हो गया था इसलिए बादमें मुझे वह कठिन नहीं मालूम हुआ। मैं यह नहीं कहता कि ब्रह्मचर्य आसान चीज है। हां विशाल कल्पना मनमें रखेंगे तो आसान है। ऊंचा आदर्श सामने रखना और उसके लिए अपनी जीवनका आचरण रखो मैं ब्रह्मचर्य कहता हूं।

यह हुई एक बात। अब एक दूसरी बात और है। किसी एक विषयका संयम और बाकीके विषयोंका भोग यह ब्रह्मचर्य नहीं है। कल मैंने देवदासी-बहनकी 'तरंगित हृदय' नाम की पुस्तक देखी। उसमें 'जरा-सा' के विषयमें कुछ लिखा था। पुस्तक मुझे अच्छी लगी। 'इतना थोड़ा-सा करनेसे क्या होता है' ऐसा मत सोचो। जीवनमें एक-एक बातमें हरेक बातमें संयमकी आवश्यकता है। मिट्टीके बर्तनमें थोड़ा-सा छिद्र हो तो क्या हम उसमें पानी भरेंगे? एक भी छिद्र बाकी है तो वह पानी भरनेके लिए बेकार ही है। ठीक इसी तरह जीवनका हाल है। जीवनमें एक भी छिद्र नहीं रखना चाहिए। चाहे जैसा जीवन बिताते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करेंगे, यह मिथ्या आशा है। बातचीत भोजन स्वाध्याय वगैरा सभी बातोंमें संयम रखना चाहिए।

८

साक्षर या सार्थक ?

किसी आदमीके घरमें यदि बहुत-सी पोथियां भरी रखी हों तो बहुत करके यह मनुष्य पोथी होगा ऐसा हम अनुमान करते हैं। पर किसीके घरमें बहुत-सी पोथियां पड़ी देखें तो हम उसे खजाना समझेंगे। यह अन्याय नहीं है क्या? प्राचीनकालका यह नियम है कि अनिवार्य हुए बिना पोथीका आधार न करो। जैसे ही बहुतसा समय हो पोथीमें आग न लगाना या चाहिये मान्तौंम पोथी न बनाना यह उपासनाकी पहली धारा है। पोथीकी हम

रोगी शरीरका चिह्न मानते हैं। पोथी को भी—फिर वह सांसारिक पोथी हो चाहे पारमार्थिक पोथी हो—रोगी मनका चिह्न मानना चाहिए।

सदियां बीत गईं, जिनके सयानेपनकी सुयश आज भी दुनियामें फैली हुई है उन लोगोंका ध्यान जीवनको साक्षर करनेके बजाय सार्थक करने की ओर ही था। साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाजमें बिना ढूंढे मिल जायंगे। इसके विपरीत निरक्षर जीवन भी सार्थक हो सकता है इसके अनेक उदाहरण इतिहासमें देखे हैं। बहुत बार 'सु'-शिक्षित और 'अ'-शिक्षितके जीवनकी तुलना करनेसे 'अक्षराणां अकारोऽस्मि' गीताके इस वचनमें कहे अनुसार 'सु'के बजाय 'अ' ही पसंद करने लायक जान पड़ता है।

पुस्तकमें अक्षर होते हैं। इसलिए पुस्तककी संगतिसे जीवनको निरर्थक करनेकी आशा रखना व्यर्थ है। "बातोंकी कढ़ी और बातोंका ही भात खाकर पेट भरा है किसीका ? यह सवाल मार्मिक है। कविके कथनानुसार पोथीका कुआ बुझाता भी नहीं और पोथीकी नैया तारती भी नहीं। 'अश्व' माने 'घोड़ा' यह कोशमें लिखा है। बच्चे सोचते हैं 'अश्व' शब्दका अर्थ कोशमें मिला है, पर यह सही नहीं है। 'अश्व' शब्दका अर्थ कोशके बाहर तबेलेमें बंधा खड़ा है। उसका कोशमें समाना संभव नहीं। 'अश्व' माने 'घोड़ा' यह कोशका वाक्य इतना ही बतलाता है कि 'अश्व शब्दका वही अर्थ है जो 'घोड़ा' शब्दका है। वह है क्या सो तबेलेमें जाकर देखो। कोशमें सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तकमें अर्थ नहीं रहता। अर्थ सृष्टिमें रहता है। जब यह बात ध्यानमें आयेगी तभी सच्चे ज्ञानकी चाह जगेगी।

किसन बापकी कल्पना खूब निकाली उसका एक उद्देश्य था—शालारत्न को संक्षिप्त रूप देना। 'शालारत्न बिलकुल भूखों ही मरा है, यह देखकर 'उसके मुंहपर बापका टुकड़ा फेंक दिया जाय' तो बेचारेका भूखा मरना बंद हो जायगा और जीवन सार्थक करनेके प्रयत्नको अवकाश मिल जायगा यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकिने शतकोटि रामायण लिखी उसे लूटनेके लिए देव दानव और मानवके बीच झगड़ा शुरू हुआ। झगड़ा मिटता न

देखकर शंकरजी पंच चुने गए। उन्होंने तीनोंको तैंतीस-तैंतीस करोड़ श्लोक बाट दिये। एक करोड़ बचे। वे उत्तरोत्तर बांटते-बांटते अंतमें एक श्लोक बच रहा। रामायणके श्लोक अनुष्टुप् छन्दके हैं। अनुष्टुप् छन्दके अक्षर होते हैं बत्तीस। शंकरजीने उनमेंसे दस-दस अक्षर तीनोंको बाट दिये। बाकी रहे दो अक्षर। वे कौन-से थे? 'रा-म'। शंकरजीने ये दोनों अक्षर बंटवारेकी मजदूरीके नामपर खुद ले लिये। शंकरजीने अपना सारा रस दो अक्षरोंमें ग्रहण कर लिया तभी तो देव दानव और मानव कोई भी उनकी बराबरी न कर सका। सन्तोंने भी साहित्यका सारा सार राम-नाममें भर रखा है। पर 'अभाग्या नरा पामरा हे कळेना'—'इस अभागे पामर नरको यह नहीं सूझता।'

सन्तोंने रामायणको दो अक्षरोंमें समाप्त किया। ऋषियोंने वेदोंको एक ही अक्षरमें समेट रखा है। अक्षर होने भी इतना नहीं छूटती तो 'ॐ'-कारका जप करो बस। इतनेसे काम न चले तो नन्हा-सा माण्डूक्य उपनिषद् पढ़ो। फिर भी आवश्यकता रह जाय तो ईशोपनिषद् देखो। इस मतलबका एक वाक्य मुण्डकोपनिषद्में आया है। उससे ऋषियोंका इरादा साफ जाहिर होता है। पर ऋषियोंका यह कहना नहीं है कि एक अक्षरका भी जप करना ही चाहिए। एक या अनेक अक्षर रटनेमें जीवनकी सार्थकता नहीं है। वेदोंके अक्षर पोथीमें मिलते हैं, अर्थ जीवनमें खोजना है। कुमारिलका कहना है कि उसे संस्कृत सीखे बिना ही वेदोंका अर्थ आ गया था। इस कथनको आजतक किसीने अस्वीकार नहीं किया। शंकराचार्यने आठवें वर्षमें वेदाभ्यास पूरा कर लिया। इसपर किसी शिष्यने आश्चर्यचकित होकर किसी गुरुसे पूछा, "महाराज, आठ वर्षकी उम्रमें आचार्यने वेदाभ्यास कैसे पूरा कर लिया?" गुरुने मजाकमें उत्तर दिया, "आचार्यकी बुद्धि बचपनमें उतनी तीव्र नहीं रही होगी, इसीसे उन्हें आठ वर्ष लगे।"

एक आदमी दवा खाते-खाते ऊब गया, क्योंकि 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' अन्तमें किसीकी सलाहसे उसने खेतमें काम करना शुरू किया। उससे नीरोग होकर थोड़े ही दिनोंमें हृष्ट-पुष्ट हो गया। अनुभव सिद्ध हुई यह आरोग्य-भावना वह लोगोंको बतलाने लगा।

किसीके हाथमें पोथी देखी कि बड़े मनोभावसे सीख देता "पोथीसे कुछ होने जानेका नहीं हाथमें कुदाल लो तो बने हो जाओगे।" लोग कहते "तुम तो पोथियां पी-पीकर तृप्त हुए बैठे हो और हमें मना करते हो।" दुनियाका ऐसा ही हाल है। दूसरेके अनुभवसे अपना-आपन सीखनेकी मनुष्य की इच्छा नहीं होती। उसे स्वतंत्र अनुभव चाहिए, स्वतंत्र ठोकर चाहिए। मैं हितकी बात कहता हूं कि "पोथियोंसे कुछ फायदा नहीं है। फिजूल पोथियोंमें न उलझो" तो वह कहता है 'हां तुम तो पोथियां पढ़ चुके हो और मुझे ऐसा उपदेश देते हो!' "हां मैं पोथियां पढ़ चुका पर तुम न चूको इसलिए कहता हूं।" वह कहता है, "मुझे अनुभव चाहिए" —"ठीक है। लो अनुभव। ठोकर खानेका स्वातंत्र्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इतिहासके अनुभवसे हम सबक नहीं लेते। इसीसे इतिहासकी पुनरावृत्ति होती है। हम इतिहास की कद्र करें तो इतिहासने आगे बढ़ जाय। इतिहास की कीमत न समझनेसे उसकी कीमत नाहक बढ़ गई है पर अब इस ओर ध्यान जाय तब न!

६

निवृत्त शिक्षण

फ्रांसकी राज्यक्रांतिके इतिहासमें रूसो और वाल्टेयर नामक ग्रंथकारों के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थकारोंकी भाषा विचारशैली तथा लेखन पद्धति तेजस्वी जीवित और क्रान्तिकारक है। लोगोंमें जितनी धाक इनकी लेखनी की थी उतनी बड़े-बड़े बलवान राजाओंके शासनकी भी नहीं थी। फ्रांसकी राज्यक्रांति इनके लेखोंका मूर्त परिणाम थी। इन दोनों लेखकोंमें से रूसो विशेष भावना प्रधान था। लेख लिखनेके लिए उसने कभी भाषा शास्त्रका अध्ययन नहीं किया था। उसके विचार उसके हृदयमें समाते नहीं थे बाहर निकलनेके लिए छटपटाते और धक्के देते थे। ज्वालामुखी पर्वतके फटते हुए रसकी भांति बल्कि उससे भी बढ़कर, दाहक होते थे

और उसकी इच्छाके विरुद्ध 'अनिच्छन्नपि'—बाहर निकलते थे। उसके लेखों द्वारा उसका हृदय बोलता था। और इसीलिए उसके लेख चाहे बौद्धिक या तार्किक कसौटीपर भले ही खरे न उतरें, तो भी परिणामतः वे धधकती आगके समान होते थे यह इतिहासको भी मानना पड़ा है। 'मृत जीवनकी अपेक्षा जीवित मृत्यु श्रेयस्कर है'—उसके लेखोंका यही एक सूत्र था। ऐसे प्रभावशाली प्रतिभावान लेखकके शिक्षण-विषयक मतोंका मनन पूर्वक विचार करना हमारा कर्तव्य है।

रूसोके मतानुसार शिक्षणके तीन विभाग करने चाहिए—(१) निसर्ग-शिक्षण (२) व्यक्ति-शिक्षण और (३) व्यवहार-शिक्षण।

शरीरके प्रत्येक अवयवका सम्पूर्ण और व्यवस्थित विकास होना, इन्द्रियोंका क्रमशः स्फूर्तिसे कार्यक्षम बनना, विभिन्न मनोवृत्तियोंका सर्वांगीण विकास होना, स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, धृति, तर्क इत्यादि बौद्धिक शक्तियोंका क्रमशः और प्रखर बनना—इन सबका समावेश उसके मतसे निसर्ग-शिक्षणमें होता है। दूसरे शब्दोंमें मनुष्यकी भीतरी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक वृद्धि आत्मविकास—निसर्ग-शिक्षण है। मनुष्यको बाह्य परिस्थितियोंसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, व्यवहारमें जो अनुभव होता है, वह सब पदार्थ विज्ञानको या भौतिक ज्ञानप्राप्तिको उसने व्यवहार-शिक्षण नाम दिया है। और निसर्ग शिक्षण द्वारा होनेवाले आत्मविकासका ज्ञानकी दृष्टि से बाह्य जगतमें कैसे उपयोग किया जाय इस सम्बन्धमें दूसरे मनुष्योंके प्रयत्नसे जो धार्मिक, साम्प्रदायिक अथवा शालीन (पाठशालामें मिलनेवाला) शिक्षण मिलता है उसे उसने व्यक्ति-शिक्षण संज्ञा दी है। अर्थात् व्यक्ति-शिक्षण उसकी दृष्टिमें व्यवहार-शिक्षण और निसर्ग-शिक्षणको जोड़नेवाली कड़ी है। वस्तुतः यह बात कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती कि रूसोने शिक्षणके कितने विभाग किये हैं। अमुक विषयके अमुक विभाग करने चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह सब सुविधाका सवाल है। इसलिए दृष्टि बदलनेसे वर्गीकरणमें अन्तर होना स्वाभाविक है। रूसोके किये हुए तीन विभाग न मानने हों तो भी कोई बात नहीं है क्योंकि ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्यको सदा व्यक्ति-शिक्षण और सदा व्यवहार-शिक्षण बाहरसे मिलता है। केवल निसर्ग-शिक्षण ही भीतरसे मिलता है। इस

दृष्टिसे अगर हम अन्त:शिक्षण और बाह्य शिक्षण ये दो ही विभाग करें तो क्या हर्ज है ?

परन्तु इससे भी आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य शिक्षण केवल अभावात्मक क्रिया है और अन्त:शिक्षण ही भावरूप है। इसलिए शिक्षणका यही एकमात्र यथार्थ अथवा वास्तविक विभाग है। हमने जिसे 'बाह्य-शिक्षण' कहा है, वह केवल मनुष्योंसे अथवा पाठशालामें ही नहीं मिलता। वह शिक्षण इस अनन्त विश्वके प्रत्येक पदार्थसे निरन्तर मिलता ही रहता है। उसमें कभी विराम नहीं होता। शेक्सपियरने कहा है "बहते हुए झरनोंमें प्राकृतिक ग्रन्थ लिखे हैं, पत्थरोंमें दर्शन छिपे हुए हैं और अन्यान्य पदार्थोंमें शिक्षाके सारे तत्त्व सन्निहित हैं।" वृक्ष वनस्पति फल नदियां पर्वत आकाश तारे—सभी मनुष्यको अपने-अपने ढंगसे शिक्षा देते हैं। नैयायिकोंके अणुसे लेकर सांख्योंके महत्तत्त्व भूमिति (रेखागणित) के बिन्दुसे लेकर भूगोलके सिन्धु तक या उपनिषदकी भाषामें कहें तो 'रामजी की चोटीसे लेकर तुलसीके मूल तक सारे छोटे-बड़े पदार्थ मनुष्यके गुरु हैं। विलक्षण विज्ञान-वेत्ताओंके दूर-चक्षु (दूरबीन) से अथवा हार-विचारकोंके चर्मचक्षुसे कल्पनाकुशल कवियोंके दिव्य-चक्षुमें या तात्त्विक तत्त्व-वेत्ताओंके ज्ञान-चक्षुसे जो-जो पदार्थ दृष्टिगोचर होते हों— अथवा न भी होते हों—उन सब पदार्थोंसे हमें निरन्तर शिक्षा मिल रही है। सृष्टि-परमेश्वर द्वारा हमारे अध्ययनके लिए हमारे सामने खोलकर रखा हुआ एक शाश्वत दिव्य आश्चर्यमय परम पवित्र ग्रन्थ है। उसके सामने वेद व्यर्थ हैं कुरान बेकार है बाइबिल निरर्थक है। लेकिन यह ग्रन्थ-गंगा चाहे कितनी ही गम्भीर क्यों न हो मनुष्य तो अपने लोटेमें ही उसका पानी लेगा। इसलिए इस विश्वमेंसे 'बाह्यत:' हमें वही और उतना ही शिक्षण मिलता जिसके या जितनेके बीज हमारे 'अन्दर' होंगे। इसका अनुभव हरेकको है। हम इतने विषय सीखते हैं इतने ग्रन्थ पढ़ते हैं इतने विचार सुनते हैं इतनी चीजें देखते हैं उनमेंसे कितनी हमें याद रहती हैं ? तात्पर्य बाह्य जगत्में हम जो कुछ सीखते हैं वह सब भुला देते हैं। उसकी जगह केवल संस्कार बाकी रह जाते हैं। अधिक विद्वत्ता अर्थ जानकारी नष्ट होनेपर बचे हुए संस्कार ही हैं। इसका कारण ऊपर दर्शाया गया है। जो हमारे

'अन्तर' नहीं है, वह बाहरसे आना असम्भव है। बाह्य विषय कोई स्वतन्त्र या वास्तविक पदार्थ नहीं है। वह केवल एक भावनात्मक क्रिया है।

अब ऐसे प्रसंगमें हमेशा एक दुहेरी समस्या पैदा होती है। यदि बाह्य विषयको मिथ्या मानें तो संस्कार बननेके लिए किसी-न-किसी बाह्य निमित्त या आलम्बन अथवा आधारकी आवश्यकता होती ही है। इसके विपरीत अगर बाह्य विषयको सत्य या भाव-रूपमें मानें तो ऊपर कहे अनुसार उसका अन्तर-विभागके अनुकूल भाव ही और वह भी संस्कार रूपमें शेष रहता है। अर्थात् उभय पक्षमें विप्रतिपत्ति (कालिमा) उपस्थित होती है। ऐसी अवस्थामें इन दोनों विषयोंका परस्पर सम्बन्ध क्या माना जाय? परन्तु यह विचार नया नहीं है। इसलिए इसका निर्णय भी नया नहीं है। सभी शास्त्रोंमें इस प्रकारके विचार उपस्थित होते हैं और सर्वत्र उनका एक ही निर्णय होता है। उदाहरणके लिए, वह वेदान्ती विचार कि 'सुखका बाह्य पदार्थोंसे क्या सम्बन्ध है' लीजिये। वहां भी यही गुत्थी है। अगर आप कहें कि बाह्य पदार्थोंसे सुख है, तो उनसे सर्वदा सुख ही मिलना चाहिए लेकिन ऐसा होता नहीं है। यदि मन स्थिति बिगड़ी हुई हो तो दूसरे अवसरों पर सुखकारक प्रतीत होनेवाले पदार्थ भी सुख नहीं दे सकते। इसके विपरीत यदि कहें कि बाह्य पदार्थोंमें सुख नहीं है सुख एक मानसिक भावना है तो ऐसा भी अनुभव सदा नहीं होता। जैसाकि शेक्सपीयरने कहा है, 'इच्छा ही घोड़ा बन सकती तो प्रत्येक मनुष्य घुड़सवार हो जाता।' लेकिन ऐसा हो नहीं सकता यह निष्ठुर सत्य है। तब इस समस्याका समाधान कैसे हो?

इसी तरहका दूसरा दृष्टान्त न्याय-शास्त्रसे लीजिये। प्रश्न यह है कि 'मिट्टीका मटकेसे क्या सम्बन्ध है?' अगर आप कहें कि मिट्टी ही मटका है, तो मिट्टीमें पानी भरकर दिखाइये। मिट्टी अलग और मटका अलग कहें तो हमारी मिट्टी हमें दे दीजिये अपना घड़ा लेते जाइये। ऐसी हालतमें इन दोनोंका क्या सम्बन्ध माना जाय? यदि हम शुद्ध हिन्दीमें कहें कि हम समझ नहीं सकते कि इस सम्बन्धका क्या स्वरूप है तो हमारा अज्ञान दीखता है। इसलिए इस सम्बन्धको 'अनिर्वचनीय सम्बन्ध' यह सभ्य और सम्मानपूर्ण नाम दिया गया है।

परंतु इस संबंधके अनिर्वचनीय होते हुए भी एक पक्ष में जिस प्रकार 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', 'मिट्टी तात्त्विक और घड़ा मिथ्या'—ऐसा तारतम्य निश्चय किया जा सकता है उसी प्रकार दूसरे पक्षमें अंतः-शिक्षण भावरूप और बाह्य शिक्षण अभावरूप कार्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

किंतु ऐसा कहते ही एक दूसरा ही मूलोत्पाटी प्रश्न उपस्थित होता है। हमने शिक्षणके दो विभाग किये हैं। उनमेंसे अंतः-शिक्षण अथवा आत्म विकास भावरूप होते हुए भी वह हरेक व्यक्तिके अंदर-ही-अंदर होता रहता है। उसके लिए हम कुछ भी कर नहीं सकते। उसका कोई पाठ्यक्रम नहीं बनाया जा सकता। और यदि बनाया भी जाय तो उसपर अमल नहीं किया जा सकता। बाह्य शिक्षण सामान्यतः और व्यक्ति-शिक्षण विशेषतः अभावरूप करार दिया गया है। "ऐसी अवस्थामें 'न हि धावक-पिपासां कोऽपि वस्त्रं ददाति' इस न्यायके अनुसार शिक्षण-विषयक आयोजन हमारी मूर्खताके प्रदर्शन ही हैं क्या? यह कह देना आवश्यक है कि यह आक्षेप आपाततः जैसे न्यायवान या मुहजोर मालूम होता है, वस्तुतः वैसा नहीं है। कारण जब हम यह कहते हैं कि बाह्य शिक्षण अभावात्मक कार्य (निगेटिव फंक्शन) है तब हम यह नहीं कहते कि वह 'कार्य' ही नहीं है। वह कार्य है, वह उपयोगी कार्य है, परंतु वह अभावात्मक कार्य है इतना ही हमें कहना होता है। मतलब इतना ही है कि शिक्षणका कार्य कोई स्वतंत्र तत्त्व उत्पन्न करना नहीं है। मुख्य तत्त्वको ज्ञापन करना है। इसलिए शिक्षणका उपयोग लोग जिस अर्थमें समझते हैं उस अर्थमें नहीं है। लेकिन इससे शिक्षण निरुपयोगी नहीं हो जाता। शिक्षण उत्तेजक दवा नहीं है, वह प्रतिबंध निवारक उपाय है। रस्किनने शिल्पकारकी भी ऐसी ही व्याख्या की है। शिल्पज्ञ पत्थर या मिट्टीमें से मूर्ति उत्पन्न नहीं करता। वह तो उसमें है ही। सिर्फ छिपी हुई है। उसे प्रकट करना शिल्पीका काम है। इसपरसे स्पष्ट है कि शिक्षण अभावात्मक होते हुए भी उपयोगी है। और चाहे प्रतिबंध निवारण के अर्थमें ही क्यों न हो, उसमें थोड़ी-सी भावात्मकता है ही। इसी अर्थको ध्यानमें रखकर ऊपर, तारतम्य से (अपेक्षाकृत) अभावात्मक ऐसी सावधानीकी भाषाका प्रयोग किया है। शिक्षण

पाठ्यविषयोंकी तुलनामें नगण्यात्मक है। अर्थात् उसका 'भाव' बहुत थोड़ा है।

लेकिन हमने शिक्षाका भाव बेहद बढ़ा दिया है। इसलिए हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अत्यन्त अस्वाभाविक विपरीत और दुराग्रही हो गई है। यहां किसी लड़केकी स्मरण-शक्ति जरा तीव्र दिखाई दी कि उसे और ज्यादा रट करनेको उत्साहित किया जाता है। लड़केका सिर अधीर हो उठता है। लड़केके दिमागमें कितना घुसा और कितना नहीं इसका उसे कोई विवेक नहीं रहता। पाठशालाकी शिक्षण-पद्धति भी यही नीति निर्धारित की जाती है। इसके विपरीत यदि विद्यार्थी मंद हो तो उसकी अवश्य उपेक्षा की जायगी। होशियार माने जानेवाले लड़के जैसे-तैसे कालेजतक पहुंचते हैं और फिर थक जाते हैं। और यदि कालेजमें न थके तो आगे चलकर व्यवहारमें निकम्मे साबित होते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी कोमल बुद्धिपर बेहिसाब बोझ लादा जाता है। यदि घोड़ा तेज है और व्यवस्थितरूपसे चलता है तो उसे छेड़ना नहीं चाहिए। लेकिन इसके बदले 'घोड़ा तेज है न? लगाओ चाबुक' ऐसी नीतिसे क्या होगा? घोड़ा भड़क जायगा। खुद तो बहकेगा ही अपने मालिकको भी गिरायेगा। यह बेवकूफीकी और जुल्मकी नीति कम-से-कम राष्ट्रीय शालाओंमें तो हरगिज नहीं चलनी चाहिए।

सच बात तो यह है कि जहां विद्यार्थीको यह भान हुआ कि वह शिक्षण ले रहा है, वहां शिक्षणका सारा आनंद ही लुप्त हो जाता है। छोटे लड़कोंसे जो कहा जाता है कि खेल ही उत्तम व्यायाम है उसका भी रहस्य यही है। खेलमें व्यायाम होता है लेकिन 'मैं व्यायाम करता हूं' यह बोध नहीं होता। खेलते समय आत्मभावका स्मरण नष्ट हो जाता है। लड़के तद्रूप होकर अद्वैतका अनुभव करते हैं। देह भान लुप्त हो जाता है। प्यास-भूख थकान जैसी किसी वेदनाकी भी प्रतीति नहीं होती। क्योंकि खेल आनंद होता है। वह नियम-रूप कर्तव्य नहीं होता। यही न्याय शिक्षणपर भी लागू करना चाहिए। 'शिक्षण एक कर्तव्य है' इस कृत्रिम भावनाके बदले 'शिक्षण आनंद है' यह नैसर्गिक और उत्साही भावना उत्पन्न होनी चाहिए। लेकिन क्या हमारे मदरसोंमें ऐसी भावना पाई जाती है? 'शिक्षण आनंद है' इस भावनाकी

बात तो छोड़ दीजिये, किंतु 'शिक्षण कर्तव्य है' यह भावना भी बहुत कम पाई जाती है। 'शिक्षण बंद है' यह गुलामीकी भावना ही आज शिक्षा-विभागमें प्रचलित है। बालकने अपनी सजीवताकी चमक या स्वतंत्र-वृत्तिके लक्षण दिखाये नहीं कि तुरंत घरवाले कहने लगे कि अब इसे स्कूलमें भेजना चाहिए। तो पाठशालाका अर्थ क्या हुआ?—बंधनकी जगह! इसलिए इस पवित्र कार्यमें हाथ बटानेवाले शिक्षक इस जेलखानेके छोटे-बड़े कर्मचारी हैं।

लेकिन इसमें दोष किसका है? शिक्षाके विषयमें हमारे जो विचार हैं और उनके अनुसार हमने जिस पद्धतिका—अथवा पद्धतिके अभावका—अवलंबन किया है उसका यह दोष है। विद्यार्थियोंका शिक्षण इस प्रकार होना चाहिए कि उन्हें उसका बोझ न हो, बल्कि स्वाभाविकरूपसे होना चाहिए। बाल्यावस्थामें बालक जिस सहजभावसे मातृभाषा सीखता है उसी सहजभावसे उसका अगला शिक्षण भी होना चाहिए। लड़का व्याकरण क्या चीज है यह भले ही न जानता हो लेकिन वह 'मां भाषा' नहीं कहता। कारण वह व्याकरण समझता है। वह 'व्याकरण' शब्द भले ही न जानता हो या उसे व्याकरणकी परिभाषा भले ही न मालूम हो परन्तु व्याकरणका मुख्य कार्य तो हो ही चुका है। साध्य और साधनको उलट-पुलट नहीं करना चाहिए। साध्यके लिए साधन होते हैं साधनके लिए साध्य नहीं। यही बात तर्कशास्त्रपर भी लागू होती है। गौतमके न्यायसूत्र अथवा अरस्तूका तर्कशास्त्र पढ़नेका क्या अभिप्राय है? यही कि हम व्यवस्थित विचार कर सकें, अचूक अनुमान कर सकें। दीया मंद होने लगता है तब छोटा लड़का भी अंदाज करता है कि शायद उसमें तेल नहीं है। उसके दिमागमें आप तर्क होता है। हां, इतना अवश्य है कि वह 'पंचावयवी वाक्य या सिलॉजिज्म' नहीं बना सकता। विद्यार्थीके भीतर तर्क-शक्ति स्वभावतः होती है। शिक्षकका कार्य केवल ऐसे अवसर उपस्थित करना है जिससे उस तर्क-शक्तिको समय-समय पर खाद मिलता रहे। सारे शास्त्र सब प्रकार तमाम मनुष्यमें बीजरूप स्वयम्भू हैं। हम उन बीजको देख नहीं सकते। लेकिन यह दिखाई नहीं देता इसलिए उनका अभाव तो नहीं है।

परन्तु कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि रूसोको यह मत पसंद नहीं है। मनुष्य स्वभावतः दुर्बल है, मनोविकारग्रस्त है; शिक्षणने उसे बलवान या नीतिमान बनाया है। स्वभावसे वह पशु है, इसे मनुष्य बनाया है। 'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः' यह उसका पूर्व-रूप है। उसका उत्तर-रूप शिक्षणसे संपन्न होनेवाला है—इस प्रकारकी भाषाका प्रयोग वह कभी-कभी करता है। इसके विरुद्ध आशयके वाक्य भी उसके ग्रंथोंमें पाये जाते हैं। इसलिए उसका अमुक ही मत है यह कहना कठिन है, तथापि उसका ऊपर लिखे अनुसार मत हो तो भी उसमें उसका विशेष दोष नहीं है बल्कि उसके जमानेकी परिस्थितिका दोष है, ऐसा कहा जा सकता है। स्वतन्त्र बुद्धिके काम भी एक हदतक यदि परिस्थितिके गुलाम नहीं होते तो कम-से-कम परिस्थिति द्वारा गढ़े जाते हैं और फिर रूसोके जमानेके फ्रांसकी स्थिति कैसी भीषण थी! भारतमें आज जिस प्रकार इकतीस करोड़ मनुष्यों-का भयानक दुःख नजर आता रहा है, उसी तरहकी हालत उस वक्तके फ्रांसकी थी। इसलिए यदि रूसो जैसे ज्वालामुखी ज्वलंत और प्रतिभा-उत्कट मनुष्यका मानसाकाश एक विकारी दृश्य मनुष्य-जातिके प्रति घृणा-से परिपूर्ण हो गया हो तो वह क्षम्य है। घृणाको देखते ही वह चीख उठता था। उसका खून खौलने लगता था। वह आपेसे बाहर हो जाता था। ऐसी स्थितिमें मनुष्य जातिके प्रति घृणाके कारण यदि उसका यह मत हो गया हो कि मनुष्य एक जानवर है और उसमें शिक्षणसे थोड़ी-बहुत इन्सानियत आती है तो हम उसका तात्पर्य समझ सकते हैं। लेकिन रूसोके साथ हमें कितनी ही सहानुभूति क्यों न हो तो भी इस प्रकारका मत—चाहे किसीने किसी भी परिस्थितिमें प्रतिपादन किया हो—अनुचित है, इसमें संदेह नहीं। मनुष्य स्वभावतः दुष्ट है ऐसा माननेमें निखिल मनुष्य-जातिका अपमान है और निराशाकारी परमावधि है। अगर मनुष्य स्वभावसे ही दुष्ट हो तो शिक्षणकी कोई आशा नहीं हो सकती। वस्तुतः उसका स्वभाव बदलकर उसे दूसरा करना सब-दृष्टिसे असंभव है। इसलिए यदि मनुष्य स्वभावसे अगर सचमुच दुष्ट ही हो तो उसे सुधारनेके सारे प्रयत्न व्यर्थ एवं आशय और निराशाकारक होगा, उसके साथ-साथ पशु-वृत्तिका साम्राज्य शुरू हो जायगा, क्योंकि आशा नष्ट होते ही उसका राज्य स्थापित हो जाता

है। कुछ लोग जोशमें आकर कहा करते हैं कि ब्रिटिश सरकारपरसे हमारा विश्वास सदाके लिए उठ गया। सुदैवसे यह सिर्फ जोशकी भाषा होती है। परन्तु, यदि यह सच होता तो किसी भी शान्तिमय आन्दोलनका अर्थ निराशाका कर्म-योग ही होता। स्वावलंबनकी दृष्टिसे यह कहना ठीक है कि हमें सरकारके भरोसे नहीं रहना चाहिए। लेकिन यदि इसका अर्थ यह हो कि हमें यह निश्चय हो गया हो कि अंग्रेजोंके हृदय नहीं है, उनकी कभी उन्नति ही नहीं हो सकती तब तो निःशस्त्र-आंदोलन केवल एक लाचारीका नाप हो जाता है। क्या सत्याग्रहका और क्या शिक्षणका मुख्य आधार ही यह मूलभूत कल्पना है कि प्रत्येक मनुष्यके आत्मा है। जिस प्रकार पशुके आत्मा नहीं है यह सिद्ध होते ही सत्याग्रह बेकार हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य स्वभावतः दुष्ट है, यह साबित होते ही शिक्षणकी प्राय सारी आशा नष्ट हो जाती है। फिर तो छड़ी पड़े छम-छम विद्या आवे घम घम' शिक्षाका एकमात्र सूत्र होगा। इसलिए विद्वान् संतों और शिक्षण-नेताओं-ने भी यह शास्त्रीय सिद्धांत मान लिया है कि मनुष्यके मनमें पूर्णताके सारे तत्त्व बीज-रूपमें स्वतः-सिद्ध हैं।

यह शास्त्रीय सिद्धांत स्वीकार करनेपर जिस प्रकार आजकी जिद्दी शिक्षा-पद्धति गलत साबित होती है, उसी प्रकार शिक्षाका कार्य नागरिक बनाना है, इस बातके आत्म-समाधित तत्त्व भी निराधार सिद्ध होते हैं। हम कुछ-न-कुछ शिक्षण देते हैं लड़कोंके दिमागपर किसी-न-किसी बातका असर होता है और उस परिणामका तथा हमारे शिक्षणका समीकरण करके 'अस्माकमेवाय विजयः, अस्माकमेवाय महिमा' ऐसा कहकर हम नाचने लगते हैं। यह मानवीय मूर्खताकी महिमा है। ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षणकी रचना ऐसी होनी चाहिए, जिससे विद्यार्थियोंको यह मालूम भी न पड़े कि वह शिक्षण ले रहा है। लेकिन इसके लिए साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि शिक्षकके दिलमें ऐसी धुनकी और मद भावना भी न हो कि वह विद्यार्थियोंको शिक्षण दे रहा है। जबतक गुरु अनन्य और सहज-शिक्षक नहीं होता तबतक विद्यार्थियोंको सहज-शिक्षण मिलना असंभव है। जब कहा जाता है कि 'हम तो फ्रोबेल पैस्टालाजी या मॉटेसरीकी पद्धतिसे शिक्षण देते हैं' तब साफ समझ लेना चाहिए कि यह केवल वाचिक भ्रम है यह शब्द

शिक्षण है यह किसी पद्धतिकी अर्थ-शून्य नकल है, यह भ्रम है, इसमें प्राण नहीं है। शिक्षण कोई जीवनविरहित शुष्क (अर्थशून्य) चीज नहीं है कि पूछा सवाल ही फौरन उत्तर आ जाय। जो दिया जाता है, वह शिक्षण होता नहीं है और न शिक्षण उसकी पद्धति पद्धति है। जो प्रकट है वह सहज भावसे प्रकट होता है—इस तरहसे जो प्रकट होता है, वही शिक्षण है। वही सहज-शिक्षण—'सर्वोपनिषदि'—प्रताप चल ही रहे तो भी अच्छा है। परन्तु किसी विशिष्ट पद्धतियों पुस्तकोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला व्यवस्थित प्रभाव हमें नहीं चाहिए।

आखिर शास्त्र क्या चीज है? शास्त्र बराबर है 'व्यवस्थित प्रमाणके'। इसके सिवा इन शास्त्रोंका कोई अर्थ भी है। शिक्षण-शास्त्रवेत्ता स्वतंत्र सि रस-शास्त्रकार लिखते हुए कहता है कि शिक्षणसे मनोविज्ञान व्यक्ति बनते नहीं हैं। इसे शास्त्रकी शास्त्र-दृष्टिसे क्या कीमत हो सकती है। 'एवम् कश्चन बुद्धिमान् स्यात् इत्यनेन शास्त्रं' जैसी शास्त्रकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए। जो शास्त्र ऐसी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता वह शास्त्र लोगोंकी भाषा। यह कुल लोगोंका व्यवस्थित प्रयास मात्र है। शेक्सपीयरने कौन-से नाट्य-शास्त्रका अध्ययन किया था? व्याकरण-शास्त्रके नियम रटकर क्या कभी कोई प्रतिभावान कवि—या काव्य-रसिक भी—बना है? शास्त्र पद्धति इन सबका व्याख्या दृष्टिसे बाहर कुछ अर्थ ही नहीं रखता। यह महान भ्रम है। 'शास्त्रं स्वीय रथानां तव समर्थ शास्त्राणि'—महापुरुषोंकी स्मृति ही शास्त्र है—धर्मशास्त्रका यह एक मार्मिक वचन है। यहाँतक भी यह लागू होता है। जो किसी भी पद्धतिके बिना सुव्यवस्थित होता है जिसे कोई भी बना नहीं सकता परन्तु जो दिया जाता—ऐसा है शिक्षणका अनिर्वचनीय स्वरूप। इसीलिए विश्वबुद्धिवालोंसे महात्माओंने कहा कि शिक्षण कैसे दिया जाता है हम नहीं जानते। न क्रियाशील (केनोपनिषद्) शिक्षण-पद्धति पाठ्यक्रम समय-पत्रक ये सब अर्थशून्य हैं। इनसे शिक्षा प्राप्त नहीं होती और कुछ नहीं बनता है। जीवनकी क्रियाओंसे ही शिक्षण मिलना चाहिए। शिक्षण जब जीवनकी क्रियाके बिना एक स्वतंत्र क्रिया बनती है उस समय शरीरमें विजातीय द्रव्य पहुँचनेसे जैसा परिणाम होता है, वैसा भ्रष्टता और रोगोत्पादक परिणाम हमारे मनपर होता है। कर्मोंकी कसरतके

बिना ज्ञानकी भूख नहीं लगती। और ऐसी हालतमें जो ज्ञान विजातीय द्रव्यके रूपमें अन्दर घुसता है उसे हजम करनेकी ताकत पचनेन्द्रियोंमें नहीं होती। सिर्फ भेजेमें किताबें ठूस देनेसे अगर मनुष्य ज्ञानी बन जाता तो पुस्तकालयकी आलमारियां ज्ञानी मानी जातीं। लालचसे खाये हुए ज्ञानका अपचन होता है और बौद्धिक पक्षाघात हो जाता है। और अन्तमें मनुष्यकी नैतिक मृत्यु होती है।

जो नियम विद्यार्थियोंके शिक्षणपर लागू है, वही लोक-शिक्षण या लोक-संग्रहपर भी घटित होता है। महापुरुषोंकी दृष्टिसे सारा समाज एक बहुत बड़ा शिशु है। "भीष्माचार्य आमरण ब्रह्मचारी रहे। किन्तु बिना पुत्र के तो सद्गति नहीं होती ऐसा सुनते हैं। तब भीष्माचार्यको सद्गति कैसे मिली होगी? ऐसी बेहूदी शंका पेश होनेपर उसका समाधान इस प्रकार किया गया कि भीष्माचार्य सारे समाजके लिए पिताके समान होनेके कारण हम सब उनके पुत्र ही हैं। इसलिए लोक-संग्रहका प्रश्न महापुरुषोंकी दृष्टिसे बालकोंके शिक्षणका ही प्रश्न है। परन्तु शिक्षणके प्रश्नकी तरह लोक-संग्रहका भी नाहक हौआ बनाकर ज्ञानी पुरुषकी यह एक भारी जिम्मेदारी है, ऐसा कहनेका रिवाज चल पड़ा है। लोक-संग्रह किसी व्यक्तिके लिए रुका नहीं है। लोक-संग्रह मुझपर निर्भर है, ऐसा मानना गोया टिटहरीका यह मानकर कि मेरे आधारपर आकाश स्थित है पैरको उलटा टांग लेनेके बराबर है। 'कर्ताहम्' 'मैं कर्ता हूं' यह अज्ञानका लक्षण है ज्ञानका नहीं। यहांतक कि जहां 'कर्ताहम्' यह भावना जाग्रत है, वहां यथार्थ कर्तृत्व ही नहीं रह सकेगा। शिक्षण जिस प्रकार अभावात्मक या प्रतिबन्ध—निवारणात्मक कार्य है उसी प्रकार लोक-संग्रह भी है। इसीलिए श्रीमच्छंकराचार्य ने 'लोकस्य उन्मार्ग-प्रवृत्ति-निवारणं लोक-संग्रहः' ऐसा लोक-संग्रहका निवर्तक स्वरूप दिखलाया है।

जिस प्रकार सच्चा शिक्षक शिक्षा नहीं देता उससे शिक्षण मिलता है इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी लोक-संग्रह करेगा नहीं उसके द्वारा लोक-संग्रह होगा। सूर्य प्रकाश देता नहीं है उससे स्वाभाविक रूपसे प्रकाश मिलता है। इसी अभावात्मक कर्मयोगको गीताने सहज कर्म कहा है और मनुने इसी सहजकर्मको 'निवृत्तकर्म' यह सुन्दर संज्ञा दी है। 'निवृत्त शिक्षण' यह संज्ञा

भी उसी ढंगपर नहीं गई है। जो ऐसा निवृत्त शिक्षण देते हैं वे आचार्य ही समाजके गुरु हैं। वे ही समाजके पिता हैं। दूसरे 'माउके पूत' गुरु नहीं और 'जन्म हेतु-पिता' पिता नहीं है। ऐसे पुरुषोंके चरणोंके निकट बैठकर जिन्होंने शिक्षा पाई है, वे ही मातृमान पितृमान आचार्यवान कहलानेके गौरवके पात्र हैं। परन्तु अब जमाना बदला है। सब परिमित है। ऐसा उदार शिक्षण कितनोंके भाग्यमें लिखा होता है?

१०

आत्माकी भाषा

हम जानते हैं कि दुनियाका पहला ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसके पहलेका कोई लिखित ग्रन्थ हमको अबतक नहीं मिला। इसलिए ऋग्वेद ही हमारे लिए एक अद्भुत प्राचीन ऐतिहासिक वस्तुके रूपमें है। मैं देख रहा हूँ कि हिन्दुस्तानकी एकता का ख्याल ऋग्वेदमें भी मौजूद है। ऋग्वेदका एक मंत्र कहता है कि इस देशमें दो तरफसे—दो बाजुओंसे—दो हवाएं बह रही हैं। एक समुद्रकी तरफसे आती है, दूसरी पर्वतकी तरफसे। जिस समुद्रकी तरफसे हवा आती है, उसको हम हिन्द महासागर कहते हैं। मैं देख रहा हूँ कि हिमालयकी गहन गुफाओंमें एक हवा आती है और दूसरी सिन्धुसे बहती है। इस ख्यालसे हिन्दुस्तान समुद्रसे लेकर हिमालयतक एक है। इसका आध्यात्मिक अर्थ भी है। हम जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं उसकी उपमा दे ऋषि ने कहा है। वे कहते हैं कि प्राणायाम करनेवाले योगी अन्दर एक हवा लेते हैं और बाहर दूसरी हवा छोड़ते हैं। जैसे योगीके अन्दरकी गुफा और बाहरका अन्तरिक्ष दो भाग हैं वैसे ही भारतका हिमालय और समुद्र है। भारत भूमि भी इसी तरह प्राणायाम कर रही है। हिमालयसे वायु छोड़ती है और समुद्रसे लेती है। अब जो अर्थ निकला उसमें यह साफ है कि हिन्दुस्तानकी एकता अभीकी नहीं है बल्कि हजारों वर्ष पहलेकी है। रामायणमें एक स्थान

पर वाल्मीकिने भी रामचन्द्रजीको समुद्रके समान गंभीर और पर्वतके समान स्थिर कहा है। उन्होंने रामचन्द्रजीको एक राष्ट्र-पुरुषके रूप में चित्रित किया है। हजारों बरस पहले ही जब पारस्परिक संबंध के कुछ साधन नहीं थे तभी हमारे पूर्वजोंने इस भूमिको एक विशाल राष्ट्र मान लिया था। इतने विशाल देशको एक राष्ट्र मानना इस जमानेके लिए कोई नई बात नहीं है।

हमारी पुरानी एकताका साधन क्या था? हमारी संस्कृत भाषा। उस समय हमारी भाषा संस्कृत थी। अब संस्कृतके अनेक अंग बन गये और अलग अलग भाषाएं बन गई। अलग अलग सूबोंमें अलग-अलग भाषाका प्रयोग होने लगा। इतना होते हुए भी जो लोग राष्ट्रीयता का खयाल करते थे वे संस्कृतमें बोलते और लिखते थे। आप देखेंगे कि केरलमें पैदा हुए शंकराचार्यजीने दक्षिणसे हिमालयतक अपने अद्वैतका प्रचार संस्कृत द्वारा किया जबकि मलाबारकी भाषा दूसरी थी। कारण वह उस वक्त भी राष्ट्रीयताका खयाल रखते थे। सवाल उठता है कि अपने अद्वैतका प्रचार करनेके लिए उन्हें हिंदुस्तानभरमें घूमनेकी क्या जरूरत थी? अद्वैतकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो उनका अद्वैत जहां उनका जन्म हुआ था वहींपर पूर्णतया प्रकट हो सकता था। उनको घूमनेकी क्या जरूरत पड़ी? एक और बात यह है कि वह हिंदुस्तानके बाहर नहीं गये। इस तरह आप समझेंगे कि उन्होंने एक राष्ट्रीयता का खयाल करके अपने अद्वैतका प्रचार सिंधुसे लेकर पगापर्वतक किया। लेकिन उसमें भी एक मर्यादा थी। उन्होंने आम लोगोंकी भाषा छोड़कर सिर्फ संस्कृतमें ग्रंथ लिखे। इसके बादके लोगोंको लाचार होकर आम लोगोंकी भाषामें लिखना पड़ा और संस्कृतको छोड़ना पड़ा। अलग-अलग भाषामें अलग अलग ग्रंथ लिखे जाने लगे। अलग अलग भाषा हो जाने के कारण प्रांतीयताका भाव पैदा होने लगा। इसका नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजोंने भारतके दो विभाग किये—दक्षिणी हिस्सा और उत्तरी हिस्सा। उन्होंने देखा कि उत्तरवाले दक्षिणकी भाषा नहीं समझते और दक्षिणवाले उत्तरकी भाषा नहीं समझते। अगर दक्षिणमें बलवा हुआ तो उत्तरकी सेना मद्रासपर काम देगी। यह मानना कोई काल्पनिक बात नहीं बता रहा हूं। १८५७ के बलवेको मैं भारतीय स्वातन्त्र्य

महान मानता हूँ। इसको हटानेके लिए मद्रासमें सेना भेजी गई थी। यद्यपि मामला हमारी बातसे खत्म रहा फिर भी भारतको भाषाका संबंध टूट गया और अंग्रेजोंने इसका फायदा उठाया। गांधीजीने देखा कि अगर हम एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं और अपने प्राचीनतर राष्ट्रोंको (जो हिमालय से सिन्धुतक फैला है) तारतम्यर बनाना चाहते हैं तो एक राष्ट्र भाषाकी सख्त जरूरत है। पर अंग्रेजी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। इसलिए सभी हिन्दुस्तानमें जो प्रचलित भाषा है उसका अभ्यास सबको करना होगा। इसलिए गांधीजीने हिंदी भाषा को सबके सामने रखा कि सब उसका अभ्यास करें। पर वस्तु स्थिति यह है कि जब हिन्दुस्तानमें कांग्रेसका जन्म हुआ तब शुरू-शुरूमें आपसके व्यवहारके लिए अंग्रेजी काममें लाई गई। इस तरह हमारे पढ़े-लिखे आदमी अंग्रेजी भाषाका व्यवहार करते थे और शुरू-शुरूमें अंग्रेजीमें काम चलाते थे। लेकिन किसीको यह न सूझा कि सबके लिए अंग्रेजी सीखना मुश्किल है। यह हिन्दुस्तानकी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। यह बात सिर्फ गांधीजीको सूझी।

जैसे हिन्दीमें तुलसी-रामायण लिखी गई है, वैसे ही तामिल में भी कम्बराम क्या भी बरसक अगर ऐसा कोई उत्तम ग्रंथ लिखा गया है, जो आज कायम जैसा हो? प्राचीन जमानेमें ऐसा कोई साधन नहीं था जैसा हमारे यहां अब है। जैसे प्रिंटिंग प्रेस। प्रिंटिंग प्रेस जैसे महान् प्रचारकके होते हुए भी ऐसा क्या नहीं हुआ? मैं तामिल नहीं जानता। लेकिन मेरे भाइयोंने बताया है कि ऐसा कोई ग्रंथ नहीं जिसका प्रचार देहाततक हुआ हो। बहुत-से प्रकाशक मुझसे मिल चुके हैं और मैं उनसे पूछ चुका हूँ कि आप प्रकाशक हैं या अप्रकाशक? पुराने जमानेमें जब कोई पुस्तक लिखता था तो उसका लेखक घूम-घूमकर उसका प्रचार भी करता था। मगर आज हम मान बैठे हैं कि प्रिंटिंग प्रेससे हमारा काम बन गया। तुलसी-रामायणने जनताकी सच्ची सेवा की है। नागपुरमें मुझे जब तुलसी-रामायण पढ़नेका मौका मिला तो एक बातपर मेरा ध्यान गया। आजकल छोटे बच्चोंको (जो प्रारंभिक शिक्षा पाते हैं) अक्षर सिखानेके लिए ऐसा पाठ लिखा जाता है जिसमें संयुक्ताक्षर नहीं होते। नागरी और बंगलामें संयुक्ताक्षरका प्रचार है। इसलिए यहां जो बिना संयुक्ताक्षरके लिखा जाता है, वह शुद्ध

कृत्रिम-सा बन जाता है। लेकिन तुलसी-रामायणमें पचास सैकड़े शब्द ऐसे मिलेंगे जिनमें एक भी संयुक्ताक्षर नहीं है। यही तुलसीदासकी विशेषता है।

हम लोग गुलाम बन गये और गुलामीको प्यार भी करने लगे। अब अभिमान भी करते हैं। आप देखेंगे कि हमारी भाषा और देहाती भाषामें अंतर पड़ रहा है। हमारे ग्रंथ ग्राम जनता तक नहीं पहुंच सकते। उन्होंने देखा कि हमको देहाती भाषामें बोलना और लिखना चाहिए। गांधीजीने देखा कि जबतक अंग्रेजी भाषामें सोचते रहेंगे तबतक हम गुलाम ही रहेंगे। मैं मानता हूं कि अंग्रेजीसे हमारा कुछ फायदा हो सकता है। लेकिन अंग्रेजी भाषा और हमारी भाषामें बड़ा फर्क है। हम लोग कहते हैं 'आत्म-रक्षा'। आत्माके मानी शरीर नहीं है। पर अंग्रेजीमें आत्मरक्षा है 'सेल्फ-डिफेंस'। हरेक भाषामें उसका अपना-अपना स्वतंत्र भाव रहता है। जबतक हम अंग्रेजी द्वारा ही सोचते रहेंगे तबतक हममें स्वतंत्र भाव पैदा नहीं होगा यह गांधीजीने देखा। लोग समझते हैं कि अंग्रेजीसे ही हमें ज्ञान मिलता है। अगर किसी देशके बारे में जानकारी प्राप्त करनी हो तो अंग्रेजी पुस्तक पढ़ना पर्याप्त समझते हैं। अंग्रेजी-लेख द्वारा ही सभी बातोंको देखते हैं और खुद भ्रम करते हैं। अबतक हमने प्रत्यक्ष परिचय नहीं पाया है। अंग्रेजी किताबों द्वारा ही ज्ञान-संपादन करते आये हैं। अंग्रेजी भाषाके कारण हम पुरुषार्थहीन हो गये हैं। यहां ऐसा मैंने सुना कि दो श्रेणी पढ़नेके बाद बच्चोंको अंग्रेजी पढ़ाई जाती है। वर्धाकी शिक्षा-योजनाके अनुसार हमने सात बरसकी पढ़ाईमें अंग्रेजीको बिल्कुल स्थान नहीं दिया है क्योंकि हम मातृभाषाको पहले स्थान देना चाहते हैं और उसी माध्यम द्वारा सभी विषय पढ़ाना चाहते हैं। अंग्रेजी भाषा द्वारा जब हम कोई बात समझते हैं तो वह अस्पष्ट होती है। मैंने देखा कि एक मराठा किसानका दिमाग साफ रहता है पर एक एम० ए० का दिमाग साफ नहीं होता। इसका कारण यह है कि एम० ए० जितना विषय सीखता है सब-का-सब पराई भाषाके द्वारा सीखता है। बच्चा पहले मातृभाषामें सीखता है। यह सब गांधीजीने देखा और यह सोचकर कि राष्ट्रभाषा बननेसे कम-से-कम दस करोड़ लोग तो अपनी भाषाकी तरह सीख पायें हिंदीको राष्ट्रभाषाका रूप दिया।

तेईस सालों में मैंने सुना है कि दक्षिणमें करीब बारह लाख लोग हिन्दी सीख चुके हैं।

आजकल हिंदी हिंदुस्तानी और उर्दूका झगड़ा है। मुझसे जब कोई पूछता है कि आप हिंदीको चाहते हैं, हिंदुस्तानीको या उर्दूको? तो मैं उनसे पूछता हूं कि आप 'माता' को चाहते हैं या 'मां' को? मुझे हिंदुस्तानी और उर्दूमें फर्क नहीं मालूम होता। खादी बनानेमें और उसको इस्तेमाल करनेमें जितना फर्क है उतना ही हिंदी और उर्दूमें है—यानी खादी उर्दू है उसका पट हिंदी क्योंकि हम देखते हैं कि खादी जगह जगह मिलती है। अंग्रेजीमें मिल्टन और वर्ड्सवर्थकी भाषामें जितना फर्क है, उतना ही फर्क हिन्दी और उर्दूमें है। दो-चार उर्दू शब्दों या संस्कृत शब्दोंसे भाषा कभी नहीं बदलती। मैं मराठीमें अब जो भाषा बोल रहा हूं उसमें संस्कृत शब्दोंका प्रयोग कर रहा हूं। अगर मैं पंजाब गया तो उर्दू शब्दोंका जो मैं जानता हूं इस्तेमाल करूंगा। आप हिंदी हिंदुस्तानी और उर्दूमें फूट भी पैदा न करें। उनमें फर्क नहीं है। हिंदी और उर्दूकी जो अनुमत (बैलेंस) भाषा बना है वह है हिंदुस्तानी।

हिंदुस्तानमें अनेक भाषाओंको और अनेक धर्मोंको रहना है। इसलिए अगर यहां ऐसे छोटे-मोटे झगड़े हुए तो हिंदुस्तान जैसा कोई बदनसीब देश नहीं होगा। हम सब एक हैं, एक भाव पैदा करनेके लिए हमारे पास कोई साधन होना चाहिए। वह साधन है राष्ट्रभाषा।

राष्ट्रभाषा प्रांतीय भाषाकी जगह नहीं लेती। मातृभाषाके लिए भी *प्रेमकी जरूरत है। पाश्चात्य भाषोंसे हमने 'अभिमान' शब्द सीखा है। पर* उसमें राष्ट्रप्रेम नहीं है। पेट्रियाटिज्म क्या चीज है? वह देश प्रेमका अपभ्रंश है। राष्ट्रप्रेम का अपभ्रंश है पेट्रियाटिज्म। इसलिए आप लोगोंको मातृभाषाका अभिमान नहीं प्रेम रखना चाहिए। राष्ट्रका अभिमान नहीं राष्ट्र प्रेम रखना चाहिए। हम राष्ट्रभाषाका प्रेम चाहते हैं। राष्ट्रभाषा-का प्रचार [illegible] सद्भावना प्रचार है। अगर हम मानव-समाजमें प्रेम बढ़ाना चाहते हैं और मानव-समाजको प्रेमकी नींवपर स्थापित करना चाहते हैं तो एक-दूसरेका संबंध कायम रखनेके लिए केवल काम नहीं देगी गरिमा काम नहीं देगा भावुक अन्तरात्माका प्रेम काम देगा।

सर्वत्र आत्मा एक है। आत्माकी भाषा सबत्र समान होती है। जैसे दुनिया भरका कौवा एक ही भाषा बोलता है वैसे ही दुनियामें मानव-भाषा एक है। यह हृदयके अंतरतमकी भाषा है। मानव-मात्रकी एक भाषा है। जो आत्मभाव उपनिषदमें है वह ईसप्स फेबल्समें है। लड़कोंको ईसप्स फेबल्स पढ़नेमें बड़ा आनंद आता है क्योंकि वे आत्माको पहचानते हैं। आत्माकी भाषाके प्रचारमें राष्ट्रभाषाका प्रचार पहला कदम है। आत्माकी भाषा जब समझ लेंगे तब सबकी आत्माको समझेंगे। स्त्री-पुरुषकी आत्मा एक है, हिन्दू-मुसलमानकी आत्मा एक है उत्तर और दक्षिणकी आत्मा एक है, इसको पहचाननेके लिए ही यह राष्ट्रभाषाका प्रचार है।

११

साहित्य उल्टी दिशामें

पिछले दिनों एक बार हमने इस बातकी खोजकी थी कि देहातके साधारण पढ़े-लिखे लोगोंके घरमें कौन-सा मुद्रितवाङ्मय पाया जाता है। खोजके फलस्वरूप देखा गया कि कुल मिलाकर पांच प्रकारका वाङ्मय पढ़ा जाता है

(१) समाचारपत्र (२) स्कूली किताबें (३) उपन्यास नाटक गल्प कहानियां आदि (४) भाषामें लिखे हुए पौराणिक और धार्मिक ग्रंथ (५) वैद्यक-सम्बन्धी पुस्तकें।

उससे यह अर्थ निकलता है कि हम यदि लोगोंके हृदय उन्नत करना चाहते हैं तो उक्त पांच प्रकार के वाङ्मयकी उन्नति करनी चाहिए।

पारसालका जिक्र है। एक मित्रने मुझसे कहा "मराठी भाषा कितनी ऊंची उठ सकती है यह ज्ञानदेवने दिखाया और वह कितनी नीचे गिर सकती है यह हमारे आजके समाचारपत्र बता रहे हैं।" (साहित्य सम्मेलन के) मध्यस्थकी आलोचना और हमारे मित्रके उद्‌गारका अर्थ 'प्रचारमेंन

व्यासोक्त मूलके अनुसार लिखाना चाहिए। अर्थात् उनके कथनका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि इसी तथाकथित आदरणीय प्राचीन महाकाव्यको उद्धृत जा चुके हैं। मोटे हिसाबसे परिस्थिति क्या है इतना ही बोध उनके वचनोंसे लेना चाहिए। इस दृष्टिसे दुःखपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि यह आलोचना यथार्थ है।

लेकिन इसमें दोष किसका है? कोई कहता है कि प्रकाशकोंका कोई कहता है पाठकोंका कोई कहता है पूँजीपतियोंका। मुझे इन तीनों ही उचित हैं, और 'असाईका हिस्सा' तीनोंको बराबर-बराबर मिलनेवाला है, इसमें किसीको कोई शक नहीं। परन्तु मेरे मनमें अपराधी ये तीनों भले ही हों — अपराध करनेवाला दूसरा ही है और वही इस पापका वास्तविक 'धनी' है। वह कौन है? — साहित्यकी व्याख्या करनेवाला चटोर अथवा रुचिभ्रष्ट साहित्यकार।

"विरोधी विचारका खण्डन दूसरोंका भी बनाना खरी-खरी या तीखी बात कहना सजीव (उपहास) (व्यंग्य) मर्मभेद (मर्मस्पर्श) आड़ी-टेढ़ी सुनाना (वक्रोक्ति) कठोरता पैनीदार कटिलता प्रहारता (कपट) —आलोचक ने भाषाके दोष बताये हैं परन्तु हमारे साहित्यकार तो ठीक उन्हीं अवगुणोंको 'आभूषा' या साहित्यकी सजावट मानते हैं। पिछले दिनों एक बार रामदासकी 'थोड़ी तबीयतवालोंको विनोद भाता है' इस उक्ति पर कई साहित्यिक बड़े गरम हो गये थे। रामदासके आशयपर ध्यान देकर, उसमें उचित उपदेश लेनेके बदले इन लोगोंने यह अभिमान किया कि विनोदका जीवन और साहित्यमें जो स्थान है रामदास वही नहीं समझ पाये थे। उपहास उन मर्मस्पर्श आदि बातोंको अस्वीकार किये, तो भी हमारे साहित्यकार—अपनी साहित्यकी परिभाषाके अनुसार—आलोचकके अज्ञानका ही फल समझते।

ज्ञानदेव या रामदासको रस-अलंकारकी लगन थी और हमारे विद्वानों को अपनी भाषाकी चिन्ता रहती है चाहे उसमें राष्ट्रघात ही क्यों न होता हो—यह एक पाठका मुख्य मत है। हमारी साहित्य-निष्ठा ऐसी है कि चाहे सत्य भले ही मर जाय साहित्य जीना चाहिए।

"यदि इसको यकीनन मुझे पूरा अनुभव नहीं होता है। तो क्या मेरे देव!

मैं केवल कवि ही बनकर रहूं। —इन शब्दोंमें तुकाराम ईश्वरसे अपना दुखड़ा रोते हैं और ये (साहित्यकार) खोज रहे हैं कि तुकारामके इस वचनमें काव्य कहांतक सधा है! हमारी पाठशालाओंकी शिक्षाका सारा तरीका ही ऐसा है। मैंने एक निबंध पढ़ा था। उसमें लेखकने तुलसीदासकी शेक्सपीयरसे तुलनाकी थी और किसका स्वभाव-चित्रण किस दर्जेका है इसकी चर्चा की थी। मतलब यह कि तुलसीदासकी रामायण हिंदुस्तानके करोड़ों लोगोंके लिए—देहातियोंके लिए भी—जीवनकी मार्ग प्रदर्शक पुस्तक है। उसका अध्ययन भी यह भला आदमी स्वभाव-चित्रणकी शैली की दृष्टिसे करेगा। शायद कुछ लोगोंको मेरे कथनमें कुछ अतिशयता प्रतीत हो लेकिन मुझे तो कई बार ऐसा ही भास पड़ता है कि इन शैली भक्तोंने राष्ट्रके शीलकी हत्याका उद्योग शुरू किया है।

सुभाषितका एक श्लोक है जिसका भावार्थ यह है कि "जिससे जनताका चित्त शुद्ध होता है वही उत्तम साहित्य है। जो साहित्य-शास्त्रकार कहलाते हैं और जिनसे आज हम प्रभावित हैं वे यह व्याख्या स्वीकार नहीं करते। उन्होंने तो शृंगारसे लेकर बीभत्सतक विभिन्न रस माने हैं और यह निश्चित किया है कि साहित्य वही है जिसमें ये रस हों। साहित्यकी यह संपूर्ण व्याख्या स्वीकार कर लीजिये उसमें कर्तव्य-शून्यता मिला दीजिये फिर कोई भी बतला दे कि आजके मराठी समाचारपत्रोंमें जो पाया जाता है, उसके सिवा और किस साहित्यका निर्माण हो सकता है।

१२

तुलसीकृत रामायण

तुलसीदासजीकी रामायणका सारे हिंदुस्तानके साहित्यिक इतिहासमें एक विशेष स्थान है। हिंदी राष्ट्रभाषा है और यह उसका सर्वोत्तम ग्रंथ है। अतः राष्ट्रीय दृष्टिसे भी उसका स्थान अद्वितीय है ही। साथ-साथ यह हिंदुस्तानके सात-आठ करोड़ लोगोंके लिए वेद-तुल्य प्रमाण मान्य है

नित्य परिचित और धर्म-जागृतिका एकमात्र आधार है। इस प्रकार धार्मिक दृष्टिसे भी वह बेजोड़ नहीं पा सकती है। और रामभक्तिका प्रचार करनेमें 'विप्यात् इन्द्रेण पराजयम्' इस न्यायसे वह अपने पूर्व-वाल्मीकि-रामायणको भी पराजयका मानद देनेवाली है। इसलिए भक्तिमार्गीय दृष्टिसे भी वह अब अपनी सानी नहीं रखता। तीनों दृष्टियां एकत्र करके विचार करने पर अनन्वयालंकारका उदाहरण हो जाता है कि राम-रावण-युद्ध जिस तरह राम रावणके युद्ध-जैसा था उसी तरह तुलसीकृत रामायण तुलसीकृत रामायण-जैसी ही है।

एक तो रामायणका ग्रंथ ही है मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्रका चरित्र जिसपर तुलसीदासने उसे विशेष मर्यादासे लिखा है। इसीलिए यह ग्रंथ सुकुमार बालकों के हाथमें देने लायक निर्दोष तथा पवित्र हुआ है। इसमें सब रसों का वर्णन नैतिक मर्यादाका ध्यान रखकर किया गया है। स्वयं भक्ति पर भी नीति की मर्यादा लगा दी है। इसीलिए सूरदासकी जैसी उद्दाम भक्ति इसमें नहीं मिलेगी। तुलसीकी भक्ति संयमित है। इस संयमित भक्ति और और उद्दाम भक्तिका अन्तर मूल राम भक्ति और कृष्ण भक्ति का अन्तर है। साथ ही तुलसीदासजीका अपना भी कुछ है ही।

तुलसीकृत रामायणका वाल्मीकि-रामायणकी अपेक्षा अध्यात्म रामायणसे अधिक संबंध है। अधिकांश वर्णनों पर, खासकर भक्तिके उद्गारोंपर भागवतकी छाप पड़ी हुई है गीताकी छाप तो है ही। महाराष्ट्रके भागवत धर्मीय संतोंके ग्रंथोंसे जिनका परिचय है, उन्हें तुलसीकृत रामायण कोई नई चीज नहीं मालूम होगी। वही नीति वही निर्मल भक्ति वही संयम। कृष्ण-सखा सुदामाको जिस तरह अपने गांवमें वापस आनेपर मालूम हुआ कि कहीं मैं फिरसे द्वारकापुरीमें लौटकर तो नहीं आ गया उसी तरह तुलसीदासजीकी रामायण पढ़ते समय महाराष्ट्रीय संत-समाजके वाङ्मयसे परिचित पाठकोंको 'हम कहीं अपनी पूर्व-परिचित संत-वाणी तो नहीं पढ़ रहे हैं' ऐसी शंका हो सकती है। इसमें भी एकनाथजी महाराजकी याद विशेष रूपसे आती है। एकनाथके भागवत और तुलसीदासजीकी रामायण इन दोनोंमें विशेष विचार-साम्य है। एकनाथने भी रामायण लिखी है पर उनकी आत्मा भागवतमें उतरी है। एकनाथके भागवतमें

ही रामायणको पावन बना दिया। एकनाथ कृष्णभक्त थे तो तुलसीदास रामभक्त। एकनाथने कृष्णभक्तिकी मस्तीको पचा लिया यह उनकी विशेषता है। ज्ञानदेव नामदेव तुकाराम एकनाथ ये सभी कृष्णभक्त हैं और ऐसा होते हुए भी अत्यन्त मर्यादाशील। इस कारण इस विषयमें उन्हें तुलसीदासजीसे दो नंबर अधिक दे देना अनुचित न होगा।

तुलसीदासजीकी मुख्य करामात तो उनके अयोध्याकांडमें है। उसी कांडमें उन्होंने अधिक परिश्रम भी किया है। अयोध्याकांडमें भरतकी भूमिका अद्भुत चित्रित हुई है। भरत तुलसीदासकी ध्यानमूर्ति थे। इस ध्यानमूर्तिको चुननेमें उनका औचित्य है। लक्ष्मण और भरत दोनों ही रामके अनन्य भक्त थे लेकिन एकको रामकी संगतिका लाभ हुआ और दूसरेको वियोगका। पर, वियोग ही भाग्यरूप हो उठा। इसलिए कि वियोगमें ही भरतने संगतिका अनुभव पाया। हमारे भाग्यमें परमात्माके वियोगमें रहकर ही काम करना लिखा है। लक्ष्मणके-जैसा संगतिका भाग्य हमारा कहां! इसलिए वियोगको भाग्यरूपमें किस तरह बदल सकते हैं इसे समझनेमें भरतका आदर्श हमारे लिए उपयोगी है।

शारीरिक संगतिकी अपेक्षा मानसिक संगतिका महत्त्व अधिक है। शरीरसे समीप रहकर भी मनुष्य मनसे दूर रह सकता है। दिन रात नदीका पानी धोते खाता हुआ पत्थर गीलेपनसे बिल्कुल अलिप्त रह सकता है। उलटे शारीरिक वियोगमें ही मानसिक संयोग हो सकता है, उसमें संयमकी परीक्षा है। भक्तिकी तीव्रता वियोगमें बढ़ती ही है। भाग्यकी दृष्टिसे देखें तो साक्षात् स्वराज्यकी अपेक्षा स्वराज्य-प्राप्तिके प्रयत्नका आनन्द कुछ और ही है। सिर्फ अनुभव करनेकी रसिकता हममें होनी चाहिए। भक्तोंमें यह रसिकता होती है। इसीलिए भक्त मुक्ति नहीं मांगते वे भक्तिमें ही खुश रहते हैं। भक्तिका अर्थ बाहरका वियोग स्वीकारकर अंदरसे एक हो जाना है। यह कोई ऐसा-वैसा भाग्य नहीं परमभाग्य है—मुक्तिसे भी श्रेष्ठ भाग्य है। भरतका यह भाग्य था। लक्ष्मणका भाग्य भी बड़ा था।

पर एक तो हमारी किस्मतमें वह है नहीं और फिर कुछ भी कहिये वह है भी कुछ घटिया ही। इसका कारण मजूर बड़ा है सिर्फ यही नहीं

है किन्तु भगवान् मोक्ष है यह भी है। भक्तके भाग्यमें उपासनाकी मिठास है।

लोकमान्य तिलकने 'गीतारहस्य'में संन्यासीको लक्ष्यकर यह व्यक्त किया है कि 'संन्यासीको भी मोक्षका लोभ तो होता ही है।' पर इस बातको स्पर्श कर देनेकी युक्ति भी हमारे साधु-संतोंने दूर निकाली है। उन्होंने लोभको ही समाप्त दे दिया। गुरु नानकदेवजी भक्तिकी नमक-पोटलीके लुम हैं मुक्तिकी ज्योतारके प्रति उन्होंने उपेक्षा दिखाई है। ज्ञानेश्वरने तो "भोग-मोक्ष निंबलोण। पायातळीं" भोग और मोक्ष पैर तले-पड़े हुए (उन्मत्त जैसे) हैं, 'मोक्षाची मोटीबांधी करी' (मोक्षकी पोटलीको बांधती है अर्थात् मोक्ष जिसके हाथकी चीज है) "चहू पुरुषार्था शिरीं। भक्ति जैसी" (चारों पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ भक्ति जैसी) आदि वचनोंमें भक्तिको मनकी ठकुराई बनाया है। और तुकारामने तो "नको ब्रह्मज्ञान आत्म-स्थिति भाव" (मुझे न ब्रह्मज्ञान चाहिए और न आत्मसाक्षात्कार) कहकर मुक्तिको इस्तीफा ही दे दिया है। "मुक्तीवर भक्ति" (मुक्तिसे भक्ति बढ़कर है) इस भावको एकनाथने अपनी रचनाओंमें दस-पांच बार प्रकट किया है। इधर गुजरातमें नरसिंह मेहताने भी "हरिना जन तो मुक्ति न मांगे" (हरिका जन मुक्ति नहीं मांगता) ही गाया है। इस प्रकार भक्त अभी भागवत-धर्मी वैष्णवोंकी परंपरा मुक्तिके लोभसे सोलहों आने मुक्त है। इस परंपराका उद्गम भक्त-शिरोमणि प्रह्लादसे हुआ है। "नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षे" —इन दीन जनोंको छोड़कर मुझ अकेले मुक्त होनेकी इच्छा नहीं है यह बात प्रह्लाद उन्होंने नृसिंह भगवानको किया। इस कलियुगमें वैदस्मार्त-संप्रदाय-मार्गकी स्थापना करनेवाले शंकराचार्यने भी "ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति य" गीताके इस श्लोकका भाष्य करते हुए 'संगंत्यक्त्वा' का अर्थ अपने पक्षमें डालकर 'मोक्षेऽपिको संगंत्यक्त्वा' 'मोक्षकी भी आसक्तिका त्याग कर' ये वचन लिखा है।

तुलसीदासजीके बारेमें इस भक्ति भावकी पूर्ति है। उनका मानना तो देखिए—

अरथ न धरम न काम-रुचि
गति न चहउं निरबान।

जनम-जनम रति राम-पद
यह बरदान न आन॥

यों विभवजीके रागेको सबोंने एकदम निकम्मा कर दिया।

भरतमें वियोग-भक्तिका उत्कर्ष दिखाई देता है। इसीसे तुलसीदासजीके वह आदर्श हुए। भरतने सेवा-धर्मको खूब निबाहा। नैतिक मर्यादाका सम्पूर्ण पालन किया भगवान्‌का कभी विस्मरण नहीं होने दिया। आज्ञा समझकर प्रजाका पालन किया। पर उनका प्रेम रामके चरणोंमें अर्पण-कर स्वयं निर्लिप्त रहे। नगरमें रहकर वनवासका अनुभव किया। वैराग्य युक्त चित्तसे यमनियमादि विषम व्रतोंका पालनकर आत्माको देहसे दूर रखनेवाले देहके पर्देको झीना कर दिया। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे भरत न जन्मे होते तो मुझ-जैसे पतितको राम-सम्मुख कौन करता—

सिय-राम-प्रेमपियूष-पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि-मन-अगम-जम-नियम-सम-दम विषम-व्रत आचरत को।
दुख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषन सुजस-मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी-से सठहि हठि राम-सनमुख करत को॥

रामायणमें रामसखा भरत महाभारतमें शकुन्तलाका पराक्रमी भरत और भागवतमें जीवन्मुक्त जड भरत ये तीन भरत प्राचीन भारतमें विख्यात हैं। हिंदुस्तानको 'भारतवर्ष' संज्ञा शकुन्तलाके वीर भरतसे मिली ऐसा इतिहासज्ञोंका मत है एकनाथने ज्ञानी जडभरतसे यह मिली ऐसा माना है। सम्भव है तुलसीदासजीको लगता हो कि यह राम भक्त भरतसे मिली है। पर चाहे जो हो आजके वियोगी भारतके लिए भरतकी वियोग भक्ति का आदर्श सब प्रकारसे अनुकरणीय है। तुलसीदासजीने वह आदर्श अपने पवित्र अनुभवसे उज्ज्वल बनाकर हमारे सामने रखा है। तदनुसार आचरण करना हमारा काम है।

१६

जीवनकी तीन प्रधान बातें

अपने जीवनमें तीन बातोंको प्रधान पद देता हूं। उनमें पहली है उद्योग। अपने देशमें आलस्यका भारी वातावरण है। यह आलस्य बेकारीके कारण आया है। शिक्षितोंका तो उद्योगसे कोई ताल्लुक ही नहीं रहता और जहां उद्योग नहीं वहां सुख कहां? मेरे मतसे जिस देशसे उद्योग गया उस देशको भारी बल गया समझना चाहिए। जो खाता है उसे उद्योग तो करना ही चाहिए फिर वह उद्योग चाहे जिस तरहका हो। पर बिना उद्योगके बैठना कामकी बात नहीं। घरोंमें उद्योगका वातावरण होना चाहिए। जिस घरमें उद्योगकी तालीम नहीं है, उस घरके लड़के जल्दी ही अपना नाश कर लेंगे। पथार पहले ही दुःखमय है। जिसने संसारमें सुख माना है उसके समान भ्रममें पड़ा और कौन होगा? रामदासजीने कहा है, "मूर्खमाजी परम मूर्ख। जो संसारी मानी सुख।" अर्थात् वह मूर्खोंमें भारी मूर्ख है, जो मानता है कि इस संसारमें सुख है। मुझे जो मिला दुःखकी कहानी सुनाता ही मिला। मैंने तो कभीसे यह समझ लिया है और बहुत विचार और अनुभवके बाद मुझे इसका निश्चय हो गया है। पर ऐसे इस संसारको जरा-सा सुखमय बनाना हो तो उद्योगके सिवाय दूसरा इलाज नहीं है और आज सबके करने लायक और उपयोगी उद्योग सूत-कताईका है। कपड़ा हरेकके लिए जरूरी है और प्रत्येक बालक स्त्री पुरुष सूत कातकर अपना कपड़ा तैयार कर सकता है। चर्खा हमारा मित्र बन जायगा मातिवाला हो जायगा—बशर्ते कि हम उसे लगावें। दुःख होने या मन उदास होनेपर चरखा हाथमें लेते ही फौरन मनको आराम मिलता है। इसकी वजह यह है कि मन उद्योगमें लग जाता है और दुःख बिसर जाता है। यह लायक कविका एक वाक्य है। उसमें उसने एक स्त्रीका चित्र खींचा

बिना मनुष्यको कभी खाली नहीं बैठना चाहिए। आलस्यके समान शत्रु नहीं है। किसीको नींद आती हो तो सो जाय इसपर मैं कुछ नहीं कहूंगा लेकिन जाग उठनेपर समय आलस्यमें नहीं बिताना चाहिए। इस आलस्य की वजहसे हम दरिद्री हो गये हैं परतन्त्र हो गये हैं। इसीलिए हम उद्योग की ओर झुकना चाहिए।

दूसरी बात जिसकी मुझे धुन है, वह भक्तिमार्ग है। बचपनसे ही मेरे मनपर यदि कोई संस्कार पड़ा है तो वह भक्तिमार्गका है। उस समय मुझे मातासे शिक्षा मिली। आगे चलकर आश्रममें दोनों वक्तकी प्रार्थना करने की आदत पड़ गई। इसलिए मेरे ऊपर वह खूब हावी हो गई। पर भक्तिका मतलब आलस्य नहीं है। हम उद्यम छोड़कर झूठी भक्ति नहीं करते हैं। दिनभर उद्योग करके शाम सायंकाल और सुबह भगवानका स्मरण करना चाहिए। दिनभर पाप करके झूठ बोलकर, मक्कारी-बदमाशी करके प्रार्थना नहीं होती बल्कि सत्कर्म करके दिन सेवामें बिता करके वह सेवा भगवानको अर्पण करनी चाहिए। हमारे द्वारा अनजाने हुए पापोंको भगवान् क्षमा करता है। पाप बन जाये तो उसके लिए तीव्र पश्चात्ताप होना चाहिए। ऐसा करनेपर ही भगवान् माफ करता है। रात बारह मिनट ही क्यों न हो सबको—लड़कोंको स्त्रियोंको—इकट्ठे होकर प्रार्थना करनी चाहिए। जिस दिन प्रार्थना न हो वह दिन व्यर्थ गया समझना चाहिए। मुझे तो ऐसा ही लगता है। सौभाग्यसे मुझे पत्नी साथ-साथ भी ऐसी ही अच्छी मिल गई है। इसमें मैं अपना सौभाग्य मानता हूं। यहीं मेरे भाईका मन लगता है। बापूजी उनके बारेमें लिख रहे हैं कि आजकल वह रातभर कीर्तन कर रहे हैं। उन्हें इस बापूके सिवाय और कुछ नहीं सूझ रहा है। ईश्वर उसे पागल कर रहा है पर उस पागलपनकी परवाह नहीं है। मुझे भाई भी ऐसा मिला है। ऐसे ही मित्र और गुरु मिले। मां भी ऐसी ही थी। ज्ञान मुझे लगता है कि भगवान कहते हैं—मैं भक्तोंके हृदयमें न मिलूं, स्वर्गमें न मिलूं तो वहीं न मिलूं जो जहां कीर्तन-आराधना चल रहा है वहां तो जरूर ही मिलूंगा। लेकिन यह कीर्तन कर्म करके उद्यम करनेके बाद ही करना चाहिए है नहीं तो वह शाप हो जायगा। मुझे इस प्रकारका अभिप्राय [illegible] धुन है।

तीसरी एक और बातकी मुझे धुन है पर सबके काबूकी वह चीज नहीं हो सकती। वह चीज है खूब सीखना और खूब सिखाना। जिसे जो आता है, वह उसे दूसरेको सिखाये और जो सीख सके उसे वह सीखे। कोई बुड्ढा मिल जाय तो उसे सिखाये। भजन सिखाये गीता-पाठ कराये सुन्दर-सुन्दर अक्षर सिखाये। पाठशालाकी तालीमपर मुझे विश्वास नहीं है। पांच-छ घंटे बच्चोंको बिठा रखनेसे उनकी तालीम कभी नहीं होगी। अनेक प्रकारके उद्योग चलने चाहिए और उसमें एक-आध घंटा सिखाना काफी है। काममें से ही गणित इत्यादि सिखाना चाहिए। मकान इस तरहके होने चाहिए कि *एक पैसा मजदूरी मिली तो हम पहला दर्जा और उससे ज्यादा मिली तो* दूसरा दर्जा। इसी प्रकारसे उन्हें उद्योग सिखाकर उसीमें शिक्षा देनी चाहिए। मेरी मा 'भक्ति-मार्ग-प्रदीप' पढ़ रही थी। उसे पढ़ना कम आता था पर टूटे-फूटे अक्षर टो-टोकर पढ़ रही थी। एक दिन एक भजनके पढ़नेमें उसने पन्द्रह मिनट खर्च किये। मैं ऊपर बैठा था। नीचे आया और उसे वह भजन सिखा दिया। और पढ़ाकर देखा पन्द्रह-बीस मिनटमें ही वह भजन उसे ठीक आ गया। उसके बाद रोज मैं उसे कुछ देर तक बताता रहता था। उसकी वह पुस्तक पूरी करा दी। इस प्रकार जो-जो सिखाने लायक हो वह सिखाते रहना चाहिए और सीखते भी रहना चाहिए। यह सबके बस आने की बात नहीं है। पर उद्योग और भक्ति तो सबके बस आ सकती है। उन्हें करना चाहिए और इन उद्योगोंके सिवाय मुझे तो मुक्तिका दूसरा उपाय नहीं दिखाई देता है।

१४

गांधीजीकी सिखावन

अभी इस समय दिल्लीमें यमुना नदीके किनारेपर एक महान् पुरुष का देह अग्निमें जल रहा है। हम यहां जिस तरह अब प्रार्थना कर रहे हैं उसी तरह हिन्दुस्तानभरमें प्रार्थना चल रही है। कलके ही दिन। ग्रामके

पांच बज गये थे। प्रार्थनाका समय हुआ और गांधीजी प्रार्थनाके लिए निकले। प्रार्थनाके लिए लोग जमा हुए थे। गांधीजी प्रार्थनाकी जगहपर पहुंचे ही थे कि किसी नौजवानने आगे झपटकर गांधीजीकी देहपर गोलियां चलाईं। गांधीजीकी देह गिर पड़ी। खून की धारा बहने लगी। बीस मिनटोंके बाद देहका जीवन समाप्त हुआ। सरदार वल्लभभाईने एक बात बड़े महत्त्वकी कही। वह यह कि गांधीजीके चेहरेपर दया-भाव तथा माफीका भाव यानी अपराधीके प्रति क्षमावृत्ति दिखाई देती थी। आगे चलकर वल्लभभाईने कहा कि इस समय कितना ही दुःख क्यों न हुआ हो गुस्सा नहीं आने देना चाहिए और यदि आये भी तो उसे रोकना चाहिए। गांधीजीने जो चीज हमें सिखाई, उसका अमल उनके जीते-जी हम नहीं कर पाये। लेकिन अब उनकी मृत्युके बाद तो करें।

ऐसी ही घटना पांच हजार साल पहले हिन्दुस्तानमें घटी थी। भगवान् श्रीकृष्णकी उमर ढल गई थी। जीवनभर उद्योग करके वह थक गये थे। गांधीजीकी तरह उन्होंने जनताकी निरन्तर सेवा की थी। थके हुए एक बार जंगलमें वह किसी पेड़के सहारे आराम ले रहे थे। इतनेमें एक व्याध यानी शिकारी उस जंगलमें पहुंचा। उसे लगा कि कोई हिरन पेड़के सहारे बैठा है। शिकारी जो ठहरा! उसने अच्छा साधकर तीर छोड़ा। तीर भगवान‌के पांवमें लगकर खूनकी धारा बहने लगी। शिकारी अपना शिकार पकड़नेके इरादेसे नजदीक आया। लेकिन सामने प्रत्यक्ष भगवानको जख्मी पाया। उसे बड़ा दुःख हुआ। अपने हाथोंसे बड़ा पाप हुआ ऐसा सोचकर वह दुःखी हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण तो थोड़े ही समयमें चल बसे। लेकिन मरनेके पहले उन्होंने उस व्याधसे कहा "हे व्याध! डरना नहीं। मृत्युके लिए कुछ-न-कुछ निमित्त लगता ही है। तू निमित्त बन गया।" ऐसा कहकर भगवान्ने उसे आशीर्वाद दिया।

इसी तरह की घटना पांच हजार वर्षोंके बाद फिरसे घटी है। यों देखनेमें तो ऐसा दिखाई देगा कि उस व्याधने अज्ञानवश तीर मारा था। यहां इस नौजवानने सोच-समझकर, गांधीजीको ठीक पहचानकर, पिस्तौल चलाई। इसी कामके लिए वह दिल्ली गया था। वह दिल्लीका रहनेवाला नहीं था। गांधीजीके प्रार्थनाके लिए जाते हुए वह उनके पास पहुंचा और

बिलकुल नजदीक जाकर उसने गोलियां छोड़ीं। ऊपरसे यों दिखाई देता कि गांधीजीको वह मारता था। लेकिन वास्तवमें ऐसा नहीं था। जैसा वह न्याय मानता था वैसा ही वह धुनका भी पक्का था। उसकी यह भावना थी कि गांधीजी हिन्दूधर्मको हानि पहुंचा रहे हैं और इसलिए उसने उनपर गोलियां छोड़ीं। लेकिन दुनियामें आज हिन्दूधर्मका नाम यदि किसीने उज्ज्वल रखा तो वह गांधीजीने ही रखा है। उन्होंने खुद ही कहा था कि 'हिन्दूधर्मकी रक्षा करनेके लिए किसी मनुष्यको नियुक्त करनेकी जरूरत यदि भगवानको महसूस हुई तो इस कामके लिए वह मुझे ही नियुक्त करेगा।' इतना आत्मविश्वास उनमें था। उन्हें जो सत्य मालूम होता था वह वह साफ-सीधे कह देते थे। बड़े लोग अपनी रक्षाके लिए 'बॉडी गार्ड' यानी देह-रक्षक रखते हैं। गांधीजीने ऐसे देह-रक्षक कभी नहीं रखे। देहको वह तुच्छ समझते थे। मृत्युके पहले ही वह मरकर रहे थे। निर्भयता उनका धन था। जहां किसी फौजको भी जानेकी हिम्मत न हो वहां अकेले जानेकी उनकी तैयारी थी।

जो सत्य है, लोगोंके हितका है वही कहना चाहिए, भले ही किसीको अच्छा लगे या बुरा लगे या उसका परिणाम दुःख भी मिले — ऐसी उनकी वृत्ति थी। वह कहते थे "मृत्युसे डरनेका कोई कारण ही नहीं है क्योंकि हम सब ईश्वरके ही हाथमें हैं। इसलिए जबतक वह देना लेना चाहता है तबतक लेगा और जिस क्षण वह उसे लेना चाहेगा उस क्षण उठा लेगा। इसलिए जो सत्य लगता है वही कहना हमारा धर्म है। ऐसे समय यदि मैं मानव अकेला भी पड़ जाऊं और सारी दुनिया मेरे खिलाफ हो जाय तो भी मुझे जो सत्य दिखाई देता है वही मुझे कहना चाहिए।" उनकी इस तरहकी निर्भीकतापूर्ण वृत्ति थी। और उनकी मृत्यु भी किस अवस्थामें हुई! वह प्रार्थनाकी तैयारीमें थे। मानो उस समय उनके चित्तमें भगवानके सिवा दूसरा विचार नहीं था। उनका सारा जीवन ही प्रार्थनामय तथा परोपकारमय रहा है। परन्तु फिर भी प्रार्थनाकी भावना और प्रार्थनाका समय विशेष पवित्र कहना चाहिए। राजनैतिक आदि अनेक महत्त्वके कामोंमें वह रहते थे लेकिन उनका प्रार्थनाका समय कभी नहीं टला। ऐसे प्रार्थनाके समय ही देहमेंसे मुक्त होनेके लिए मानो भगवानने मौका दिया। अपना

काम करते हुए मृत्यु हुई, इस विषयका उनके दिलका आनंद और निमित्त मात्र बने हुए गुनहगारके प्रति क्षमाभाव इस तरहका दोहरा भाव उनके चेहरे पर मृत्युके समय था ऐसा सरदारजीको दिखाई दिया।

गांधीजीने उपवास छोड़ा उस समय देशमें शांति रखनेका जिन्होंने वचन दिया उनमें कांग्रेस मुसलमान सिक्ख हिन्दूमहासभा राष्ट्रीय स्वयं सेवक-संघ आदि सब थे। हम प्रेमके साथ रहेंगे ऐसा उन्होंने वचन दिया और साथ उस तरह रहने भी लगे थे कि एक दिन प्रार्थना-सभामें गांधीजीको लक्ष्य करके किसीने बम फेंका। वह उन्हें लगा नहीं। उस दिन प्रार्थनामें गांधीजीने कहा "मैं देशकी और धर्मकी सेवा भगवानकी प्रेरणासे करता हूं। जिस दिन मैं चला जाऊं, ऐसी उसकी मर्जी होगी उस दिन वह मुझे ले जायगा। इसलिए मृत्युके विषयमें मुझे कुछ भी विशेष नहीं मालूम होता है।" दूसरा प्रयोग सफल हुआ। भगवान्ने गांधीजीको मुक्त किया।

हम सब देह छोड़कर जानेवाले हैं। इसलिए मृत्युके विषयमें तनिक भी दुःख माननेका कारण नहीं है। माताकी मनमें दो-चार बच्चोंके विषय में जो वृत्ति रहती है वह दुनियाके सब लोगोंके विषयमें गांधीजीकी थी। हिन्दू हरिजन मुसलमान ईसाई और जिन राज्यकर्ताओंसे लड़े थे उनके इन सबके प्रति उनके दिलमें प्रेम था। सज्जनोंपर जिस तरह प्रेम करते हैं वैसे दुर्जनोंपर भी करो शत्रुको प्रेमसे जीतो ऐसा मंत्र उन्होंने दिया। उन्होंने ही हमें सत्याग्रह सिखाया। खुद धार्मिकता समझकर बाकी लोगोंको जरा भी तकलीफ न पहुंचे यह शिक्षा उन्होंने हमें दी। जैसा पुराना देह छोड़कर जाता है तब वह रोनेका प्रसंग नहीं होता। वे हमें छोड़कर जाते हैं उस समय जैसा लगता है वैसा गांधीजीके मरनेसे लगेगा जरूर लेकिन उससे हमें उदासी नहीं लानी चाहिए।

एकनाथ महाराजने भागवतमें कहा है "जन्मकाल दुःखका और रोने साथ जन्मता—जीवोंका साथ रूप रहता। एक मुक्त करनेवाला गुरु मरनेके समय हंसने लगा "अब मैं मरता हूं"। तब उसके शिष्य भी रोने लगे। इस तरह गुरु मरनेवाला और चेला रोनेवाला दोनोंने ही जो बोध (ज्ञान) प्राप्त किया था वह दिखा दिया ऐसा एकनाथ महाराजने कहा है।

गांधीजी मृत्युसे डरनेवाले पुरुष नहीं थे। जिस सेवामें निष्काम भावनासे देह लगाई जाय वह सेवा ही भगवान्‌की सेवा है। वह करते हुए जिस दिन वह बुलायेगा उस दिन जानेके लिए तैयार रहें ऐसी सिखावन उन्होंने हमें दी। तदनुसार ही उनकी मृत्यु हुई। इसलिए यह उत्तम भव्य हुआ ऐसा हम पहचान लें और काम करने लग जायं।

कुछ दिन पहले ही आश्रमके कुछ भाई गांधीजीसे मिलने गये थे। उस समय उनका उपवास जारी था। उपवासमें वह जिन्दा रहेंगे या मर जायेंगे इसका किसको पता था? आश्रमके भाइयोंने उनसे पूछा "आप यदि इस उपवासमें चल बसे तो हम कौन-सा काम करें?" गांधीजीने जवाब दिया "इस तरहका सवाल ही आपके सामने कैसे खड़ा हुआ? मैंने तो आपके लिए काफी काम रखा है। हिन्दुस्तानमें खादी करनी है। तालीमका काम चलाना है। इतना बड़ा काम आपके लिए होते हुए भी 'क्या करें?' ऐसी चिंता क्यों होती है?"

इसलिए हमारे लिए उन्होंने जो काम रख छोड़ा वह हमें पूरा करना चाहिए। अनेक जातियां और जमातें मिलकर हम यहां एक साथ रहते हैं। चालीस करोड़का अपना देश है, यह हमारा बड़ा भाग्य है लेकिन एक-दूसरेसे प्रेम करते हुए रहेंगे तभी वह होगा। इतना बड़ा देश होनेका भाग्य शायद ही मिलता है। हमारे देशमें अनेक धर्म हैं, अनेक पंथ हैं। मैं तो यह हमारा वैभव है यह समझता हूं। लेकिन हम सब प्रेमके साथ रहेंगे तभी यह वैभव सिद्ध होगा। हम प्रेमसे रहें यही गांधीजीने अपने अन्तिम उपवाससे हमें सिखलाया है। सबने एक-दूसरेके साथ प्रेमसे रहें इसलिए जिस तरह माता भोजन छोड़ देती है, वैसा ही उनका यह उपवास था। सारे मनुष्य एकसे हैं यह उन्होंने हमें सिखाया। हरिजन-सेवा खादी सेवा ग्राम-सेवा तालीमकी सेवा आदि अनेक सेवा-कार्य हमारे लिए वह छोड़ गये हैं।

अब इस समय मैं अधिक कहना नहीं चाहता हूं। सबके दिल एक विशेष भावनासे भरे हुए हैं। लेकिन मुझे कहना यह है कि केवल शोक करते न बैठें। हमारे सामने जो काम पड़ा है उसमें लग जाय। यह जो मैं आपको कह रहा हूं वैसा ही आप मुझे भी कहें। इस तरह एक-दूसरेको बोध

देते हुए हम सब गांधीजीके बताये काम करने लग जायं। गीतामें और कुरानमें कहा है कि भक्त और सज्जन एक-दूसरेको बोध देते हैं और एक-दूसरेपर प्रेम करते हैं। वैसा हम करें। आज तक बच्चोंकी तरह हम कभी कभी झगड़ते भी थे। हमें वे सम्भाल लेते थे। वैसा सबको सम्भालनेवाला अब नहीं रहा है। इसलिए एक-दूसरेको बोध देते हुए और एक दूसरेपर प्रेम करते हुए हम सब मिलकर गांधीजीकी सिखावन पर चलें।

१५

सर्वोदयकी विचार-सरणी

एक साल पहले इसी दिन और ठीक इसी समय वह घटना घटी कि जिसके कारण हम सबको हमेशाके लिए शरमिंदा होना पड़ेगा। लेकिन वह घटना ऐसी भी है कि जिससे हमें निरन्तर प्रकाश मिल सकता है। उस घटनाने हमें देह और आत्माका पृथक्करण अच्छी तरह सिखा दिया है। मुझसे बहुत लोगोंने पूछा कि गांधीजी ईश्वरके निस्सीम उपासक थे तो ईश्वरने उनकी रक्षा क्यों नहीं की? ईश्वरने उनकी जो रक्षा की उससे अधिक रक्षा और हो भी क्या सकती थी? देहासक्तिके कारण हम उसे न पहचानें यह दूसरी बात है। मुझे यहां कुरानका एक वचन याद आता है, जिसमें कहा गया है कि जो ईश्वरकी राहपर चलते हुए कत्ल किये जाते हैं मत समझो कि वे मरे हैं। वे तो जिंदा हैं, यद्यपि तुम देखते नहीं।

"ला तक़ूलु लि मंय् युक्तलु
फी सबीलिल्लाहि अम्वात् बल् अह्याउं
वलाकिन् ला तश् उरून।"

ईश्वरकी राहपर चलते हुए मरना भी जिन्दगी है और शैतानकी राह पर जिंदा रहना भी मौत है। गांधीजीने ईश्वरकी राहपर, सचाई और भलाईकी राहपर, चलनेकी निरन्तर कोशिश की। उसीकी हिदायत वह

लोगोंको देते रहे। इसीके लिए वह जन्म लिए गए। धन्य है उनका जीवन और धन्य है उनकी मृत्यु!

भलाईकी राहपर चलनेकी शिक्षा अनेक सत्पुरुषोंने दी है, लेकिन मानवको अभी पूरा यकीन नहीं हुआ है कि भलाईसे भला होता ही है। वह प्रयोग कर रहा है। देखता है कि क्या बुराई बोनेसे भी भला नहीं उग सकता? बबूल बोनेसे आम और आम बोनेसे बबूल उगेगा ऐसी शंका तो उसके मन में नहीं आती है। शायद पहलेके जमानेमें यह शंका भी उसको रही होगी लेकिन अब तो भौतिक सृष्टिमें 'जैसा बीज तैसा फल' वाला न्याय उसका जम गया है फिर भी नैतिक सृष्टिमें उस न्यायके विषयमें उसे शंका है। साधारण तौरपर भलाईसे भला होता है यह उसने पाया है। लेकिन आखिर भलाई लाभदायी हो सकती है, ऐसा निर्णय अभी उसके पास नहीं है।

दूसरे कुछ लोगोंको आखिर भलाई मंजूर है लेकिन निजी जीवनमें। व्यक्तिगत जीवनमें शुद्ध नीति बरतनी चाहिए उससे मोक्ष तक पा सकते हैं लेकिन सामाजिक जीवनमें भलाईके साथ बुराईका कुछ मिश्रण किये बिना नहीं चलेगा ऐसा उनका खयाल है। सत्य और अहिंसाके सिद्धान्तपर दुनिया टिकती है ऐसा यह विचार है। गांधीजीने इसको कभी नहीं माना और सत्य अहिंसा आदि मूलभूत सिद्धान्तोंका अमल सामाजिक तौरपर हमसे करवाया जिसके फलस्वरूप एक विस्मयकारी स्वराज्य भी हमने पाया है। जिस मात्राका हमारा अमल था उस योग्यताका हमारा यह स्वराज्य है। उसके लिए वे सिद्धान्त जिम्मेदार नहीं हैं हमारा अमल जिम्मेदार है। एक सिद्धान्त जो सिद्धान्त साबित होता है वह सब क्षेत्रोंको लागू होता है। व्यक्तिके लिए अगर शुद्धनीति कल्याणकारी है तो समाजके लिए भी वह वैसी ही कल्याणकारी होनी चाहिए।

वह तो साधन-शुद्धिका महत्त्व करना चाहते थे। स्वराज्यके लिए वह जिंदगी भर लड़े। लेकिन वह कहते थे कि स्वराज्य तो सत्यमय साधनोंसे ही मिल सकता है। शुद्ध साधनोंसे प्राप्त किया हुआ स्वराज्य ही सच्चा स्वराज्य होगा। साधकको साध्यकी अपेक्षा साधनके बारेमें ही अधिक सोचना चाहिए। साधनकी जहां पराकाष्ठा होती है, वहीं साध्यका दर्शन होता है। इसलिए साध्य और साधनका भेद भी काल्पनिक है। साधनोंसे साध्य हासिल होता है इतना ही नही बल्कि उसका रूप भी साधनोंपर निर्भर रहता है। वैसे हरेकको अपना उद्देश्य या मकसद अच्छा ही लगता है। इसलिए अच्छे मकसदका दावा कोई खास कीमत नहीं रखता। साध्य साधनोंमें विसंगति नहीं होनी चाहिए, यह विचार वैसे नया नहीं है लेकिन उसका प्रयोग जिस बड़े पैमानेपर गांधीजीने हिंदुस्तानमें किया वह बेमिसाल है।

दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि सचाई और भलाईका आग्रह तो अच्छा है, लेकिन हर हालतमें क्रियाशील रहनेका महत्त्व अधिक है। अगर भलाई रखनेके प्रयत्नमें क्रियाशीलतामें बाधा आती है तो भलाईका आग्रह कुछ ढीला करके या उस आदर्शसे कुछ नीचे उतरकर, क्रियाशील रहना चाहिए, निष्क्रिय दर्शक नहीं बनाना चाहिए। मैं मानता हूं कि यह भी एक मोह है। जेलमें जब लोगोंको अधिक दिन तक रहना पड़ता था तो उसको 'जेलमें सड़ना' नाम दिया जाता था। तब गांधीजी समझाते थे कि शुद्ध पुरुषकी निष्क्रियतामें भी महान् शक्ति होती है। गीताने अपने अनुपम ढंगसे इसीको अकर्ममें कर्म कहा है। क्रियाशीलता निःसंदेह महान् है। लेकिन सचाई और भलाई उससे भी बढ़कर है। विशेष परिस्थितिमें निष्क्रिय भी रह सकते हैं लेकिन सचाईको कभी छोड़ नहीं सकते।

कुछ लोग जो अपनेको व्यवहारवादी कहते हैं सचाई पसंद करते हैं लेकिन एकपक्षी सचाईमें खतरा देखते हैं। कहते हैं कि सामनेवाला अगर असत्यका उपयोग करता है, हिंसा करता है, तो हम ही सत्य और अहिंसा पर डटे रहेंगे तो हमारा नुकसान होगा। ये लोग वास्तवमें सचाई का मूल्य ही नहीं जानते। अगर जानते होते तो ऐसी दलील नहीं करते। हमारे प्रतिपक्षी भूखे रहते हैं तो हम ही क्यों खायें ऐसी दलील वे नहीं रखते

है। जानते हैं कि जो पाखण्डी वह खाकर पायगा। इसका प्रतिवाद कोई सबब नहीं है। एकपक्षी बात तो मंजूर है लेकिन एकपक्षी सच्चाई प्रीति मंजूर नहीं है। इसका क्या अर्थ है? सामनेवाला जैसा होगा वैसे हम बनेंगे इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसा हमें नचायेगा वैसे हम नाचेंगे। यह पुरुषार्थहीन विचार है और उसमें एक दुःखमय तैयार होना है। दुर्बलताका एक सिलसिला जारी है। उसको तोड़ना है तो हिम्मत करनी चाहिए और निष्ठापूर्वक परिणामका हिसाब लगाये बगैर, प्रेम करना चाहिए, उदारता रखनी चाहिए। आखिर सत्य प्रेम और नम्रता ही व्यापक चीजें हैं। असत्यादि अव्यापक हैं। प्रकाश और अंधकारका यह मसला है, उसमें प्रकाशको डर कैसा?

यह है सत्याग्रहकी विचार-सरणी जैसा कि मैं समझता हूँ। इसीमें सबका भला है इसलिए इसको सर्वोदयकी विचार-सरणी भी कहते हैं। गांधीजीकी हत्या हमारे लिए एक चुनौती है। अगर सचाईमें हमारी परम निष्ठा है उसका अमल हमारे निजी और सामाजिक जीवनमें करनेकी वृत्ति हम रखते हैं तभी हम चुनौतीको हम स्वीकार कर सकते हैं, नहीं तो हम उस चुनौती को स्वीकार कर नहीं सकते। इतना ही नहीं, बल्कि इच्छा न रखते हुए हम उस हत्याकारीके पक्षमें ही शामिल हो जाते हैं।

मैं आशा करता हूँ कि गांधीजीकी पुण्यतिथि हममें चित्त-सुधार करेगी और हम सत्यनिष्ठ जीवन जीकर सर्वोदयकी तैयारीके अधिकारी बनेंगे।

१८

सेवा व्यक्तिकी भक्ति समाजकी

जीवनभरमें मैंने कुछ किया है तो सार्वजनिक काम ही किया है। जब विद्यार्थी-अवस्थामें था तब भी मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक सवालों ही की। जो

कह सकते हैं कि जीवनमें मैंने सिवा सार्वजनिक सेवाके न कुछ किया है न करनेकी इच्छा ही है। पर मेरा आशय है कि जिस प्रकार सार्वजनिक सेवा और लोगोंने की है वैसी मैंने नहीं की। सबेरे एक भाईने मुझसे पूछा "आप कांग्रेसमें नहीं आयेंगे क्या?" मैंने कहा "मैं तो कांग्रेसमें कभी नहीं गया। सेवाकी मेरी पद्धति और प्रवृत्ति कांग्रेसमें आना और वहां काम करना नहीं रही है। इसका महत्त्व मैं जानता हूं सही पर वह मेरे लिए नहीं है। मैं कांग्रेसकी प्रवृत्तियोंसे अनभिज्ञ नहीं हूं। विचार करनेवाले भाई तो बहुत हैं। मैं तो उन लोगोंमें हूं जो मूकसेवा करना चाहते हैं। फिर भी मेरी सेवा उतनी मूक नहीं हो सकी जितनी कि मैं चाहता हूं। सेवाका मेरा उद्देश्य भक्ति भाव है। भक्ति-भावसे ही मैं सेवा करता हूं और बीस सालसे प्रत्यक्ष सेवा कर रहा हूं। प्रचार अभी तक न किया है और न आगे करनेकी संभावना ही है।

मैंने एक सूत्र-सा बना लिया है "सेवा व्यक्तिकी भक्ति समाजकी।" व्यक्तिकी भक्तिमें आसक्ति बढ़ती है इसलिए भक्ति समाजकी करनी चाहिए। सेवा समाजकी करना चाहें तो कुछ भी नहीं कर सकते। समाज तो एक कल्पनामात्र है। कल्पनाकी हम सेवा नहीं कर सकते। माताकी सेवा करनेवाला लड़का दुनियाभरकी सेवा करता है यह मेरी धारणा है। सेवा प्रत्यक्ष वस्तुकी ही हो सकती है अप्रत्यक्ष वस्तुकी नहीं। समाज अप्रत्यक्ष अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है। सेवा तो वह है जो प्रत्यक्षतक पहुंचे। आजकल सेवाकी कुछ अनोखी-सी पद्धति देखनेमें आती है। सेवाके लिए हम विशाल क्षेत्र चाहते हैं। पर अगर अपनी सेवा करनी है सेवामय बन जाना है अपनेको सेवामें लगा देना है तो किसी देहातमें चले जाइये। मुझसे एक भाईने कहा "बुद्धिवाले लोगोंसे आप कहते हैं कि देहातमें चले जाइये। विशाल बुद्धिके विस्तारके लिए उतना क्षेत्र वहां कहां है?" मैंने कहा "ऊंचाई तो है? अगर आकाश तो है? वह ज्यादा मजूर नहीं कर सकता। पर ऊंचा मजूर भी कर सकता है, गहरा तो जा सकता है।" आप इतने ऊंचे चढ़ते हैं कि उसका कोई हिसाब नहीं मिलता। कोई बड़े-से-बड़े विज्ञान शास्त्री आकाशकी ऊंचाई मालूम नहीं कर सकता। देहातमें हम लंबा-चौड़ा नहीं पर ऊंचा काम कर सकते हैं। वहां ऊंचे-से

ऊंचे चढ़नेका अवसर है। ऊंची या गहरी सेवा यहां शुरू हो सकती है। हमारी यह उत्साह सेवा प्रथम श्रेणीकी सेवा हो जायगी और फलदायक भी होगी।

राष्ट्रके सारे प्रश्न देहातके व्यवहारमें आ जाते हैं। जितना समाज शास्त्र राष्ट्रमें है उतना एक कुटुम्बमें भी आ सकता है देहातमें तो है ही। समाजशास्त्रके अध्ययनके लिए गांवमें काफी गुंजाइश है। मैं तो इस निश्चयको बुद्धिका प्रमाण ही समझूंगा कि प्रौढ़ विवाह प्रचलित होनेसे भारतवर्ष सुधर गया और बाल-विवाहसे बिगड़ गया था। प्रौढ़-विवाहोंमें भी अक्सर वैवाहिक आनन्द देखनेमें नहीं आता और बाल-विवाहके भी ऐसे उदाहरण देखे गये हैं जिनमें पति-पत्नी सुख-शान्तिसे रहते हैं। विवाह-संस्थामें उसकी पवित्र भावना कैसे आवे यह मसला हमने हल कर लिया तो सब कुछ कर लिया। विवाहका उद्देश ही यह है। इसी प्रकार हिन्दुस्तानकी राजनीतिका नमूना भी देहातमें पूरा-पूरा मिल जाता है। एक देहातकी भी जनताको हमने आत्म-निर्भर कर दिया तो बहुत बड़ा काम कर लिया। वहांके अर्थ शास्त्रको कुछ व्यवस्थित कर दिया तो बहुत-कुछ हो गया। मुझे आशा है कि देहाती भाई-बहनोंके बीचमें रहकर आप उनके साथ एकरस हो जायंगे। हां, वहां जाकर हम उनके साथ दरिद्रनारायण बनना है, पर 'बेवकूफ-नारायण' नहीं। अपनी बुद्धिका उनके लिए उपयोग करना है। निरहंकार बनना है। हम यह न समझें कि वे सब निरे बेवकूफ ही होते हैं। भारतके देहातोंका अनुभव और वेदोंकी तरह चाहे सदियोंका नहीं कम-से-कम बीस हजार वर्षका है। वहां जो अनुभव है, उससे हमें लाभ उठाना है। आग मशालकी तरह धुआं बाहर भी नहीं पैदा करता है और पूरी तरहसे निरहंकार बनकर उसमें प्रवेश करता है।

एक प्रश्न यह है कि सवर्ण हिन्दू समझते हैं कि वे सुधारक तो आपको बिगाड़ रहे हैं। सवर्णोंके साथ हमारा उतना संबंध नहीं जितना कि हरिजनोंके साथ है। सवर्णोंको अपनी प्रवृत्तिकी ओर खींचने और उनकी शंका दूर करनेके विषयमें क्या सोचा गया है?

अस्पृश्यता निवारणका काम हमें दो प्रकारसे करना है। एक तो हरिजनोंकी आर्थिक अवस्था और उनकी मनोवृत्तिमें सुधार करके और दूसरे

हिन्दू धर्मकी शुद्धि करके अर्थात् उसको उसके असली रूपमें लाकर। अस्पृश्यता माननेवाले सब दुर्जन हैं यह हम न मानें। वे अज्ञानमें हैं ऐसा मान सकते हैं। वे दुर्जन या दुष्ट बुद्धि नहीं हैं यह तो उनके विचारकोटीकी संकीर्णता है। प्लेटोने कहा था सिवा ग्रीक लोग के मेरे ग्रन्थोंका अध्ययन और कोई न करे। इसका यह अर्थ हुआ कि ग्रीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मनुष्यकी आत्मा व्यापक है पर व्यापकता उसमें रह ही जाती है। आखिर मनुष्यकी आत्मा एक देहके अन्दर बसी हुई है। इसलिए सनातनियोंके प्रति खूब प्रेमभाव होना चाहिए। हम उनका विरोध नहीं करना चाहिए। हम तो वहां बैठकर चुपचाप सेवा करें। हरिजनोंके साथ-साथ वहां जब अवसर मिले सवर्णोंकी भी सेवा करें। एक भाई हरिजनोंका स्पर्श नहीं करता पर वह दयालु है। हम उसके पास जायं उसकी दयालुताका लाभ उठायें। उसकी मर्यादाको समझकर उससे बात करें। कोई दिनमें उसका हृदय शुद्ध हो जायगा उसके अन्तरका अन्धकार दूर हो जायगा। सूर्यकी तरह हमारी सेवाका प्रकाश स्वतः पहुंच जायगा। हमारे प्रकाशमें हमारा विश्वास होना चाहिए। प्रकाश और अन्धकारकी लड़ाई तो एक क्षणमें ही खत्म हो जाती है। लेकिन तरीका हमारा अहिंसाका हो प्रेमका हो। मेरी मर्यादा यह है कि मैं दरवाजा ढकेलकर अन्दर नहीं चला जाऊंगा। मैं तो सूर्यकी किरणोंका अनुकरण करूंगा। दीवारमें छप्परमें या किवाड़में कहीं जरा-सा भी छिद्र होता है तो किरणें चुपचाप अन्दर चली जाती हैं। यही दृष्टि हम रखनी चाहिए। हममें जो विचार है वह प्रकाश है यह मानना चाहिए। किसी गुफामें एक लाख वर्षका भी अन्धकार एक क्षणमें ही प्रकाशसे दूर हो जायगा। लेकिन यह होगा अहिंसाके ही तरीकेसे। सनातनियोंको गालियां देना तो अहिंसाका तरीका नहीं है। हमें मुंहसे खूब तोल-तोलकर शब्द निकालने चाहिए। हमारी वाणीकी कटुता यदि चली गई तो उनका हृदय पसीज जायगा। ऐसी लड़ाई आजकी नहीं बहुत पुरानी है। संतोंका जीवन अपने विरोधियोंके साथ झगड़नेमें ही बीता। पर उनके झगड़नेका तरीका प्रेमका था। जिस भगवान्ने हमें बुद्धि दी है उसीने हमारे प्रति-पक्षियोंको भी दी है। आजसे पन्द्रह-बीस वर्ष पहले हम भी तो उन्हींकी तरह अस्पृश्यता मानते थे। हमारे संतोंने तो आत्मविश्वासके

साथ काम किया है। वाद-विवादमें पड़ना हमारा काम नहीं। हम तो सेवा करते-करते ही खत्म हो जायं। हमारे प्रचार-कार्यका सेवा ही विशेष साधन है। दूसरोंके दोष बताने और अपने विचार सामने रखनेका मोह हमें छोड़ देना चाहिए। मां अपने बच्चेके दोष थोड़े ही बताती है, वह तो उसके ऊपर प्रेमकी वर्षा करती है उसके बाद फिर वही दोष बतलाती है। असर ऐसी ही प्रेममयी सेवाका होता है।

जब हम सेवा करनेका उद्देश्य लेकर देहातमें जाते हैं तब हमें यह नहीं सूझता कि कार्यका आरम्भ किस प्रकार करना चाहिए। हम शहरोंमें पलनेके आदी हो गये हैं। देहातकी सेवा करनेकी इच्छा ही हमारा मूलधन—हमारी पूंजी—होती है। अब सवाल यह खड़ा हो जाता है कि इतनी थोड़ी पूंजीसे व्यापार किस तरह शुरू करें। मेरी सलाह तो यह है कि हमें देहातमें जाकर व्यक्तियोंकी सेवा करनेकी तरफ अपना ध्यान रखना चाहिए, न कि सारे समाजकी तरफ। सारे समाजके समीप पहुंचना संभव ही नहीं है। रणभूमिमें लड़नेवाले सिपाहीसे अगर हम पूछें कि किसके साथ लड़ता है तो वह कहेगा "शत्रुके साथ।" लेकिन लड़ते समय वह अपना निशाना किसी एक ही व्यक्तिपर लगाता है। ठीक इसी प्रकार हमें भी सेवा-कार्य करना होगा। समाज अव्यक्त है परन्तु व्यक्ति व्यक्त और स्पष्ट है। उसकी सेवा हम कर सकते हैं। डाक्टरके पास जितने रोगी जाते हैं उन सबको वह दवा देता है मगर हरेक रोगीका वह ख्याल नहीं रखता। प्रोफेसर सारे क्लासको पढ़ाता है पर हरेक विद्यार्थीका वह ध्यान नहीं रखता। ऐसी सेवासे बहुत लाभ नहीं हो सकता। वह डाक्टर जब कुछ रोगियोंके व्यक्तिगत सम्पर्कमें आयेगा या प्रोफेसर जब कुछ चुने हुए विद्यार्थियोंपर ही विशेष ध्यान देगा तभी वास्तविक लाभ हो सकेगा। हां इतना ख्याल हमें जरूर रखना होगा कि व्यक्तियोंकी सेवा करनेमें अन्य व्यक्तियोंकी हिंसा, नाश या हानि न हो। देहातमें जाकर इस तरह अगर कोई कार्यकर्ता सिर्फ पच्चीस व्यक्तियोंकी ही सेवा कर सका तो समझना चाहिए कि उसने काफी काम कर लिया। ग्राम-जीवनमें प्रवेश करनेका यही सुगम तथा उत्तम मार्ग है। मैं यह अनुभव कर रहा हूं कि जिन्होंने मेरी व्यक्तिगत सेवा की है उन्होंने मेरे जीवन

पर अधिक प्रभाव डाला है। बापूजीके लेख मुझे कम ही याद आते हैं लेकिन उनके हाथका परोसा हुआ भोजन मुझे सदा याद आता है। और मैं मानता हूं कि उससे मेरे जीवनमें बहुत परिवर्तन हुआ है। यह है व्यक्तिगत सेवाका प्रभाव। व्यक्तियोंकी सेवामें समाज-सेवाका निषेध नहीं है। समाज गीताकी भाषामें अनिर्देश्य है निर्गुण है और व्यक्ति सगुण और साकार अतः व्यक्तिकी सेवा करना आसान है।

१७

ग्राम-सेवा और ग्राम-धर्म

हमें देहातियोंके सामने ग्रामसेवाकी कल्पना रखनी चाहिए, न कि राष्ट्र धर्मकी। उनके सामने राष्ट्र-धर्मकी बातें करनेसे लाभ न होगा। ग्राम धर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सहज है उतना राष्ट्र-धर्म नहीं। इसलिए हमें उनके सामने ग्राम-धर्म ही रखना चाहिए, राष्ट्र-धर्म नहीं। ग्राम-धर्म सगुण साकार और प्रत्यक्ष होता है राष्ट्र-धर्म निर्गुण निराकार और परोक्ष होता है। बच्चेके लिए त्याग करना मानो सिखाना नहीं पड़ता। आपसके झगड़े मिटाना गांवकी सफाई तथा स्वास्थ्यका ध्यान रखना आयात-निर्यातकी वस्तुओं और ग्रामके पुराने उद्योगोंकी जांच करना नये उद्योग खोज निकालना इत्यादि गांवके जीवन-व्यवहारसे संबंध रखनेवाली हरेक बात ग्राम-धर्ममें आ जाती है। पुरानी पंचायत-पद्धति नष्ट हो जानेसे देहातकी बड़ी हानि हुई है। झगड़े निबटानेमें पंचायतका बहुत उपयोग होता था। असेम्बलीके चुनावसे हमें यह अनुभव हुआ है कि देहातियोंको राष्ट्र-धर्म समझना कितना कठिन है। सरदार वल्लभभाई और पंडित मालवीयजीके बीच मतभेद हो गया अब इसमें बेचारा देहाती समझे तो क्या समझे। उसके मनमें दोनों ही नेता समानरूपसे पूज्य हैं। वह किसे माने और किसे छोड़े? इसलिए ग्राम-सेवामें हमें ग्राम-धर्म ही अपने सामने रखना चाहिए। वैदिक ऋषियोंकी भांति हमारी भी प्रार्थना यही

होनी चाहिए कि "ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्" —हमारे गांवमें बीमारी न हो।

अपनी बात जो मैं कहना चाहता हूं वह है सेवकके रहन-सहनके बारेमें। सेवककी आवश्यकताएं देहातियोंसे कुछ अधिक होनेपर भी वह काम-सेवा कर सकता है। लेकिन उसकी ये आवश्यकताएं विजातीय नहीं सजातीय होनी चाहिए। किसी सेवकको दूधकी आवश्यकता है, दूधके बिना उसका काम नहीं चल सकता और देहातियोंको तो घी-दूध आवश्यक मात्रामें नहीं मिलता, तो भी देहातमें रहकर वह दूध ले सकता है, क्योंकि दूध सजातीय अर्थात् देहातमें पैदा होनेवाली चीज है। किन्तु सुगन्धित साबुन देहातमें पैदा होनेवाली चीज नहीं है। इसलिए साबुनकी विजातीय आवश्यकता समझना चाहिए और सेवकको उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। कपड़े साफ रखने की बात लीजिये। देहाती लोग अपने कपड़े मैले रखते हैं, लेकिन सेवकको तो उन्हें कपड़े साफ रखनेके लिए समझाना चाहिए। इसके लिए बाहरसे साबुन मंगाना और उसका प्रचार करना मैं ठीक नहीं समझता। देहातमें कपड़े साफ रखनेके लिए जो साधन उपलब्ध हैं या हो सकते हैं, उन्हींका उपयोग करके कपड़े साफ रखना और लोगोंको उसके विषयमें समझाना सेवकका धर्म हो जाता है। देहातमें उपलब्ध होनेवाले साधनोंसे ही जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेकी ओर उसकी हमेशा दृष्टि रहनी चाहिए। सजातीय वस्तुका उपयोग करनेमें भी सेवकका विवेक और संयमकी आवश्यकता तो रहती ही है। मनमानापन और देहातमें पूरा न हो सकेगा।

खादी प्रचारके कामसे अमीतक बहुतेरा ही उपयोग हुआ है। एक गांवके रहनेवाले कपड़की अभी खोज हो रही है। मैं इसे एक मामला समझा करता हूं। लेकिन मेरे पास तो एक नया मामला बनता है और वह है नई तकली। मैं सचमुच ही उसे नया मामला बनता मानता हूं। खादी उत्पत्तिके लिए चरखा उत्तम है लेकिन आर्थिक स्वावलम्बनके लिए वह भी ही उपयुक्त है। चरखेका चाहे जितना भी प्रचार क्यों न हो, वह सर्वोदय काम नहीं दे सकता। चरखेका उपयोग तो गांवके अन्दर रहनेवाले ही कर सकते हैं पर तकली सबके लिए है। तकली सर्वांग समान है। यहां

जहाँ यह चलेगी वहाँ वस्त्र-स्वावलंबनका कार्य अच्छी तरह चलेगा। मुझसे बिहारके एक भाई कहते थे कि वहाँ मजदूरोंके लिए भी तकलीका उपयोग हो रहा है। तकलीपर कातनेवालोंको वहाँ हफ्तेमें तीन-चार पैसे मिल जाते हैं लेकिन उनके कातनेकी जो गति है, वह तीन या चार गुनी तक बढ़ सकती है। गति बढ़ानेसे मजदूरी भी तीन या चार-पांच गुना तक मिल सकेगी। यह कोई मामूली बात नहीं है। हमारे देशमें एक व्यक्तिको चौदह पन्द्रह गज कपड़ा चाहिए। इसके लिए प्रतिदिन सिर्फ एक सौ तार कातनेकी जरूरत है। यह काम तकलीपर आध घंटेमें हो सकता है। चरखा बिगड़ता भी रहता है पर तकली तो हमेशा आपकी सेवामें हाजिर रहती है। इसीलिए मैं उसे सदा आपका चरखा मानता हूं।

देहातमें सफाईका काम करनेवाले सेवक कहते हैं कि कई दिनतक यह काम करते रहनेपर भी देहाती लोग हमारा साथ नहीं देते। यह शिकायत ठीक नहीं। स्व-धर्म समझकर ही अगर हम यह काम करेंगे तो अकेले रह जानेपर भी हमें उसका दुःख न होगा। सूर्य अकेला ही होता है न? यह मेरा काम है। दूसरे करें या न करें, मुझे तो अपना काम करना ही चाहिए—यह समझकर जो सेवक कार्यारंभ करेगा उसको सिंहावलोकन करनेकी यानी यह देखनेकी कि मेरे पीछे मददके लिए कोई और है या नहीं आवश्यकता ही न रहेगी। सफाई-संबंधी सेवा है ही ऐसी चीज कि वह व्यक्तियोंकी अपेक्षा समाजकी ही अधिकतया होगी और होनी चाहिए। परन्तु सेवककी दृष्टि यह होनी चाहिए कि अन्य लोग अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते इसलिए उसे पूरा करना उसका कर्तव्य हो जाता है। उसमें सेवकका स्वार्थ भी है क्योंकि मार्गकी गन्दगीका असर उसके स्वास्थ्यपर भी अवश्य पड़ता है।

औषधि-वितरणमें एक बातका हमेशा खयाल रखना चाहिए कि हम अपने कार्यसे देहातियोंको पंगु तो नहीं बना रहे हैं। उनको तो स्वावलंबी बनाना है। उनको स्वाभाविक तथा संयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाने चाहिए। रोगकी दवादारू देनेकी अपेक्षा हमें ऐसा यत्न करना चाहिए कि रोग होने ही न पावे। यह काम देहातियोंको अच्छी और स्वच्छ आदत सिखानेसे ही हो सकता है।

१८

ग्राम-लक्ष्मीकी उपासना

हमारा यह देश बहुत बड़ा है। इसमें सात लाख देहात हैं। हमारे देशमें शहर बहुत थोड़े हैं। मगर औसत निकाला जाय तो दसमें एक आदमी शहरमें रहता है और नौ देहातमें रहते हैं। पैंतीस करोड़ लोगोंमेंसे ज्यादा-से-ज्यादा चार करोड़ शहरमें रहते हैं। इकतीस करोड़ देहातमें रहते हैं। लेकिन इन इकतीस करोड़का ध्यान शहरोंकी तरफ लगा रहता है। पहले ऐसा नहीं था। देहात मुहताज होकर शहरोंका मुंह नहीं ताकते थे। लेकिन आज सारी स्थिति बदल गई है।

आज किसानके दो ईश्वर होगये हैं। आजतक एक ही ईश्वर था। किसान आकाशकी तरफ देखता था—यानी बरसानेवाले ईश्वरकी तरफ देखता था। लेकिन आज मीलोंके भाव ठहरानेवाले देवताकी तरफ देखना पड़ता है। इसीको आसमानी-सुलतानी कहते हैं। आसमान भी रक्षा करे और सुलतान भी हिफाजत करे। परमात्मा खूब फसल दे और शहर भरपूर भाव दे। इस तरह इन देवताओंका—एक आकाशका और दूसरा धन पैसेका—किसानको पूजना पड़ता है। लेकिन ऐसे दो-दो भगवान काम नहीं आयेंगे। साथी कहते हैं ऊपरवाले ईश्वरको बनाये रखो और इस दूसरे देवताको छोड़ो। एक ईश्वर बस है।

अब इस दूसरे देवताकी यानी शहरके भगवानकी भक्तिसे छुटकारा पानेका उपाय मैं तुम लोगोंको बतलाता हूं। हमारे गांवकी सारी लक्ष्मी यहांसे उड़कर शहरोंमें चली जाती है। अपने पीहरसे चल पड़ती है। इस ग्राम-लक्ष्मीके पैर गांवमें नहीं ठहरते। यह शहरकी तरफ दौड़ती है। पहाड़ पर पानी भरपूर बरसता है लेकिन वह वहां कम ठहरता है। वह चारों तरफ भाग निकलता है। पहाड़ बेचारा कोरा-का-कोरा नंग-धड़ंग बना हुआ खड़ा-का-खड़ा रह जाता है। देहातकी लक्ष्मी इसी तरह चारों दिशाओंमें भाग खड़ी होती है। शहरोंकी तरफ बेतहाशा दौड़ती है। अगर हम उसे रोक सकें तो हमारे गांव सुखी होंगे।

यह देहाती लक्ष्मी कौन-कौनसे रास्तोंसे भागती है सो देखो। उन रास्तोंको बंद कर दो। तब यह रुकी रहेगी। उसके भागनेका पहला रास्ता बाजार है, दूसरा शादी-ब्याह, तीसरा साहूकार, चौथा सरकार और पांचवां व्यसन। इन पांचों रास्तोंको बंद करना शुरू करें।

सबसे पहले ब्याह-शादीकी बात लीजिये। तुम लोग ब्याह-शादीमें कोई कम पैसा खर्च नहीं करते। उसके लिए कर्ज भी करते हो। लड़की बड़ी हो जाती है, अपने ससुरालमें जाकर गिरस्ती करने लगती है। लेकिन शादीके कर्जसे उसके मा-बाप मुक्त नहीं होते। यह रास्ता कैसे मूंदा जाय सो बताता हूं। तुम कहोगे 'खर्चमें कतर-ब्योंत करो। भोज न दो। समारोहकी क्या जरूरत है? —वगैरा-वगैरा। यह ठीक नहीं। समारोह खूब करो। ठाठ-बाटमें कमी नहीं होनी चाहिए। लेकिन मैं अपनी पद्धतिसे कम खर्चमें पहलेसे भी ज्यादा ठाठ-बाट तुम्हें देता हूं।

लड़के-लड़कियोंकी शादी मा-बाप ठीक करें। लेकिन वहां उनका काम खतम हो जाना चाहिए। शादी करना, समारोह करना यह सारा काम गांवका होगा। मा-बाप शादीमें एक पाई भी खर्च नहीं करेंगे। जो करेंगे उनको जुर्माना होगा, ऐसा कायदा गांववालोंको बना लेना चाहिए।

लड़के जितने अपने मा-बापके हैं उतने ही समाजके भी हैं। मा-बापके मर जानेपर क्या वे घूरेपर फेंक दिये जाते हैं? गांव उन्हें सम्हालता है, मदद करता है। शादी भी करेगा। आप इस रास्तेपर जाकर देखिये। प्रयोग कीजिये। साहूकारका कर्ज कम होता है या नहीं देखिये। आपका खर्च घटेगा। झगड़े कम होंगे। सहयोग और आत्मीयता बढ़ेगी।

दूसरा रास्ता बाजारका है। तुम देहाती लोग कपास बोते हो। लेकिन सारा-का-सारा बेच देते हो। फिर बुआईके वक्त बिनौले शहरसे मोल लाते हो। कपास यहां पैदा करते हो। उसे बाहर बेचकर बाहरसे कपड़ा खरीद लाते हो। गन्ना यहां पैदा करते हो। उसे बेचकर शक्कर बाहरसे लाते हो। गांवमें मूंगफली, तिल्ली और अलसी होती है। लेकिन तेल शहरकी तेल-मिलसे लाते हो। अब इतना ही बाकी रह गया है कि यहांसे अनाज भेजकर रोटियां बंबईसे मंगाओ। तुम्हें तो बैल भी बाहरसे

लाने पड़ते हैं। इस तरह सारी चीज बाहरसे मंगाने तो कैसे पार पाओगे।

बाजारमें क्यों जाना पड़ता है? जिन चीजोंकी जरूरत होती है उन्हें भरसक गांवमें ही बनानेका निश्चय करो। स्वराज्य माने स्वदेशका राज्य अपने गांवका राज्य। घर जानेपर तुम लोग सोचो कि अपने गांवमें क्या-क्या बना सकते हो। देखो तुम्हें कौन-कौन-सी चीज चाहिए। तुम्हारी खेतीके लिए बढ़िया बैल चाहिए। उन्हें मोल कहांतक लोगे? तुम्हें बढ़िया बैल यहीं गांवमें पैदा करने चाहिए। गायोंका अच्छी तरह पालन करो। एक-दो बढ़िया सांड उनमें रखो। गायोंके वंशको बढ़िया करो। इससे गायोंकी नस्ल सुधरेगी। अच्छे बैल मिलेंगे। बैलोंके लिए खाद-खली, रस्सी वगैरह चाहिए। गांवके सन और रस्सा वगैरासे यहीं बना लो। तुम्हें कपड़ेकी जरूरत है उसे भी यहीं बनाना चाहिए। गांवमें बुनकर न हों तो लड़कोंको सिखा आओ। रुईको अपने घरमें कातना चाहिए। उसका सूत बुनकर मिल जायगा। मूंगफली गांवमें ही होती है। यहीं घानी शुरू करो तो यहीं ताजा तेल मिलेगा। गन्ना गांवमें होता है। उसका गुड़ बनाओ। शक्करकी बिल्कुल जरूरत नहीं है। गुड़ गरम होता है लेकिन घानीमें मिलानेसे ठंडा हो जाता है। गुड़ स्वास्थ्यके लिए पोषक द्रव्य है। गुड़ बनाओ। खोई जलानेके काम आयगी। गांवके चमारसे ही जूते बनवाओ। इस तरह गांवमें ही सारी चीज बननी चाहिए। पुराने जमानेमें हमारे गांव ऐसे स्वावलंबी थे। उन्हें सच्चा स्वराज्य प्राप्त था।

गांवका ही अनाज, गांवका ही कपड़ा, गांवका ही गुड़, गांवका ही तेल, गांवके ही जूते, गांवके ही औजार, गांवके ही बैल, गांवका ही चरखा, शिक्षा भी— इस दृष्टिसे अपनाओ। फिर देखो तुम्हारे गांव कैसे लहलहाते हैं! तुम कहोगे—यह सपना लगता। यह केवल कल्पना है। मैं एक उदाहरणसे समझाता हूं। मान लो तुम्हारे गांवमें एक बढ़ई है, एक बुनकर है, एक तेली है, एक चमार है। गांवका चमार क्या करता है? वह कहता है, मैं तेलीसे तेल नहीं लूंगा। वह महंगा पड़ता है। तेली क्या कहता है? 'गांवके चमारका बनाया हुआ जूता महंगा है। मैं शहरसे जूता खरीदूंगा।' बुनकर कहता है 'मैं गांवका सूत नहीं लूंगा। पुतलीघरका अच्छा होता है।' किसान

कहता है "मैं बुनकरका कपड़ा नहीं लूंगा। मिलका लूंगा। वह सस्ता होता है।" इस तरह आज हमने एक-दूसरेको मारनेका धंधा शुरू किया है। एक-दूसरेको निबाह लेना धर्म है। उसे छोड़कर हम एक दूसरेको मटियामेट कर रहे हैं।

लेकिन जरा मजा देखिये। तेली चार आने ज्यादा देकर चमारसे महंगा जूता खरीदता है। उसके जेबसे आज चार आने गये। आगे चलकर वह चमार तेलीसे चार आने ज्यादा देकर महंगा तेल खरीदता है। याने उसके चार आने लौट आते हैं। अर्थात् वह महंगा नहीं पड़ता। जहां चार रुपिक व्यवहार होता है, वहां महंगा जैसा कोई शब्द ही नहीं है। गये हुए पैसे दूसरे रास्तेसे लौट आते हैं। मैं उसकी महंगी चीज खरीदता हूं वह मेरी महंगी चीज खरीदता है। हिसाब बराबर। इसमें क्या बिगड़ता है? जुलाहेने खादी बनाई और तेलीने वह खरीद ली। तेलीके लिए खादी महंगी है जुलाहेके लिए तेल महंगा है। बात एक ही है। तेलमें जो पैसे गये वे खादीमें वापस मिले और खादीमें गये सो तेलमें मिल गये। "इस हाथ देना उस हाथ लेना" इस तरहका भाईचारीका सहयोगका व्यवहार पहले होता था लेकिन वह आज लोप हो गया है।

देहातमें प्रेम होता है, भाईचारा होता है। देहातके लोग अगर एक-दूसरेकी जरूरतोंका खयाल नहीं करेंगे तो वह देहात ही नहीं है। वह तो शहरके जैसा हो जायगा। शहरमें कोई किसीको नहीं पूछता। सभी अपने अपने मतलबके लिए वहां इकट्ठे होते हैं जैसे गोबरका ढेर देखकर सैकड़ों कीड़े जमा होते हैं। उन सड़नेवाले गोबरमें सैकड़ों कीड़े बुलबुलाते हैं। वे कीड़े वहां क्यों इकट्ठे हुए? किसी कीड़ेसे पूछो "यहां क्यों आया? तेरे कोई भाई बहन यहां है?" वह कीड़ा कहेगा "मैं गोबर खानेके लिए यहां आया हूं और गोबर खानेमें चूर हूं। मुझे ज्यादा बातचीतकी फुरसत नहीं है।" बाजारमें वह आखिर भीड़ क्या बैठती है सो क्या प्रेमके कारण। उसी तरह शहरमें अविश्वासी समाज जो आपसमें बिलबिलाते रहते हैं कौन किसका भाई जिसका खाना पता रहता है वह क्या प्रेमके लिए? शहरमें स्वार्थ और लोभ है। गांव प्रेमसे बनता है। गांवमें आग लग जाय तो सब लोग अपना अपना काम छोड़कर दौड़ आयेंगे। अगर कोई बैठा होगे

ही रहेगा ? लेकिन बादमें क्या दशा होगी ? सब कोई कहेंगे "पालीका बना जायगा मुझे अपना काम है।" इसीलिए एक कविने कहा है, "गांवों-को ईश्वर बनाता है और शहरोंको मनुष्य।"

हमारे बाप-दादा गांवोंमें रहते थे। आज तो हरकोई शहरमें जाता है। वहां क्या धरा है ? चीज पत्थर है और चूना है। असल लक्ष्मी देहातमें है। पेड़ोंमें फल लगते हैं। खेतोंमें गेहूं होता है, चना होता है। यही सच्ची लक्ष्मी है। यह सच्ची लक्ष्मी छोड़कर सफेद या पीले पत्थर मत लो। तुम शहर जाकर वहांसे सस्ती चीज लाते हो। लेकिन सभी ऐसा करने लगें तो देहात वीरान दिखाई देंगे। अगर देहातोंकी खुशी देखना है तो शहरके बाजारको छोड़ो। गांवकी चीजें खरीदो। जो चीज गांवमें बन ही न सकती हो वह पासवाले कस्बेसे लाओ। कस्बेसे लानेमें भी अगर वह दूसरे गांवमें होती हो तो वहांसे लाओ। आज तो वहां सुविधा नहीं होती तो सोनगीरसे लाओ। वहां अच्छे कपड़े नहीं बनते तो सोनगीरसे लो। वहां रंगरेज न हो तो मालपुरसे रंगाकर मंगाओ। मालपुरका रंगरेज तुम्हारे यहांसे सूत लेकर जायगा तुम उसके यहांसे कपड़े रंगवाओ। तुम्हारे गांवमें जो चीजें न बनती हों उनके लिए दूसरे गांव खोजो। शहरसे कोई चीज खरीदने जाओ तो पहले यह सवाल पूछो कि क्या यह चीज देहातमें बनी है ?—हाथकी बनी हुई है ? पहले उन चीजोंको पसन्द करो। जहांतक हो सके मशीनसे बना हुआ शहरका माल निषिद्ध मानो।

तुम्हारी ग्राम-पंचायतोंको यह काम अपने जिम्मे लेना चाहिए, गांवके झगड़े-टंटे दूर करनेका काम तो पंचायतोंका है ही लेकिन गांवमें कौन-कौन सी चीज बाहर जाती है कौन-कौनसी बाहरसे आती है इसका ध्यान भी पंचायतको रखना चाहिए। नक्शा बनाकर फेहरिस्त बनानी चाहिए। गांवमें वे चीज बाहरसे क्यों आती हैं इसकी जांच-पड़ताल करके उन्हें गांवमें ही बनवानेकी कोशिश करनी चाहिए। मुमकिन नहीं है ? दूसरे गांवको दो लड़के सीखनेके लिए भेज दो। हरेकको यह संकल्प कर लेना चाहिए कि गांवकी ही चीज खरीदूंगा। जो चीज मेरे गांवमें बनती न हो उसे यहीं बनवानेकी कोशिश करूंगा। गांवके नेताओंको इसकी तरफ ध्यान देना चाहिए। कैसे होगा ? क्या होगा ?—न कहो। उठो काम शुरू कर दो।

घट-में सब हो जायगा। फिर तुम ही चीजोंके दाम ठहराओगे। तेली तेल किस भाव देवे, चमार जूता कितनेमें बना दे, बुनकरकी बुनाई क्या हो?— सब-कुछ तुम तय करोगे। जब सभी एक-दूसरेकी चीजें खरीदने लगेंगे तो सब सस्ता-ही-सस्ता होगा। 'सस्ता' और 'महँगा' ये शब्द ही नहीं रहेंगे।

बतलाओ तुम्हारे यहां क्या-क्या नहीं हो सकता? एक नमक नहीं हो सकता। ठीक नमक लाओ बाजारसे। दो मिट्टीका तेल। दरअसल तो मिट्टीके तेल की जरूरत नहीं होनी चाहिए। परंतु उसके बिना काम ही नहीं चलता हो तो खरीदो। तीसरी चीज मसाले। मिर्च तो यहां होती ही है। दरअसल तो मिर्च भी कम कर देनी चाहिए। मिर्चकी शरीरको जरूरत नहीं है। दियासलाई खरीदनी पड़ेगी। कुछ औजार खरीदने पड़ेंगे। दूसरा कोई चारा नहीं है। ये चीजें खरीदो। मिट्टीका तेल धीरे-धीरे कम करो। उसके बदले घानी का तेल काममें लाओ।

परंतु इनके सिवा बाकी सारी चीजें गांवमें ही बनाओ। खादी गांवमें बननी चाहिए। खादीके कपड़ेके लिए सूतके बटन भी यहीं बन सकते हैं। इन दूसरे बटनोंकी क्या जरूरत? अगर छातीपर ये बटन न हो तो क्या प्राण छटपटायेंगे? ऐसी बात तो नहीं है। तो फिर इन्हें फेंक दो। इस कंठीकी क्या जरूरत है? उसके बिना चल नहीं सकता? ऐसी अनावश्यक चीजें काममें लाओगे तो कड़िया पैरोंकी जंजीरकी तरह जकड़ेगी या फांसीकी रस्सीकी तरह गला घोंट देगी। बाहरसे ऐसी कड़िया लाकर अपने शरीरको मत सजाओ। भगवान् श्रीकृष्ण कैसे सजता था? वह क्या बाहरसे कड़िया लाता था? वृन्दावनमें मोरोंके जो पंख गिर जाते थे उन्हींसे वह अपना शरीर सजाता था। पर उन्हें खरीदकर नहीं लाता था। वह मोरोंके पंखसे सजता था। तो क्या भिखारी हो गया था? क्या वामन हो गया था? "मेरे गांवके मोर हैं, उनके पंखोंसे मैं अपने शरीरको सजाऊं तो कोई हर्ज नहीं है। इससे उन मोरोंकी पूजा भी है"—ऐसी भावनासे वह मोरमुकुट लगाता था। और गलेमें क्या पहनता था? वनमाला। वेणी यमुनाके तीरके फूल—ये सब। मिलते हैं। गरीबोंको मिलते हैं, अमीरोंको मिलते हैं। वह व्यासकी वनमाला, देहातकी वनमाला गलेमें पहनता था। और

बजाता क्या था? मुरली। देहातके बांसकी बांसुरी—वह अनमोल था। वही उसका वाद्य था।

हमारे एक मित्र जर्मनी गये थे। वह वहांका एक प्रसंग सुनाते थे। "हम सब विद्यार्थी इकट्ठे हुए थे। इटालियन जर्मन अंग्रेज जापानी सभी सब एक साथ बैठे थे। सबने अपने-अपने देशके राष्ट्रीय वाद्य बजाकर दिखाये। इटालियनोंने वायोलिन बजाया, अंग्रेजोंने अपना वाद्य बजाया। मुझसे कहा गया 'तुम हिंदुस्तानी वाद्य सुनाओ'। मैं चुपचाप बैठा रहा। वे मुझसे पूछने लगे 'तुम्हारा भारतीय वाद्य कौन-सा है?' मैं उन्हें बता नहीं सका।

मैंने तुरन्त अपने उस मित्रसे कहा "अजी हमारा राष्ट्रीय वाद्य बांसुरी है। मानो गांवमें यह पाई जाती है। सीधी-सादी और मीठी। कृष्ण भगवान्ने उसे पुनीत किया है। एक बांसकी नली ली और उसमें छेद बना लिये। बस वाद्य तैयार हो गया।

ऐसा वाद्य श्रीकृष्ण बजाता था। वह गोकुलका स्वदेशी देहाती वाद्य था। अच्छा श्रीकृष्ण खाता क्या था? बाहरकी चीनी लाकर खाता था? वह अपने गोकुलकी मक्खन-मलाई खाता था। दूसरोंको खाना खिलाता था। ग्वालिनें गोकुलकी यह लक्ष्मी मथुरा ले जाती थीं। परन्तु श्रीकृष्ण इन ग्वालिनोंको मटकियां बाहर नहीं जाने देता था। वह उन्हें लूटकर सबको बांट देता था। सारे गोकुलके बालक उसने हृष्ट-पुष्ट किये। जिन्होंने गोकुलपर चढ़ाई की उनके दांत उसने अपने मित्रोंकी मददसे खट्टे किये। गोकुलमें रहकर भी वह क्या करता था? गायें चराता था। उसने दावानल निगल लिया। आगे क्या किया? देहातोंको जलानेवाले लड़ाई-झगड़ोंका खातमा किया। सब लड़कोंको इकट्ठा किया। प्रेम बढ़ाया। इस तरह यह श्रीकृष्ण ग्रामनारायण है। यह तुम्हारे गांवका आदर्श है। गोपालकृष्णने गायोंका वैभव बढ़ाया। गायोंकी सेवा की। ग्वालोंपर प्रेम किया। गांवके पशु-पक्षी नदी गांवका गोवर्धन पर्वत—इन सबपर उसने प्रेम किया। गांव ही उसका देवता रहा। आगे चलकर वह द्वारिकाधीश बने। लेकिन फिर भी गोकुलमें आते थे, फिर गाय चराते थे, गोबरमें हाथ डालते थे, गोशाला बुहारते थे, वनमाला पहनते थे, वंशी बजाते थे, लड़कोंके साथ

गोपालबालोंके साथ खेलते थे। 'व्रजकिशोर' उनका प्यारा नाम था। 'गोपाल' उनका प्यारा नाम था। उन्होंने गोकुलमें असीम आनन्द और सुख पैदा किया।

गोकुलका सुख अमाप था। ऐसे गोकुलके मक्खनके चार कणोंके लिए देवता तरसते थे। श्रमसे गोपालबाल जब भोजन करके दही और 'गोपाल कलेवा' खाकर यमुनाके जलमें हाथ धोने जाते थे तब देवता मछली बनकर वे जूठे अन्नकण खाते थे। उनके स्वर्गमें वह प्रेम था क्या? उन देवताओंको पैसेकी कमी नहीं थी। लेकिन उनके पास प्रेम नहीं था। हमारे शहर आकर देख रहे हैं न? अरे भाई वहां प्रेम नहीं है। वहां भोग हैं पैसे हैं परन्तु आनन्द नहीं है। अपने गांवोंको गोकुलके समान बनाओ। तब वे शहर के अमलदार तुम्हारे गांवकी मक्खन रोटीके लिए लालायित होकर दौड़ते आयेंगे। हम देहातोंको हरा भरा गोकुल बनाना है—स्वाश्रयी स्वावलम्बी आरोग्यसम्पन्न उद्योगशील ग्राम। ईखका कोल्हू चल रहा है, चरखा चल रहा है, घनिया घूम रहा है तेलका कोल्हू चूं-चूं बोल रहा है, कुएं पर मोट चल रही है चमार जूता बना रहा है लुहार काम कर रहा है और बंसी बज रही है—ऐसा गांव बनने दो। अपनी गलतीसे हमने गांवों-को मरघट बनाया। आइये अब फिर उनको गोकुल बनायें।

कागज उद्योगका उदाहरण लीजिये। हम अपना कागज बनायें। घर उद्योगके बनायें। विदेशी कागजकी मशीनें और कारखाने हमें नहीं चाहिए। अपने गांवके देहातके नमूनेका—ग्राम-नमूनेका—हो। उसमें आरम्भ और सरलता बनाओ। गांवके देहातोंका कागज क्यों करते हो? बाहरसे चीज लाकर कारखाना बनाओगे तो गांवके लोग क्या करेंगे। वे असहायसे हाथ बटाना चाहते हैं। उनके जीवन लाओ। हमारे धार्मिक ग्रन्थ-उपासनाके लिए हम कागजके साफ लिखने? गांवके शुभ कागज चाहिए और पत्र चाहिए। कलम चाहिए। यह क्या विलायती होगा? वह पवित्र कलम स्वदेशी ही चाहिए। तुम्हारे गांवके गुरुजनका बनाया हुआ चाहिए। ऐसा हमारे पूर्वजोंने अपनी चीजोंकी कैसी भक्ति करते हैं। उस दृष्टिसे देखो। तब न इधर उधर दूसरी ही दुनिया दिखाई देने लगेगी। स्वर्ग और आनन्द दिखाई देने लगेंगे।

कोई दिनभर धू-धू बीड़ी फूंकते रहते हैं। कहते हैं बीड़ियां तो घर की ही हैं। वे बाहरसे नहीं आतीं। अरे भाई, जहर अगर घरका ही हो तो क्या खा लोगे? घरका जहर खाकर पूरी सोलह आने स्वदेशी मृत्युको स्वीकार करोगे? जहर चाहे घरका हो या बाहरका, त्याज्य ही है। उसी तरह सभी व्यसन बुरे हैं। उन सबको छोड़ना चाहिए। वे प्राणघातक हैं। शराबके बारेमें कहोगे तो पहले महाराष्ट्रमें शराब नहीं थी। महाराष्ट्रका पहला गवर्नर एल्फिन्स्टन साहब था। उसने महाराष्ट्रका इतिहास लिखा है। उसमें वह कहता है "पेशवोंके राज्यमें शराबसे आमदनी नहीं थी। लेकिन आज तो गांव-गांवमें पियक्कड़ हैं। सरकार उलटे उन्हें सुभीता कर देती है। लेकिन सरकार सुविधा कर देती है इसलिए क्या हम शराब पीयें? हिन्दुस्तानमें दो मुख्य धर्म हैं—हिन्दू-धर्म और इस्लाम। इन दोनों धर्मोंमें शराब पीना महान् पाप माना गया है। इस्लाममें शराब हराम है। हिन्दू-धर्ममें शराबकी गिनती पांच महापातकोंमें होती है। शराब पीकर आखिर हम क्या पाते हैं? प्राणोंका, कुटुम्बका, धनका और इन सबसे भिन्न धर्मका—सभी चीजोंका नाश होता है।

बीड़ी और शराबके बाद तीसरा व्यसन है बात बातमें तकरार करना। इसमें झगड़ोंके बायालत लिखत लिखे। तकरार मत करो और अगर झगड़ा हो ही जाय तो गांवके चार भले आदमी बैठकर उसका तस्फिया करें। जिस प्रकार और चीजें गांवकी ही हों उसी प्रकार न्याय भी गांवका ही हो। अदालतकी शरण न लो। अनाज तो तुम्हारे गांवमें ही चाहिए। तुम्हारे खेतोंमें सबकुछ पैदा होता है। लेकिन न्याय तुम्हारे गांवमें न पैदा होता हो तो कैसे काम चलेगा? गांवका धान्य गांवका वस्त्र और गांवका ही न्याय हो। बाहरकी कचहरी अदालतें किस कामकी? चीजोंके लिए जिस तरह हम परावलम्बी न होंगे उसी तरह न्यायके लिए भी नहीं होंगे। प्रेमसे रहो। दूसरेको थोड़ा-बहुत अधिक मिल जाय तो भी वह गांवमें ही रहेगा लेकिन दूर चला जानेपर, न हमें मिलेगा न तुम्हें मिलेगा, सारा गांव न जायगा। गांवके ही पंचोंमें परमेश्वर है। उनकी शरण लो।

भोजन वगैरा अन्य बातोंकी ऊहापोह मना नहीं करता। जीवन निर्मल और विचारमय बनाओ। हरेक काम विवेक-विचारसे करो।

सीधी बात साहूकारकी है। तुम ही अपने घर कपास ओटकर बीजके मालिक बिनौले सम्हालकर रख लोगे, घरमें ही कपड़ा बना लोगे, मूंगफली अलसी घरमें रखकर गांवके कोल्हूसे तेल निकलवा लोगे, अदालत-इजलासमें जाना बंद कर दोगे, गांवमें ही सारे झगड़े तय कर लोगे और मेरे बतलाये ढंगसे ब्याह-शादियां करोगे तो साहूकारकी जरूरत बहुत कम पड़ेगी। लेकिन इसपर भी सभी लोग साहूकारके पाशसे छुटकारा नहीं पायंगे। कर्जदार फिर भी रहेंगे। लेकिन कर्जकी तादाद कम हो जायगी।

तुम्हारी कर्जदारीका सवाल स्वराज्यके बिना पूरी तरह हल नहीं होगा। स्वराज्यमें सबके हिसाब जांचे जायंगे। जिस साहूकारको मूलधनके बराबर ब्याज मिल चुका होगा, उसका कर्ज अदा हो चुका, ऐसा घोषित किया जायगा। जिस साहूकारका मूलधन भी न मिला होगा, सूदके रूपमें भी न मिला होगा, उससे समझौता करेंगे। इसी तरहके उपायसे यह सवाल हल करना होगा। तटस्थ पंच मुकर्रर करके तहकीकातके बाद जो उचित होगा किया जायगा। तबतक मानके बतलाये उपायोंसे काम लेना चाहिए और धीरे-धीरे साहूकारसे दूर रहनेकी कोशिश करनी चाहिए। परन्तु कर्ज चुकानेके फेरमें बाल-बच्चोंकी उपेक्षा न करो। बच्चोंको दूध-घी दो। भरपूर भोजन दो। लड़के सारे समाजके हैं। मैं अपने साहूकारसे कहूंगा "मैं अपने बच्चोंको थोड़ा दूध दूं? उन्हें दूधकी जरूरत है। बच्चे जितने मेरे हैं उतने ही साहूकारके भी हैं। वे सारे देशके हैं। लड़कोंको देनेमें तुम साहूकारको ही देते हो। इसलिए पहले भरपेट खाओ, बाल-बच्चोंको खिलाओ। घरकी जरूरतें पूरी होनेपर कुछ बकाया रहे तो लाकर दे दो। कर्ज तो देना ही है। खा-पीकर देना है। भोग-विलासके बाद नहीं। 'कुछ बचा तो ला दूंगा'—साहूकारसे कह दो।

इस तरह चार बातें बतलाईं। गांवकी लक्ष्मीके बाहर जानेके चार दरवाजे बताये और उन्हें बंद करनेके उपायोंकी दिशा भी बताई। अब पांचवीं बात सरकार है। यह सरकार कैसे बस की जाय? तुम अपनी चीजें बनाने लगो, अपने गांवमें बनाने लगो, तो सरकार अपने-आप सीधी हो जायगी। सरकार यहां क्यों रहती है? विलायतका माल आसानीसे तुम लेकर खुश हाथ बिक सकता है, इसलिए। हम बुद्धिमान बनकर अगर अपने

आप स्वावलम्बी बनायेंगे तो सरकार अपने-आप खतम हो जायगी। जिस चीजकी जरूरत हो उसे गांवमें ही बनाओ। जो इस गांवमें न बन सके उसे दूसरे गांवसे लाओ। शहरके कारखानोंका बहिष्कार करो। विदेशी चीजोंकी तो बात ही कौन पूछता है? विदेशी और स्वदेशी कारखानोंको तुम अपने गांवसे जो खाद्य पहुंचाते हो, उसे बंद करो। आपसमें एकता करो। लड़ना-झगड़ना छोड़ दो। अगर लड़ो भी तो गांवमें ही फैसला कर लो। कचहरी अदालतका मुंह न देखनेका प्रयत्न करो। गांवकी ही चीज, गांवका ही न्याय। अगर ऐसा करोगे तो 'एक पंथ दो काज' होंगे। दरिद्रनारायणका कष्ट दूर होगा और सरकार अन्तर्धान हो जायगी। तुम इस तरह स्वावलम्बी निर्भयसम्पन्न, उद्यमी और हिम्मतपर रहनेवाले बनो। तब सरकार तुम्हारे हक दिये बिना रह ही नहीं सकती। तुम्हारी इतनी ताकत बढ़नेपर भी अगर सरकार तुम्हारे हक न देगी तो फिर सत्याग्रह तो है ही। उस हालतमें जो सत्याग्रह होगा वह ऐसा पचास-साठ हजारका टूटपूंजिया सत्याग्रह न होगा। उसमें तो पचास-साठ लाख लोग शरीक होंगे।

तुम लगानमें अपना दस हजार रुपये देते हो। लेकिन कपड़ेके लिए पच्चीस हजार देते हो। अब मानलो कि यह सरकार यहांसे जाती नहीं सकती। उसका लगान कम नहीं होता। स्वराज्य मिलनेपर कम करेंगे। लेकिन वह स्वराज्य जब होगा तब होगा। फिर भी अगर कपड़ा गांवमें ही बनानेका प्रयत्न कर लो तो क्या होगा। हरेकको तीन सेर रुईकी जरूरत होगी। हर कुटुम्बमें अगर पांच आदमी हों तो पन्द्रह सेर रुई हुई। लोगोंके लिए जितने बिनौलोंकी जरूरत हो उतनी बढ़िया कपास खेतमें बोकर घर पर ही लाओ। बढ़िया बिनौले निकाल। जो रुई होगी उसमेंसे अपने परिवारके कपड़ेके लिए आवश्यकतानुसार रख लो और बाकी को बेच दो। पांच आदमी पन्द्रह सेर रुईके दाम सवा रुपया होंगे। बत्तीससौ आदमियोंका चार-पांच हजारकी रुई लगती होगी। कपड़ा पच्चीस हजारका होगा। उसमेंसे पांच हजार कम कीजिए तो बीस हजार शायद रहेंगे। कपड़ा बनानेमें दस हजार न जायगी लेकिन तुम बीस हजार बचाओगे। इसीलिए गांधीजी कहते हैं कि खादी ही स्वराज्य है। पहले खादीसे बत्तीस बीस हजार रुपये गांवमें रह गए। इस स्वराज्य बिना आप ना क्या होगा?

लगान आधा याने दस हजारका पाँच हजार, हो जायगा। याने तुम्हारे पाँच हजार रुपये बचेंगे। लेकिन खादी बरतनेसे बीस हजार बचेंगे। इसलिए वास्तविक स्वराज्य किस वस्तुमें है यह जानो।

पहले दूसरे कई राज्य हुए तो भी देहातका यह वास्तविक स्वराज्य कभी नष्ट नहीं हुआ था। इसीलिए हमें रोटियोंके लाले नहीं पड़े। परंतु इस राज्यमें यह आर्थिक स्वराज्य देहाती उद्योग-धन्धों का स्वराज्य नष्ट हो गया है। इसीलिए देहात वीरान और उजाड़से दिखाई देने लगे। इंग्लैंडका मुख्य आधार कर या किसान नहीं है बल्कि करोड़ों रुपयेका व्यापार है। लगानके रूपमें उसे दस हजार ही मिलेंगे। लेकिन तुम्हें कपड़ा बेचकर वह बीस हजार ले जायगा। शक्कर, बासलेट वगैरा सैकड़ों ऐसी ही चीजें हैं। इसलिए वास्तविक स्वराज्यको पहचानो। हम सरकारको अपने पराक्रमसे कब निकाल सकेंगे सो देखा जायगा। परंतु तबतक मेरे बतलाये उपायोंसे अपने गाँव स्वावलंबी उद्यमी प्रेममय बनाओ। इसीमें सबकुछ है।

१९

स्वाध्यायकी आवश्यकता

देहातमें जानेवाले हमारे कार्यकर्ताओंमेंसे अधिकांश उत्साही नवयुवक हैं। वे काम शुरू करते हैं उमंग और मजासे लेकिन उनका वह उत्साह अंततक नहीं टिकता। देहातमें काम करनेवाले एक भाईका खत मुझे मिला था। लिखा था — 'मैं सफाईका काम करता तो हूँ लेकिन पहले उसका जो असर गाँववालोंपर होता था अब नहीं होता। इतना ही नहीं बल्कि वह तो मानने लगे हैं कि इसको कहींसे तनख्वाह मिलती है इसीलिए यह सफाईका काम करता है। अन्तमें उस भाईने पूछा है कि क्या अब इस कामको छोड़कर दूसरा काम हाथमें ले लिया जाय?

जो कार्यकर्ताओंको अपने काममें कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगती हैं और यह हाल सिर्फ कार्यकर्ताओंका नहीं, बड़े बड़े विद्वानों और नेताओंकी भी यही हालत है। इसका मुख्य कारण मुझे एक ही मालूम होता है। वह है स्वाध्याय का अभाव। यहांपर 'स्वाध्याय' शब्दका जिस अर्थमें मैं उपयोग करता हूं उसे बता देना आवश्यक है। स्वाध्यायका अर्थ मैं यह नहीं करता कि एक किताब पढ़कर फेंक दी, फिर दूसरी ली। दूसरी लेनेके बाद पहली भूल भी गये। इसको मैं स्वाध्याय नहीं कहता। 'स्वाध्याय' के मानी हैं एक ऐसे विषयका अभ्यास जो सब विषयों और कार्योंका मूल है, जिसके ऊपर बाकीके सब विषयोंका आधार है, लेकिन जो खुद किसी दूसरेपर आश्रित नहीं। उस विषयमें दिनभरमें थोड़े समयके लिए एकाग्र होनेकी आवश्यकता है। अपने-आपको और जगतके साथ अपने सब कामोंको उतने समयके लिए बिल्कुल भूल जाना चाहिए। अपने स्वार्थके संसारमें जितनी बाधाएं और कठिनाइयां पैदा होती हैं वे सभी इस परमार्थी कार्यमें भी खड़ी हो सकती हैं और यह भी संसारका एक व्यवसाय बन जाता है। अगर कोई समझता हो कि परमार्थी काम होनेकी वजहसे स्वार्थी संसारकी झंझटसे मुक्त है तो यह समझ खतरनाक है। इसलिए जैसे कुछ समयके लिए संसारसे अलग होनेकी आवश्यकता होती है वैसे ही इस कामसे भी अलग होनेकी आवश्यकता है, क्योंकि वास्तवमें यह काम केवल भावनाका नहीं है, उसमें बुद्धिकी भी आवश्यकता है। भावना तो देहातियोंमें भी होती है लेकिन उनमें बुद्धिकी न्यूनता है। उसे प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि और भावना एकदम अलग-अलग चीजें हों सो नहीं है। इस विषयमें मैं एक उदाहरण दिया करता हूं।

सूर्यकी किरणोंमें प्रकाश है और उष्णता भी है। उष्णता और प्रकाशको तात्त्विक पृथक्करणसे अलग-अलग कर सकते हैं। फिर भी जहां प्रकाश होता है वहां उसके साथ उष्णता भी होती ही है। इसी तरह जहां सच्ची बुद्धि है वहां सच्ची भावना है और जहां सच्ची भावना है वहां सच्ची बुद्धि है ही। उनका तात्त्विक पृथक्करण हम कर सकते हैं लेकिन वस्तुतः वे एकरूप ही हैं। कोई सोचता हो कि हमें बुद्धिसे कोई मतलब नहीं है, सेवाकी इच्छा है, और इसके लिए भावनाका

होना काफी है तो वह गलत सोचता है। इस बुद्धिकी प्राप्तिके लिए स्वाध्यायकी आवश्यकता है। विद्वानोंको भी ऐसे स्वाध्यायकी जरूरत है। फिर कार्यकर्ता तो अज्ञ है न? उसको तो स्वाध्यायकी विशेष रूपसे जरूरत है। इस विषयमें बहुत-से कार्यकर्ता सोचते हैं कि बीच-बीचमें शहरमें जाकर पुस्तकालयमें जाना, मित्रोंसे मिलना आदि बातें ग्राम सेवाके लिए उपयोगी हैं, इनसे उत्साह बढ़ता है और उस उत्साहको लेकर फिर देहातमें काम करनेमें अनुकूलता होती है। लेकिन वे नहीं जानते कि ज्ञान और उत्साहका स्थान शहर नहीं है। शहर ज्ञानियोंका अड्डा नहीं है।

उपनिषद्में एक कहानी है। एक राजासे किसीने कहा कि एक विद्वान् ब्राह्मण आपके राज्यमें है। उसको खोजनेके लिए राजाने नौकर भेजे। सारा नगर छान डालनेके बाद भी उनको वह विद्वान् नहीं मिला। तब राजाने कहा "अरे, ब्राह्मणको जहां खोजना चाहिए वहां जाकर ढूंढो।" तब वे लोग जंगलमें गये और वहां उनको वह ब्राह्मण मिला। यह बात नहीं कि शहरमें कोई तपस्वी मिल ही नहीं सकता। संभव है कभी-कभी शहरमें भी ऐसा मनुष्य मिल जाय लेकिन वहांका वातावरण उसके अनुकूल नहीं। आत्माका पोषण-रक्षण आजकल शहरोंमें नहीं होता। देहातमें निसर्गके साथ जो प्रत्यक्ष संबंध रहता है वह उत्साहके लिए अत्यन्त आवश्यक है। शहरमें निसर्गसे भेंट कहां? जंगलमें तो नदी, पहाड़, जमीन सब चीजें वहीं सामने दिखाई देती हैं और जंगलके पास तो देहात ही होते हैं, शहर नहीं। सिर्फ उत्साह लेनेके लिए ग्रामसेवकोंको शहरमें आना पड़े इसके बजाय शहरवाले ही कुछ दिनोंके लिए देहातमें आकर कार्यकर्ताओंसे मिलते रहें तो अधिक अच्छा हो। असलमें उत्साह तो दूसरी ही जगह है। वह जगह है अपनी आत्मा। उसके चिंतनके लिए कम-से कम रोज एकाध घंटा अलग निकालना चाहिए। तस्वीर खींचनेवाला तस्वीरको देखनेके लिए दूर जाता है, और वहांसे उसको तस्वीरमें जो दोष दिखाई देते हैं उनको पास आकर सुधार लेता है। तस्वीर तो पास रहकर ही बनानी पड़ती है लेकिन उसके दोष देखनेके लिए अलग हट जाना पड़ता है। इसी प्रकार सेवा करनेके लिए पास तो आना ही

पड़ेगा। लेकिन मार्गको देखनेके लिए कुदरती प्रसंग पर मिलनेकी जरूरत भी है।

यही स्वाध्यायका उपयोग है। अपनेको और अपने कार्यको बिलकुल भूल जाना और तटस्थ होकर देखना चाहिए। फिर उसीमेंसे उत्साह मिलता है, मार्ग-दर्शन होता है, बुद्धिकी शुद्धि होती है।

२

दरिद्रोंसे तन्मयता

दो प्रश्न हैं:

१ हममेंसे जो आजतक तो मध्यमवर्गका जीवन बिताते आये हैं परन्तु अब दरिद्रवर्गसे एकरूप होना चाहते हैं वे किस क्रमसे अपने जीवनमें परिवर्तन करें जिससे तीन चार वर्षमें निश्चित रूपसे उन दरिद्रोंसे एकरूप हो जायं?

२ मध्यम अथवा उच्चवर्गके लोग दरिद्रोंसे अपनी सद्भावना किस तरह प्रकट कर सकते हैं? क्या इस प्रकारका कोई नियम बनाना ठीक होगा कि उनके सदस्य कोई ऐसा उपाय करें जिससे उनके खर्चमेंसे हर पन्द्रह रुपयेमेंसे चार रुपये दरिद्रोंके घर सीधे पहुंच जायं?

पहले तो हमें यह समझना है कि हम मध्यमवर्ग और उच्च वर्गके माने जानेवाले प्राणी हैं अर्थात् हम भाग्यवान बनाना चाहते हैं। जिनकी सेवा करना चाहते हैं उनके-से बनना चाहते हैं। पानी कहींका भी क्यों न हो समुद्रकी ओर ही जाना चाहता है। यद्यपि सब पानी समुद्रतक नहीं पहुंच सकता लेकिन चाहे वह मेरा बहाया हुआ हो या पनालीका दोनोंकी गति समुद्रकी ओर है। दोनों निम्नगामिनी—नम्र हैं। एक जगह थोड़ा पानी है उसकी ताकत कम होनेके कारण भले ही बीचमें रुक जाय और किसी छोटे वृक्षको जीवन प्रदान करनेमें उसका उपयोग हो—यह तो हुआ उसका साध्य परन्तु उसकी गति तो समुद्र ही है। समुद्र तक पहुंचनेका साध्य तो

गंगाके समान महानदियोंको ही प्राप्त होता है। इसी तरह उच्च और मध्यम श्रेणिया पहाड़ और टीलेके समान हैं। यहां जिसकी हमें सेवा करनी है वह महासमुद्र है। इस महासमुद्रतक सब न भी पहुंच सकें तो भी कामना तो हम यही करते हैं कि वहांतक पहुंचें। अर्थात् जहांतक पहुंच पायें उतने ही से सतोष न मान लें। हमें जिसकी सेवा करनी है उसका प्रश्न सामने रखकर अपने जीवनकी दिशा बदलते रहना चाहिए और खुद निम्नगामिक —नम्र—बनना चाहिए।

पर इसके कोई स्थूल नियम नहीं बनाये जा सकते। अगर बनाना अक्य हो तो भी वे मेरे पास नहीं हैं और न मैं चाहता ही हूं कि ऐसे नियम बनाने का कोई प्रयत्न किया जाय। चार या पांच वर्षोंमें उच्च और मध्यम श्रेणीके लोगोंको गरीब बना देनेकी कोई विधि नहीं है। हमें गरीबोंकी सेवा करनी है यह समझकर जाग्रत रहकर शक्तिभर काम करना चाहिए। कोई नियम नहीं है इसीलिए बुद्धि और पुरुषार्थकी गुंजाइश है। पिछले सोलह वर्षोंसे मेरा यह प्रयत्न जारी है कि मैं गरीबोंसे एकरूप हो जाऊं, लेकिन मैं नहीं समझता कि गरीबोका जीवन व्यतीत करनेमें सफल हुआ हूं। पर इसका उपाय क्या है। मुझे इसका कोई दु ख भी नहीं है। मेरे लिए तो प्राप्तिके आनदकी अपेक्षा प्रयत्नका आनद बढकर है।

शिवकी उपासना करना हो तो शिव बनो ऐसा एक शास्त्रीय सूत्र है। इसी तरह गरीबोंकी सेवा करनेके लिए गरीब बनना चाहिए। पर इसमे विवेककी जरूरत है। इसके मानी यह नहीं कि हम उनके जीवनकी बुरा इयोको भी अपना लें। वे जैसे दरिद्रनारायण हैं वैसे मूर्खनारायण भी तो हैं। क्या हम भी उनकी सेवाके लिए मूर्ख बनें ? शिव बननेका मतलब यह नहीं है। जिनका बल गया उनकी बुद्धि तो उससे भी पहले चली गई। उनके-जैसे बनकर हमें अपनी बुद्धि नहीं खोनी चाहिए।

यहांतमे किसान धूपमें काम करते हैं। लोग कहते हैं बेचारे किसानोंको दिनभर धूपमें काम करना पडता है। अरे, धूपमें और खुले आकाशके नीचे काम करना यही तो उनका वैभव बचा रह गया है। क्या उसे भी आप छीन लेना चाहते हैं ? धूपमें तो विटामिन भरपूर है। अगर हो सके तो हम भी उन्हींकी भांति करना शुरू कर दें। पर वे जो रातमें मकानोंको

मजूर बनाकर उनसे अपने-आपको बड़ा रखते आये हैं। उसकी लगन हमें नहीं करनी चाहिए। हम काफी समझ रखें। उसमें भी हम कहें कि राहमें चुने पाखानेके पीछे लोगों और महात्माका वैभव सूना। हम उनके सफाईका अनुकरण कर उनके प्रचारका नहीं। उनके नाम अमर पूरे करते नहीं हैं तो हम उन्हें इतना समर्थ क्यों न बना दें कि वे भी अपने लिए काफी कमाई कमा न? इसमें महीना तनखाही नहीं मिलती हम नहीं मिलता। क्या हम भी साथ मांगें और हम छोड़ दें? यह विचार ठीक नहीं है। एक आदमी अगर डूब रहा है और अगर उसे देखकर हमें दुःख होता है तो क्या हम भी उसके पीछे डूब जायँ? इसमें दया है सहानुभूति भी है। लेकिन यह दया और सहानुभूति किस कामकी जिसमें तारक बुद्धिका अभाव हो? सच्ची दयामें तारक शक्ति होनी चाहिए। तुलसीदासजीने उसे 'कृपासु समाधान' कहा है।

हम अपने जीवनकी कठिनाइयोंको निकालकर उसे पूर्ण बनाना चाहिए। उसी प्रकार उनकी कठिनाइयोंको दूरकर उनका जीवन भी पूर्ण बनानेमें उनकी सहायता करनी चाहिए। पूर्ण जीवन वह है जिसमें रस या उत्साह है। लोग या विषयाभिलाषको उसमें स्थान नहीं। हम दरिद्रों-जैसे बनें या पूर्ण जीवनकी प्राप्ति करें? लोग कहते हैं ऐसा करनेसे हमारा जीवन त्यागमय नहीं दिखाई देगा। पर हम इस बातका विचार नहीं करते हैं कि वह कैसा दिखाई देगा। हम यह भी न सोचें कि इसका परिणाम क्या होगा। परिणाम परमात्माको सौंप देना चाहिए। हमारी जीवन-पद्धति उससे भिन्न है। हम दुःख मिलता है उसे नहीं मिलता। इस बातका हमें दुःख हो तो वह उचित ही है। वह दुःखबीज तो हमारी हृदय-भूमिमें रहना ही चाहिए। वह हमारी उन्नति करेगा। मुझे तो इसका कोई उपाय मिल भी जाय तो दुःख लगेगा। हमारे पुरुषार्थ और रचनात्मक शक्तिसे तारक बुद्धिका प्रचार होकर सारा बहुतसी जनता एक कदम भी आगे बढ़ सके तो हम स्वराज्यके नजदीक पहुंचेंगे। जैसे नदियां समुद्रकी ओर बहती हैं, उसी प्रकार हमारी वृत्ति और शक्ति गरीबोंकी ओर बहती रहे, इसीमें कल्याण है।

२१

त्याग और दान

एक आदमीने मेहनतसे पैसा कमाया है। उससे वह अपनी गृहस्थी सुख चैनसे चलाता है। बाल-बच्चोंका उसे मोह है, देहकी ममता है। स्वभावतः ही पैसेपर उसका प्यार है। दिवाली नजदीक आते ही वह अपना तलपट सावधानीसे बनाता है। यह देखकर कि सब मिलाकर खर्च जमासे कम है और उसमें 'पूंजी' कुछ बढ़ी ही है उसे खुशी होती है। बड़े ठाठसे और उतने ही भक्तिभावसे वह लक्ष्मीजीकी पूजा करता है। उसे द्रव्यका लोभ है फिर भी नामका कहिये या परोपकारका कहिये उसे थोड़ा ख्याल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान-धर्मके लिए — इसीमें देशको भी ले लीजिये — खर्च किया हुआ धन ब्याजसमेत वापस मिल जाता है। इसलिए इस काममें वह खुले हाथों खर्च करता है। अपने आस-पासके गरीबोंको इसका इस तरह बड़ा सहारा रहता है जिस तरह छोटे बच्चोंको अपनी मांका।

दूसरे एक आदमीने इसी तरह सचाईसे पैसा कमाया था। लेकिन इसमें उसे संतोष न होता था। उसने एक बार बागके लिए कुआं खुदवाया। कुआं बहुत गहरा था। उसमेंसे थोड़ी मिट्टी कुछ खरी और बहुत पत्थर निकले। कुआं जितना गहरा गया इन चीजोंका ढेर भी उतना ही ऊंचा लग गया। मन-ही-मन वह सोचने लगा "मेरी तिजोरीमें पैसेका ऐसा ही टीला लगा हुआ है उसी अनुपातसे किसी और जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड़ गया होगा?" विचारका असर बिजली जैसा होता है। इसी विचारसे ही वह हड़बड़ाकर बेचैन हो गया। वह कुआं तो उसका गुरु बन गया। कुएंने उसे जो कसौटी दी उसपर उसने अपनी सचाईको घिसकर देखा। वह खरी नहीं उतरी ऐसा ही उसे दिखाई दिया। इस विचारने उसपर अपना असर जमा लिया कि 'व्यावहारिक सचाई' की रक्षा मैंने भले ही की हो फिर भी इस बालूकी बुनियादपर मेरा मकान कबतक टिक सकेगा? उसमें पत्थर मिट्टी और माणिक-मोतियोंमें उसे कोई फर्क नहीं दिखा"

लिया। यह सोचकर कि त्रिभुवनका कच्चा-पक्का करकर रत्नेश क्या लाता यह एक दिन नहर उठा और अपनी सारी संपत्ति सब घर लाकर अपनी किनारे ले गया। 'लो मेरा पाप भी दान।' इतना कहकर उसने यह कमाई गया वालाके आधनम उठक दी और बेचारा स्नान करके मुक्त हुआ। उसमें कोई-न-कोई पूछते हैं दान ही क्यों न कर दिया? वह जवाब देता है, "दान करते समय 'पात्र' ही देखना पड़ता है। अन्नका तो दान देते समय मनमें अभिमान होनेका डर तो रहता है। मुझे अनायास कमाया 'पाप' मिल गया उसमें मैंने दान कर दिया। इसका भी सचमुच यह इतना ही कहना है कि कहीं-कभी भी यही दान किया जाता है? उसका अंतिम उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसने संपत्ति-त्यागका उत्तर सब 'सयों' में उनका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दानकी है, दूसरी त्यागकी। आजके जमानेमें पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है, उस तरह दूसरी नहीं। लेकिन यह हमारी कमजोरी है। इसीलिए शास्त्रकारोंने भी दानकी महिमा कलियुगके लिए गाई है। 'कलियुग' माने क्या? कलियुग माने दिलकी कमजोरी। दुर्बल हृदय इससे ज्यादा पूरी तरह नहीं छोड़ सकता। इसलिए उसके मनकी उड़ान अधिक से अधिक दानतक ही हो सकती है। त्यागतक तो उसकी पहुँच नहीं हो सकती। लोभी मनको तो त्यागका नाम सुनते ही जाने ऐसा लगता है। इसलिए उसके सामने शास्त्रकारोंने दानके ही गुण गाये हैं।

त्याग तो बिल्कुल जड़पर आघात करनेवाला है। दान ऊपर-ही ऊपर से काटने जैसा है। त्याग जीनेकी दवा है, दान सिरपर लगानेकी सोंठ है। त्यागमें अन्यायके प्रति चिढ़ है, दानमें नामका लिहाज है। त्यागमें पापका मूलधन चुकता है और दानमें पापका ब्याज। त्यागका स्वभाव दयालु है, दानका ममतामय। धर्म दोनों ही पूर्ण है। त्यागका निवास चोटीके शिखरपर है, दानका उसकी तलहटीमें।

पुराने जमानेमें आदमी और घोड़ा अलग-अलग रहते थे। कोई किसीके अधीन न था। एक बार आदमीको एक जानवरका काम आ पड़ा। उसने घोड़ी परसे लिए चाबुक उसकी पीठ लिपटनेपर जाकी घोड़ेने भी पड़ोसीके धर्मको सोचकर आदमीका कहना स्वीकार कर लिया। आदमीने कहा

लेकिन तेरी पीठपर मैं यों नहीं बैठ सकूंगा। तू लगाम लगाने देगा तभी मैं बैठ सकूंगा। लगाम लगाकर मनुष्य उसपर सवार हो गया और घोड़ने भी थोड़े समयमें काम चला लिया। अब करारके मुताबिक घोड़ेकी पीठ खाली करनी चाहिए थी पर आदमीसे लोभ न छूटता था। वह कहता है "देख भाई, तेरी यह पीठ मुझसे छोड़ी नहीं जाती इसलिए इतनी बात तू माफ कर। हां तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा) इसे मैं कभी न भूलूंगा। इसके बदले मे मैं तेरी खिदमत करूंगा तेरे लिए घुड़साल बनाऊंगा तुझे दाना घास दूंगा पानी पिलाऊंगा खरहरा करूंगा जो कहेगा वह करूंगा पर छोड़नेकी बात मुझसे न कहना। घोड़ा बेचारा कर ही क्या सकता था? जोरसे हिनहिनाकर उसने फरियाद भगवान्के दरबारमें पेश की। घोड़ा न्याय चाहता था आदमी चालकी बातें कर रहा था। भले आदमी कम-से-कम अपना यह करार तो पूरा होने दे। •

२२

कृष्ण मक्खिका रोग

'दुनिया पैदा करूं' ब्रह्माजीकी यह इच्छा हुई। इसके अनुसार कार बार शुरू होनेवाला ही था कि कौन जाने कैसे उनके मनमें आया कि "अपने काममें भला-बुरा बतानेवाला कोई रहे तो बड़ा मजा रहेगा।" इसलिए आरम्भमें उन्होंने एक तेज-तर्रार टीकाकार पैदा किया और उसे यह अख्तियार दिया कि आगे मैं जो पैदा करूं उसकी जांचका काम तुम्हारे जिम्मे रहा। इतनी तैयारीके बाद ब्रह्माजीने अपना कारखाना चालू किया। ब्रह्माजी एक-एक चीज बनाते जाते और टीकाकार उसकी चूक दिखाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करता जाता। टीकाकारकी जांचके सामने कोई चीज बे-ऐब ठहर ही न पाती। "हाथी ऊपर नहीं देख पाता उल्टे ऊपर ही देखता है। मगरमें चपलता नहीं है, बन्दर अत्यन्त चपल है।" यों टीकाकारने अपनी टीकाके तीर छोड़ना शुरू किये। ब्रह्माजीकी अक्ल गुम हो गई। फिर

भी उन्होंने एक मामूली कोशिश कर देखनेकी ठानी और अपनी सारी कारीगरी खर्च करके 'मनुष्य' गढ़ा। टीकाकार उसे बारीकीसे निरखने लगा। अन्तमें एक चूक निकल ही आई। "इसकी छातीमें एक खिड़की होनी चाहिए थी, जिससे इसके विचार सब समझ पाते।" ब्रह्माजी बोले "तुम्हें रचा यही मेरी एक चूक हुई, अब मैं तुम्हें यमराजके हवाले करता हूं।"

यह एक पुरानी कहानी कहीं पढ़ी थी। इसके बारेमें चर्चा करनेकी सिर्फ एक ही वजह है। वह यह कि कहानीके कथनके अनुसार टीकाकार यमराजके हवाले हुआ नहीं दीखता। शायद ब्रह्माजीको उसपर दया आयी हो या यमराजने उसपर अपनी शक्ति न आजमाई हो। जो हो, इतना सच है कि आज उसकी जाति बहुत फैली हुई पाई जाती है। दुनियाके प्रमाणमें कर्तृत्व बाकी न रह जानेपर बकवासको मौका मिलता है। बात साफ हुई कि बोलना ही काम रहता है और बोलना ही है तो नित्य नये विषय कहांसे खोजे जायं? इसलिए एक सनातन विषय चुन लिया गया "निन्दा स्तुति उचरी जाती बहु-बचनी।" पर निन्दा-स्तुतिमें भी तो कुछ बांट-बखरा होना चाहिए। निन्दा अर्थात् पर-निन्दा और स्तुति अर्थात् आत्म-स्तुति। ब्रह्माजीने टीकाकारको भला-बुरा देखनेको तैनात किया था। उसने अपना अच्छा देखा, ब्रह्माजीका बुरा देखा। मनुष्यके मनकी रचना ही कुछ ऐसी विचित्र है कि दूसरेके दोष उसको जैसे उभरे हुए साफ दिखाई देते हैं वैसे अपने नहीं दिखाई देते। संस्कृतमें 'विश्वगुणादर्श चंपू' नामका एक काव्य है। वेङ्कटाध्वरी नामके एक दाक्षिणात्य पण्डितने लिखा है। उसमें यह कल्पना है कि कृशानु और विश्वावसु नामके दो गन्धर्व विमानमें बैठकर फिर रहे हैं और जो कुछ उनकी नजरोंके सामने आता है उसकी चर्चा किया करते हैं। कृशानु दोष-द्रष्टा है, विश्वावसु गुण-ग्राहक है। दोनों अपनी-अपनी दृष्टिसे वर्णन करते हैं। गुणादर्श अर्थात् 'गुणोंका दर्शन' इस काव्यका नाम रखकर कविने अपना निर्णायक मत विश्वावसुके पक्षमें दिया है। फिर भी कुल मिलाकर वर्णनका रूप कुछ ऐसा है कि अन्तमें पाठकके मन पर कृशानुके वर्णनकी छाप पड़ती है। गुण देखनेके इरादेसे लिखी हुई चीज की यह दशा है। फिर दोष देखनेकी वृत्ति होती तो क्या हाल होता?

चंद्रकी भांति प्रत्येक वस्तुके शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष होते हैं। इसलिए दोष ढूंढ़नेवाले मनके स्वच्छन्द विचरनेमें कोई बाधा पड़नेवाली नहीं है। 'सूर्य दिनमें दिखाई देता है' फिर भी रातको तो अंधेरा ही रहता है, इतना ही वह देखेंगे उस सारी दिवालीकी होली हो जायगी। उसमें भी अवगुण ही लेनेका नियम बना लिया जाय तो दो दिनमें एक रात न दिखकर एक दिनकी अलग-अलग दो रातें दिखाई देंगी। फिर अग्निकी ज्योतिकी ओर ध्यान न जाकर धुएंसे अग्निका अनुमान करनेवाले न्याय-शास्त्रका निर्माण होगा। भगवान् ने ये सब अंधेरी बातें गीतामें बतलाई हैं। अग्निका धुआं सूर्यकी रात अथवा चंद्रका कृष्णपक्ष देखनेवाले 'कृष्ण-भक्तों' का उन्होंने एक स्वतन्त्र वर्ग रखा है। दिनमें आप बदली तो अंधेरा और रातको आंखें खोलीं तो अंधेरा—कृष्णपक्षकी इस स्थितिके अनुसार इन लोगोंका कार्यक्रम है। पर भगवान्ने शुक्लपक्षके लिए मोक्ष बतलाया है तो इनके लिए अपाय-मोक्ष। पर इतना होनेपर भी यह सम्प्रदाय खूनके रोगकी तरह बढ़ रहा है। तुलसीके मानी होने या नाम रखनेमें आकर्षण अधिक होनेकी वजह से काला पक्ष जैसा हमारा ध्यान खींचता है वैसा उज्ज्वल पक्ष नहीं खींचता। ऐसी स्थितिमें यह साम्प्रदायिक रोग किस औषधि से अच्छा होगा यह ध्यान रखना जरूरी है।

पहली दवा है जितना मिली हुई इस 'कृष्ण-भक्ति' का बाहरी कृष्ण न दिखाय भीतरके कृष्णके दर्शन कराय। आंखोंकी बाहिरी दृष्टिकी आदी मिलाइये मनके भीतरके। कालिमा दिखाय। विषय पुण्य-पापको नापकर देखनेवाला मनुष्य बहुधा अपना-पराया निर्णय मान बैठता है। उसका यह भ्रम दूर होनेपर उसकी परीक्षणता इन अपने-पराए पर आती है। बाइबिलके नये करार में इस बारेमें एक सुन्दर उपमा उल्लेख है—एक बहनसे कोई बुरा काम सामने हो गया। उसकी जान करके न्याय देनेके लिए पंच बैठे थे। वहां अवश्य भक्त भी थाही नाराजमें हुए था होंगे यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। किन्तु विशेषता यह थी कि उस बहनका अनुमान्य व्यवहार ईसाको बड़ा ओछ मालूम था। क्योंकि ईसाने सुनाया— इस बहनने चार व्यभिचार किया है। सब लोग पत्थरोंसे मारकर उस पापिन मुक्त कर। ईसाका सुनते ही लोगोंके हाथ कांपने लगे और थामकर देन

घर घर झांकने लगे। भगवान् ईसाको उस बेचारी पर दया आई। उन्होंने खड़े होकर सबसे एक ही बात कही 'जिसका मन बिल्कुल साफ हो वह पहला ढेला मारे।' समाज पत्थर फेंकनेके लिए ठिठक गई। फिर धीरे-धीरे वहांसे एक-एक आदमी खिसकने लगा। अन्तमें वह अभागी बहन और भगवान् ईसा ये दो ही रह गए। भगवान्ने उसे थोड़ा उपदेश देकर प्रेमसे विदा किया। यह कहानी हमें सदा ध्यानमें रखनी चाहिए।

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मीला कोय।
जो घट खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय॥

दूसरी दवा है मौन। पहली दवा दूसरेके दोष दीखे ही नहीं इसलिए है। दृष्टि-दोषसे दोष दीखनेपर यह दूसरी दवा अचूक काम करती है। इससे मन भीतर-ही-भीतर छटपटायेगा। दो-चार दिन नींद भी खराब आयगी पर आखिरमें थककर मन शान्त हो जायगा। तानाजीके खेत रहनेपर मावळ पीठ दिखा देंगे ऐसे रंग दिखाई देने लगे। तब जिस रस्सी की मददसे वे पत्थर चढ़ गए और जिसकी मददसे सब वे उतरनेका प्रयत्न करनेवाले थे वह रस्सी ही सूर्याजीने काट डाली। वह "रस्सी तो मैंने कभी की काट दी है"। सूर्याजीके इस एक वाक्यने मावळोंमें निराशाकी वीरश्री पैदा कर दी और गढ़ सर होगया। रस्सी का काटनेका तत्वज्ञान बहुत ही महत्त्वका है। मौन रस्सी काट देने जैसा है। 'या तो दूसरेके दोष देखना भूल जा नहीं तो बैठकर तड़फड़ाता रह'। उसपर यह नौबत आ जाती है और यह इतना नहीं कि सारा रास्ता सीधा हो जाता है। कारण जिसको जीना है उसके लिए बहुत समयतक तड़फड़ाते बैठना सुविधाजनक नहीं होगा।

तीसरी दवा है कर्मयोगमें मग्न हो रहना। जैसे आग सुलगाना पक्का ही ऐसा उपाय है कि उसमें बाड़ समस्त खाली हो सकता है, वैसे ही कर्मयोग एक ही ऐसा साधन है जिससे मनमानापनके लिए बे-खटके मिलन-

भी स्पर्श न करो' आरवका यह नियम क्या कहता है, यह सूत कातते हुए, अक्षरशः समझमें आता है। कर्मयोगका सामर्थ्य अद्भुत है। उसपर जितना जोर दिया जाय कम है। यह आज्ञा ऐसे अनेक रोगोंपर लागू है, पर जिस रोगकी उपाय-योजना इस समय की जा रही है उसपर उसका अद्भुत गुण अनुभूत है।

तीन दवाएं बताई गईं। तीनों दवाएं रोगियोंकी जीभको कड़वी तो लगेंगी पर परिणाममें वे अतिशय मधुर हैं। आत्म-परीक्षणसे मनका, मौनसे वाणीका और कर्मयोगसे शरीरका दोष झड़े बिना आत्माको आरोग्य नहीं मिलेगा। इसलिए कड़वी कहकर दवा छोड़ी नहीं जा सकती। इसके सिवा यह दवा शहदके साथ लेनेकी है, जिससे इसका कड़वापन मारा जायगा। सब प्राणियोंमें समभाव होना मधु है। उसमें घोलकर ये तीन मात्राएं लेनेसे सब मीठा हो जायगा।

२३

कविके गुण

एक सज्जनका सवाल है कि आजकल हममें पहलेकी तरह कवि क्यों नहीं हैं? इसके उत्तरमें नीचेके चार शब्द लिखता हूं—

आजकल कवि क्या नहीं हैं? कविके लिए आवश्यक गुण नहीं हैं इसलिए। कवि होनेके लिए किन गुणोंकी आवश्यकता होती है? अब हम इसीपर विचार करें।

कवि माने मनका मालिक। जिसने मन नहीं जीता वह ईश्वरकी सृष्टिका रहस्य नहीं समझ सकता। सृष्टिका ही नाम काव्य है। जबतक मन नहीं जीता जाता राग-द्वेष शांत नहीं होते तबतक मनुष्य इंद्रियोंका गुलाम ही बना रहता है। इंद्रियोंके गुलाम को ईश्वरकी सृष्टि कैसे दिखाई दे? वह बेचारा तो तुच्छ विषय-सुखमें ही उलझा रहेगा। ईश्वरीय सृष्टि विषय-सुखसे परे है। इस परेकी सृष्टिके दर्शन हुए बिना कवि बनना असंभव

है। सूरदासकी आँखें उनको इन्द्रियोंसे विरुद्ध विषयोंकी ओर दौड़ा करती थीं। उन आँखोंको फोड़कर जब वह अन्ध हुए तब उन्हें कृष्णके दर्शन हुए। बालक ध्रुवने घोर तपश्चर्या द्वारा जब इन्द्रियोंको वशमें कर लिया तब भगवान्‌ने अपने शब्दमय शंखसे उसके कपोलको छू दिया और उस स्पर्शके साथ ही उस अज्ञान बालकके मुखसे साक्षात् वेदवाणीका रहस्य प्रकट करनेवाला अद्भुत काव्य प्रकट हुआ। तुकारामने जब शरीर, इन्द्रिय और मनको पूर्ण रूपसे वश किया तभी तो महाराष्ट्रको अभंग-वाणीका लाभ हुआ। मनोनिग्रहके प्रयत्नमें जब शरीरपर चींटियोंकी बमीठ चढ़ गई तब उसमेंसे आदि-काव्यका उदय हुआ। आज तो हम इन्द्रियोंकी सत्ताके हाथ बिक गए हैं। इसलिए हममें आज कवि नहीं है।

समुद्र जैसे सब नदियोंको अपने उदरमें स्थान देता है, उसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्डको अपने प्रेमसे ढक ले ऐसी व्यापक बुद्धि कविमें होनी चाहिए। पत्थरमें ईश्वरके दर्शन करना कविका काम है। इसके लिए व्यापक प्रेमकी आवश्यकता है। ज्ञानेश्वर महाराज भैंसेकी आवाजमें भी वेद श्रवण कर सके इसीलिए वह कवि हैं। वर्षा शुरू होते ही मेढकोंको टर्राते देख वसिष्ठको भान हुआ कि परमात्मा द्वारा इनकी वाणीमें उत्पन्न हुए सम्पूर्ण ही मन्त्र मेढकोंके मुखसे आनन्दोद्गार प्रकट कर रहे हैं, और इसपर उन्होंने पवित्र भावसे उन मेढकोंकी स्तुति की। वह स्तुति ऋग्वेदमें 'मंडूक-स्तुति' के नामसे दी गई है। अपनी प्रसन्न वृत्तिका रंग चढ़ाकर कवि सृष्टिकी ओर देखता है। इसीसे उसका हृदय सृष्टि-दर्शनसे नाचता है। माताके हृदयमें अपनी सन्तानके प्रति प्रेम होता है, इसलिए उसे देखकर उसके स्तनोंका दूध रोके नहीं रुकता। वैसे ही समस्त चराचर सृष्टिके प्रति कविका मन प्रेमसे भरा होता है। इसलिए उसके दर्शन हुए कि वह पागल हो जाता है। उसकी वाणीमें काव्यकी धारा बह निकलती है। वह उसे रोक ही नहीं पाता। हममें ऐसा व्यापक प्रेम नहीं। सृष्टिके प्रति उदार बुद्धि नहीं। पुत्र-कलत्र-मित्रादिसे परे हमारा प्रेम नहीं गया है। फिर 'वृक्ष वल्ली आम्हा सोयरी —वृक्ष लता और वनचर हमारे कुटुम्बी हैं'—यह बात हम कैसे समझें।

कविको चाहिए कि वह अपने व्यक्तिगत पारिवारिक प्रेमको बाहर डाल दे।

वैसे ही उसको सृष्टिके वैभवसे अपनी आत्माको सजाना चाहिए। वृक्ष लता और वनचरोंमें उसे आत्मदर्शन होना चाहिए। साथ ही आत्मामें वृक्ष वल्ली वनचरोंका अनुभव करते आना चाहिए। विश्व आत्मरूप है इतना ही नहीं बल्कि आत्मा विश्वरूप है यह कविको दिखाई देना चाहिए। पूर्णिमाके चन्द्रको देखकर उसके हृदय-समुद्रमें ज्वार आना ही चाहिए, किन्तु पूर्णिमाके अभावमें उसके हृदयमें भाटा न होना चाहिए। अमावस्याके गाढ़ अंधकारमें आकाश बादलोंसे भरा होनेपर भी चन्द्रदर्शनका आनंद उसे मिलना चाहिए। जिसका आनंद बाहरी जगत्में मर्यादित है, वह कवि नहीं है। कवि आत्मनिष्ठ है कवि स्वयम्भू है। पामर दुनिया विषय-सुखमें भूलती है कवि आत्मानन्दमें डोलता है। भोगीको भोगनेका आनंद मिलता है, कविको त्यागका भोजन मिलता है। कवि [illegible] है और इसलिए स्वच्छन्दचारी स्वच्छन्दता है। टेनिसनने बहुत करके आत्माका अमरत्व देखा कारण अमरत्वका बहुत झरना उसे अपनी आत्मामें दिखाई दिया था। कवि विश्व-सम्राट है कारण वह हृदय-सम्राट् होता है। कविको जाग्रत अवस्थामें महाविष्णुकी योगनिद्राके स्वप्नोंका ज्ञान होता है और स्वप्नमें जाग्रत नारायणकी जगत्-रचना देखनेको मिलती है। कविके हृदयमें सृष्टि का सारा वैभव संचित रहता है। हमारे उदरमें भूखका भान भरा हुआ है और मुखमें तीसरी भाषा। यहां इतना भान भी अभी स्पष्ट नहीं हुआ कि मैं स्वतन्त्र हूं अथवा मनुष्य हूं। यहां आत्मनिष्ठ काव्य-प्रतिभाकी आशा नहीं की जा सकती।

कविमें 'सोऽहमस्मि। यथाहम् सर्वकामित' सरीखा सामर्थ्य होना चाहिए यह सभी मानते हैं। पर लोगोंको इस बातका भान नहीं होता कि सत्य-निष्ठा इस सामर्थ्यका मूलाधार [illegible] सत्यपूत वाणीसे अमोघ वीर्य (वीरता) उत्पन्न होता है। जो "सत्य होगा वही बोलूंगा" इस तरहके वैदिक आचारसे उत्पन्न ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि "जो बात कहेगा वही सत्य होगा।" भवभूतिने ऋषियोंके वाक्य-वीर्य का वर्णन किया है कि "ऋषि पहले बोल जाते और बादमें उसमें अर्थ प्रविष्ट होता।" इसका कारण है ऋषियोंकी आर्षनिष्ठा। 'अमृतो वा एष परिपुष्यति। पाप्मानमपहन्ति। तस्मात्सत्यमेव वदेत्।' जो असत्य

बोलता है वह समूल शुष्क हो जाता है। अतः मुझे असत्य नहीं बोलना चाहिए। प्रश्नोपनिषद्में ऋषिने ऐसी चिंता प्रदर्शित की है। काव्यत्व सत्यनिष्ठामेंसे काव्यका जन्म होता है। वाल्मीकिने पहले रामायण लिखी बादको रामने आचरण किया। वाल्मीकि सत्यमूर्ति थे अतः रामको उनका काव्य सत्य करना ही पड़ा। और वाल्मीकिके राम वे भी कैसे—"द्विः शरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते"। राम न दोबारा बाण छोड़ते हैं और न दो बार बोलते हैं। आदिकविकी काव्य-प्रतिभाको सत्यका आधार था। इसीसे उनके ललाटपर अमरत्वका लेख लिखा गया। सृष्टिके कुछ रहस्य अथवा समाज हृदयकी सूक्ष्म भावनाएं व्यक्त कर दिखानेका सामर्थ्य चाहते हो तो सम्पूर्ण बोलना चाहिए। हूबहू वर्णन करनेकी शक्ति एक प्रकारकी सिद्धि है। यदि भाषासिद्ध होना है कारण वह वाचापुत्र होना है। हमारी भाषा शुद्ध नहीं है। असत्यको हम सह लेते हैं इतना ही नहीं सत्य हम जानते हैं ऐसी हमारी डींग बढ़ा है। इसलिए कविता उत्तम नहीं होता।

कविकी दृष्टि शाश्वत कालकी ओर रहनी चाहिए। अनन्त कालकी ओर नजर हुए बिना भविष्यवाणीका परदा नहीं खुलता। अनन्ततासे काम हुई बुद्धिको सनातन सत्य गोचर नहीं होते। कुरुराजको विस्तार व्याख्या सिखानेवाले तर्कने गुणगानका मर्म बना। "मनुष्य मर्त्य है और कुरुराज मनुष्य है इसलिए कुरुराज मर्त्य है।" इसके बादकी कल्पना उस टटपूंजिये तर्कको न सूझी लेकिन विश्वशासनके दिन आत्माकी सत्ताके सम्बन्धमें प्रवचन करनेवाले कुरुराजका पतन भविष्य स्पष्ट दिखाई देता था। भविष्यवाणीके उदरमें मानवी अवतार पल रहा था। इस बातसे वह वर्तमान युगके विषयमें वंचित रहा। ऐसी उदासीन वृत्ति धारण कर लिया कवि हृदयका निर्णय नहीं हो सकता। समाजके सब रस सम्बन्धकी समाजीय सबके रहनेवाले है वह उस समाजका विस्तार अंकित कर सकता अवमुक्ति अनेक प्रकारके

हताश होकर आस-पास देखना छोड़ देता है और मन बैठ जाता है, वैसे ही हमारी विषय-ग्रस्त बुद्धिसे आगे कालकी ओर देख सकना नहीं होता। "को जाने कलकी ? आज जो मिले वह मौज लो" इस वृत्तिसे काव्यकी आशा नहीं हो सकती।

ईशावास्योपनिषद्के निम्नलिखित ब्रह्मपरमंत्रमें यह अर्थ सुझाया गया है:

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः ।
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

अर्थ—कवि (१) मनका स्वामी (२) विश्व-प्रेमसे भरा हुआ (३) आत्मनिष्ठ (४) यथार्थभाषी और (५) शाश्वत कालपर दृष्टि रखने वाला होता है।

मननके लिए निम्नलिखित अर्थ सुझाता हूँ—

(१) मनका स्वामित्व=ब्रह्मचर्य (२) विश्वप्रेम=अहिंसा (३) आत्मनिष्ठा=अस्तेय (४) यथार्थभाषित्व=सत्य (५) शाश्वत कालपर दृष्टि=अपरिग्रह।

२४

फायदा क्या है ?

कहते हैं रेखागणितकी रचना पहले-पहल यूक्लिडने की। वह ग्रीस (यूनान) का रहनेवाला था। उसके समयमें ग्रीसके सब शिक्षितोंके दिमाग राजनीतिसे भर गये थे—या यों कहिये कि उनके दिमागोंमें राजनीतिके पत्थर भरे थे। इस वजहसे रेखागणितके भक्त दुर्लभ हो गये थे और यूक्लिड तो रेखागणितपर मुग्ध था। फिर भी जैसे आज चरखेपर मुग्ध एक मानवने बहुतेरे राजनीति विचारवालोंको चक्करमें डाल दिया वैसे ही यूक्लिडने भी बहुतेरे राजनीतिज्ञोंको रेखाएं खींचनेमें लगा दिया था। रोज यूक्लिडके घरपर रेखागणितके विद्यार्थियोंका जमघट जमता और वह उन्हें अपना आविष्कार कुशलतापूर्वक समझाता।

बहुतेरे राजनीतिज्ञोंको युक्लिडकी ओर आकर्षित होते देख एक राजाके मनमें आया "हम भी जरा देखें कुछ फायदा होगा।" उसने इसलिए युक्लिडके पास रेखागणित सीखा। अंतमें उसने युक्लिडसे पूछा "मुझे आज रेखागणित सीखते सात दिन हो गये पर यह न समझ पाया कि इससे फायदा क्या है?" युक्लिडने गंभीरतापूर्वक अपने एक शिष्यसे कहा "सुनो जी इन्हें चार आने रोजके हिसाबसे सात दिनके पौने दो रुपये दे दो।" फिर राजाकी ओर मुखातिब होकर कहा "तुम्हारा यह इतना काम पूरा हो गया अबसे तुम कहीं और काम ढूंढो।" क्या यह राजनीति-कुशल राजा कोसोंके बजाय पौने दो रुपये पानेसे खुश हुआ होगा? हम लोगोंकी मनोवृत्ति उस ठीक राजाकी-सी बन गई है।

हर बातमें फायदा देखनेकी बहुतोंकी आदत पड़ गई है। गुण जाननेमें क्या फायदा है इससे लेकर स्वराज्य हासिल होनेतकके फायदेके बारेमें सैकड़ों सवाल होते हैं। ये फायदावादी लोग अपनी फायदावाली अक्लको जरा और आगे ताव ले जाय तो तत्त्वज्ञानकी ठक जगहपर पहुंच जायंगे। तत्त्वज्ञानके सिवाय ये लोग केवल एक प्रश्नके ही पीछे हैं और वह प्रश्न है— 'फायदेमें भी क्या फायदा है?' एक लड़का अपने बापसे कहता है, "बापूजी गाय-भैंसका फायदा तो समझमें आता है कि उनसे हमें रोज दूध पीनेको मिलता है। लेकिन कहिये तो इन बाघ-चीतों और सांपोंके होनेमें क्या फायदा है?" बाप जवाब देता है "हमारी सृष्टि मनुष्यके फायदेके लिए ही है इस बेचारेकी गलतफहमीमें हम न रहें यही इनका फायदा है।"

कालिदासने एक जगह मनुष्यको 'उत्सव-प्रिय' कहा है। कालिदासका मनुष्य स्वभावका ज्ञान गहरा था ही इसीसे वह कवि कहलानेके अधिकारी हुए। सभीका अनुभव है कि मनुष्यको उत्सव प्रिय है, लेकिन क्या प्रिय है? बाल्यावस्थाके लड़कोंको रविवारकी छुट्टी क्यों प्यारी लगती है? छः दिन दीवारोंके घेरेमें घिरे रहनेके बाद रविवारको जरा स्वच्छंदताके साथ खेल पाते हैं इस कारण। मनुष्यको उत्सव प्यारा क्यों है इसका भी उत्तर ऐसा ही है। रोज मरा हुआ हृदय उत्सवके कारण हलका हो जाता है। हमारे घर अठारह विस्वे दारिद्र्य रहता है इसीसे लड़केका ब्याह रचानेपर हम

या देशकी रक्षाके लिए मरनेकी तैयारीका नाम है क्षात्रवृत्ति। पर क्षात्र मरे तो यम क्या' यह क्षत्रियोंका सूत्र लगाकर देखिये तो इस सिपाहीके पागलपनका मतलब समझमें आ जायगा। राष्ट्रकी रक्षा क्यों करना स्वराज्य क्या? मेरे स्वार्थके लिए। और जब मैं ही मर गया तो फिर स्वराज्य लेकर क्या होगा? यह भावना आई कि क्षात्रवृत्तिका नाश किया हुआ।

भारी रही वैश्यवृत्ति। पर वैश्यवृत्तिमें भी कुछ कम साहस नहीं चाहिए। अंग्रेजोंने दुनियाभरमें अपना रोजगार फैलाया तो बिना हिम्मतके नहीं फैलाया है। इंग्लैंडमें कपासकी एक बोंडी भी नहीं पैदा होती और उन्होंने पश्चिम हिन्दुस्तानको कपड़ा देनेकी करामात कर दिखाई! कैसे? इंग्लैंडके इतिहासमें समुद्री यात्राओंके प्रकरण साहससे भरे पड़े हैं। कभी अमरीकाकी यात्रा तो कभी हिन्दुस्तानका सफर, कभी स्वर्णकी तलाश तो कभी मृगजल-सा स्वर्णद्वीपका दर्शन, कभी नील नदीके उद्गमकी तलाश तो कभी उत्तरी ध्रुवके किनारे पहुंचे हैं। जो अनेक साहसवीरे इन्हींके साथ ही जोरोंसे व्यापार सिद्ध हुआ है। यह सच है कि यह व्यापार अनेक राष्ट्रोंकी गुलामीका कारण हुआ। इसीसे आज वह उन्हींकी बड़ आफत [illegible] है। पर जो हो साहसी स्वभावको तो सराहना ही होगा। हममें [illegible] वृत्तिका साहस भी बहुत-कुछ नहीं दिखाई देता। कारण दीखता।

जबतक तकलीफ सहनेकी तैयारी न [illegible] तबतक पा [illegible] ही नहीं। पानेकी इमारत मुश्किलसे [illegible] है।

किया है 'अनंतवेमन'। अनंत विश्वदेवा —मनकी अनंत वृत्तियां होनेके कारण विश्वमें भी अनंत शक्तियां उत्पन्न होती हैं, इन अनंत मानसिक वृत्तियों और सामाजिक शक्तियोंका सम्पूर्ण साक्षात्कार करके ऋषियोंने धर्मकी रचना की है। स्वयं ऋषि ही कहते हैं 'ऋषिः पश्यन् अनोपत।' योगशास्त्रमें योगीकी 'अर्धोन्मीलित दृष्टिका' वर्णन किया गया है। इसका रहस्य है—विश्वमें व्याप्त शक्तियोंके अवलोकन तथा निरीक्षणके लिए आधी दृष्टि खुली रहे और अपने हृदयमें सन्निहित वृत्तियोंके परीक्षणके लिए आधी दृष्टि भीतरकी तरफ मुड़ी रहे। 'कामके कारण जगतमें पिसने वाले दीनजनोंके प्रति करुणासे आधी दृष्टि खुली हुई और अन्तर्यामी परमेश्वरके प्रेम-रसके पानमें मतवाली होनेके कारण आधी दृष्टि मुंदी हुई'। प्राचीन ऋषियोंकी इस अर्धोन्मीलित दृष्टिने अन्तर्बाह्य सारी सृष्टिके दर्शन कर लिये थे। इसीसे हिन्दूधर्म अनेक आश्चर्यकारक कल्पनाओंका भण्डार बन गया है। अर्जुनके अक्षय तरकसमें बाणोंकी कमी होती ही न थी। उसी तरह हिन्दू-धर्म-रूपी महासागरमें छिपे हुए रत्न कभी खतम ही नहीं हो सकते। ऋषियोंकी इन मनोहर कल्पनाओंमें चतुर्विध पुरुषार्थकी कल्पना भी एक ऐसा ही रमणीय रत्न है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बतलाये गए हैं। इनमेंसे मोक्ष और काम दो परस्पर-विरोधी सिरोंपर स्थित हैं। प्रकृति और पुरुष या शरीर और आत्मामें अनादि कालसे संघर्ष चला आ रहा है। वेदोंमें जो वृत्र और इन्द्रके युद्धका वर्णन है, वह इसी सनातन युद्धका वर्णन है। 'वृत्र'का अर्थ है ज्ञानको ढक देनेवाली शक्ति। 'इन्द्र' संज्ञा परोक्ष सत्ताकी द्योतक है और उस अर्थको सूचित करनेके लिए खासकर रखी गई है। 'इदम्'—'द्र' या 'विश्वद्रष्टा' 'इन्द्र' शब्दका प्रत्यक्ष अर्थ है। यह है उसका स्पष्टीकरण। ज्ञानको ढाकनेकी कोशिश करनेवाली और ज्ञानका दर्शन करनेकी चेष्टा करनेवाली इन दो शक्तियोंका अर्थ क्रमशः जड़ शरीरात्मक भौतिक शक्ति और चेतना ज्ञानमय आत्मिक शक्ति है। इन दोनोंमें सदा संघर्ष होता रहता है और मनुष्यका जीवन इस संघर्षमें फंसा हुआ है। ये दोनों परस्पर-विरोधी तत्त्व एक ही व्यक्तिमें वास करते हैं इसलिए मनुष्यका हृदय इनके युद्धका 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' हो गया है। आत्माको मोक्ष-पुरुषार्थकी

या देशकी रक्षाके लिए मरनेकी तैयारीका नाम है क्षात्रवृत्ति। पर 'आप मरे तो जग डूबा' यह कहावतका सूत्र लगाकर देखिये तो इस सिखावटी क्षात्रवृत्तिका मतलब समझमें आ जायगा। उसकी रक्षा क्यों करना? स्वर्ग क्या? मेरे अपनेके लिए। और जब मैं ही चल बसा तो फिर स्वराज्य लेकर क्या होगा? यह भावना आई कि क्षात्रवृत्तिका साहस विदा हुआ।

तीसरी रही वैश्यवृत्ति। पर वैश्यवृत्तिमें भी कुछ कम साहस नहीं चाहिए। अंग्रेजोंने दुनियाभरमें अपना रोजगार फैलाया था बिना हिम्मतके नहीं फैलाया है। इंग्लैंडमें कपासकी एक बोंडी भी नहीं पैदा होती और [illegible] हिन्दुस्तानका कपड़ा देशमें करामात कर दिखाई। कैसे? इंग्लैंडके इतिहासमें समुद्री यात्राओंके प्रकरण साहसोंसे भरे पड़े हैं। कभी [illegible] यात्रा तो कभी हिन्दुस्तानका सफर, कभी अफ्रीकाकी परिक्रमा तो कभी [illegible] अमरीकाके दर्शन, कभी नील नदीके उद्गमकी तलाश है तो कभी उत्तरी ध्रुवके किनारे पहुंचे हैं। यों अनेक संकटभरे साहसोंके बलपर [illegible] व्यापार सिद्ध हुआ है। यह सच है कि यह व्यापार अनेक राष्ट्रोंकी गुलामीका कारण हुआ। इसलिए आज वह उन्हींकी जड़ काट रहा है। पर [illegible] आदमी स्वभावका तो सराहना ही होगा। हममें इस वैश्य वृत्तिका साहस भी बहुत कुछ नहीं दिखाई देता। कारण खतरा नहीं झेलना।

[illegible] साहसकी तैयारी नहीं होती तबतक आयदा [illegible] [illegible] नहीं प्राप्त बनी है।

किया है 'मनसवैमन'। मनसा विश्वदेवा —मनकी अनंत वृत्तियां होनेके कारण विश्वमें भी अनंत शक्तियां उत्पन्न होती हैं, इन अनंत मानसिक वृत्तियों और सामाजिक शक्तियोंका सम्पूर्ण साक्षात्कार करके ऋषियोंने धर्मकी रचना की है। स्वयं ऋषि ही कहते हैं 'ऋषिः पश्यन् प्रबोधन्'। *योगशास्त्रमें योगीकी 'अर्थोन्मीलित' दृष्टिका वर्णन किया गया है।* इसका रहस्य है—विश्वमें ओतप्रोत शक्तियोंके अवलोकन तथा निरीक्षणके लिए आधी दृष्टि खुली रहे और अपने हृदयमें सन्निहित वृत्तियोंके परीक्षणके लिए आधी दृष्टि भीतरकी तरफ मुड़ी रहे। कामके कराल जबड़ेमें पिसने वाले जीवजगतके प्रति करुणासे आधी दृष्टि खुली हुई और अन्तर्यामी परमेश्वरके प्रेम-रसके पानसे मतवाली होनेके कारण आधी दृष्टि मुंदी हुई। योगी ऋषियोंकी इस अर्धोन्मीलित दृष्टिने अन्तर्बाह्य सारी सृष्टिके दर्शन कर लिये थे। इसीसे हिन्दूधर्म अनेक आश्चर्यकारक कल्पनाओंका भण्डार बन गया है। अर्जुनके अक्षय तरकसमें बाणोंकी कमी होती ही न थी। उसी तरह हिन्दू-धर्म-रूपी महासागरमें छिपे हुए रत्न कभी खतम ही नहीं हो सकते। ऋषियोंकी इन मनोहर कल्पनाओंमें चतुर्विध पुरुषार्थकी कल्पना भी एक ऐसा ही रमणीक रत्न है।

धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बतलाये गए हैं। इनमेंसे मोक्ष और काम दो परस्पर-विरोधी सिरोंपर स्थित हैं। प्रकृति और पुरुष या शरीर और आत्मामें अनादि कालसे संघर्ष चला आ रहा है। वेदोंमें जो वृत्र और इन्द्रके युद्धका वर्णन है वह इसी सनातन युद्धका वर्णन है। 'वृत्र'का अर्थ है ज्ञानको ढक देनेवाली शक्ति। 'इन्' सत्ता पराक्रमकी द्योतक है और उस अर्थको सूचित करनेके लिए जोड़कर गढ़ी गई है। 'इदम्'—'द्र' या विश्वद्रष्टा 'इन्द्र' शब्दका प्रत्यक्ष अर्थ है। यह है उसका स्पष्टीकरण। ज्ञानको ढकनेकी कोशिश करनेवाली और ज्ञानका दर्शन करनेकी चेष्टा करनेवाली इन दो शक्तियोंका नाम क्रमशः जड़ शरीरात्मक भौतिक शक्ति और चेतना ज्ञानमय धार्मिक शक्ति है। इन दोनोंमें सदा संघर्ष होता रहता है और मनुष्यका जीवन इस संघर्षमें फंसा हुआ है। ये दोनों परस्पर-विरोधी तत्त्व एक ही व्यक्तिमें वास करते हैं, इसलिए मनुष्यका हृदय इनके युद्धका 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' हो गया है। आत्माको मोक्ष-पुरुषार्थकी

अभिलाषा होती है। शरीरको काम-पुरुषार्थ प्रिय है। दोनों एक-दूसरेका साथ करनेकी ताकमें हैं।

शास्त्र कहता है "काम आत्माकी जान लेनेपर तुला हुआ उसका कट्टर वैरी है। उसे मार डालो—निष्काम बनो। यह बड़ा मायावी और स्नेही मालूम होता है। लेकिन इसके प्रेमके स्वांगपर मोहित होकर धोखा न खाना। यह जितना कोमल दीखता है उतना ही क्रूर है। इसके दिखानेके दांत प्रेममय हैं पर खानेके दांत जोंकसे भरे हुए। ऊपर ऊपरसे यह चैतन्य रससे परिपूर्ण बालकोंको जन्म देता हुआ दिखाई देता है, लेकिन यह वास्तविक नहीं है। 'यह बूढ़ी महतारी अबतक मरती क्यों नहीं' इसीकी इसे हमेशा फिक्र रहती है। याद रहे कि लड़केको जन्म देनेका अर्थ है पिताकी मृत्युकी तैयारी करना। अगर आपकी यह इच्छा होती कि आपके बाप-दादा आपके पुरखा जीवित रहें तो क्या आप लड़के और नाती-पोते पैदा करते? क्या आपको पता नहीं कि इतने आदमियोंका अथवा 'लोक-संग्रह' या मनुष्योंका इस पृथ्वी समा नहीं सकती? आप इतना भी नहीं जानते? या तो मरने ही वाले हैं यह हमारे बसकी बात नहीं पर यह देनेसे काम नहीं चलेगा। यह हम नहीं भूल सकते कि माताकी मृत्युकी अवश्यम्भाविता स्वीकार करके ही पुत्रका उत्पादन किया जाता है। इसीलिए तो जन्मका भी सूतक' (अशौच) रखना पड़ता है। चैतन्यरससे भरे बालकको उत्पन्न करनेका श्रेय अगर आपको देना हो तो उसी रससे भरी-पूरी माताको मार डालनेका पातक भी उसीके मत्थे होगा। उत्पत्ति और संहार, काम और क्रोध एक ही डंडीके दो सिरे हैं। 'काम' कहते ही तुरत 'क्रोध' का भास हो जाता है। इसीलिए अहिंसक मुनिजन सत्पुरुष संहार-क्रियाकी तरह उत्पत्तिकी क्रियामें भी हाथ नहीं बटाते। सच तो यह है कि बालकका चैतन्यरस कामका पैदा किया हुआ होता ही नहीं। जिस मलको अमरपदके मलिन हाथोंसे मा-बाप अपने-आपका जन्म मानते हैं वह रजोरस इसका पैदा किया होता है। कारण इसका अपना जन्म ही रजोगुणकी धूल (रज) से हुआ है। आप अगर इसके मनोरथ पूरे करनेके फंदेमें पड़ेंगे तो यह कभी अघायेगा ही नहीं। इसका बड़ा पेटू है। जिस-जिसने इसे तृप्त करनेका प्रयोग किया वे सभी असफल हुए। उन सबको यही अनुभव हुआ

कि कामकी तृप्ति कामोपभोग द्वारा करनेका यत्न स्वयं अग्नि बनकर पृथ्वीको निःशेष करनेके प्रयासकी तरह आत्मघातात्मक या असफल है। इसे चाहे जितना भोग लगाइये सब आगमें घी डालने-जैसा ही होता है। इसकी भूख बढ़ती ही जाती है। अन्नदाता ही इसका सबसे प्यारा खाद्य है और उसे खानेमें इसे निःसंदेह भस्मासुरसे भी बढ़कर सफलता मिलती है। इस लिए इस कामासुरको वरदान देनेकी गलती न कीजिए।

इसकी ठीक उलटी बात काम कहता है। वह भी उतनी ही सबलतासे कहता—"मोक्षके चक्करमें आओगे तो नाहक अपना काल-मोक्ष (कपाल क्रिया) करा लोगे। याद रखो वेदान्तकी ही बदौलत हिन्दुस्तान चौपट हुआ है। यह तुम्हें स्वर्गसुख और आत्म-साक्षात्कारकी मीठी-मीठी बातें सुनाकर भुलावेमें डालेगा। लेकिन यह इसकी खालिस दगाबाजी है। ऐसे काल्पनिक कल्याणके पीछे पड़कर ऐहिक सुखको जलांजलि देना बुद्धिमानीकी बात नहीं है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंकी चर्चा यदि कोई अमीर मनोविनोदके लिए भोजनके उपरान्त नींद आनेसे पहले या नींद आनेके लिए करे तो उसकी यह क्रीड़ा क्षम्य मानी जा सकती है परन्तु यदि कोई खाली पेट यह चर्चा करनेका हौसला करेगा तो वह याद रखे कि उसे व्यावहारिक तत्त्वमसि (पैसे) की ही शरण लेनी होगी। चांदनी बिल्कुल आटे-जैसी सफेद भले ही हो परन्तु उसकी रोटियां नहीं बनतीं। और तो कुछ नहीं मोक्षकी चिन्ताकी बदौलत जीवनका आनन्द खो बैठोगे। इस विश्वके विविध विषयों-का स्वाद लेनेके लिए तुम्हें इन्द्रियां दी गई हैं। लेकिन यदि तुम 'जगन्मिथ्या' मानकर इन्द्रियोंको मारनेका उद्योग करते होगे तो आत्मवंचना करोगे और आखिर तुम्हें पछताना पड़ेगा। पहले तो जो आंखोंको साफ-साफ नजर आता है उस संसारको मिथ्या मानो और फिर जिसके अस्तित्वके विषयमें बड़े-बड़े दार्शनिक भी शंकित हैं वैसी 'आत्मा' नामक किसी वस्तुकी कल्पना करो इसका क्या अर्थ है? वेदोंने भी कहा है, 'कामस्तदग्रे समवर्तत'—सृष्टिकी उत्पत्ति कामसे हुई। और इसका अनुभव तो सभीको है। यदि दरअसल ईश्वर-जैसी कोई वस्तु हो तो भी कल यदि सभी लोग निष्काम होकर ब्रह्मचर्य पालन करने लगें तो जिस सृष्टिको नष्ट होनेसे बचानेके लिए वही परमेश्वर समय-समयपर अवतार धारण करता

है उसका पूरा-पूरा विकास हुए बिना न रहेगा। 'साथ' के माने अगर आत्मिक गुण हों तो उनसे आपका अर्थ उसका विकास नाशोन्मुख ही हो सकता है।

यह है कामकी दलील।

अपूर्ण त्याग और अपूर्ण भाव ये परस्पर विरोधी वाद हैं। एक कहता है शरीर मिथ्या है दूसरा कहता है आत्मा मिथ्या है। दोनोंको एक-दूसरेकी परवा नहीं दोनों पूरे स्वार्थी हैं। लेकिन आत्मा और शरीर दोनों-का मिलन मनुष्यमें हुआ है। इसलिए इस तरह दोनों पक्ष अपने ही सम-मतकी देखकर अर्जुनके लिए आत्मनिर्णय करना असंभव हो गया उसी तरह समयागके धर्मसंकट अपने स्नेही-संबंधियोंसे दोनों विरोधोंके उत्पन्न देख-कर मनुष्यके लिए किसी भी एक पक्षके अनुकूल स्थायी और निश्चित निर्णय देना कठिन हो जाता है। मनकी द्विधा स्थिति हो जाती है और एक मन शरीरका पक्ष लेता है दूसरा आत्माकी हिमायत करता है। मनुष्यका जीवन न-शरीर आत्मा और आत्महीन शरीरकी नींवपर आश्रित है इसलिए उसे शुद्ध आत्मवाद या भोग-पूजा पचती नहीं और शुद्ध जड़वाद या नास्ति-वादभी रुचती नहीं। इन दोनों पक्षोंमें अद्वैत स्थापन करना या उनका सामंजस्य करना यह जीवनका काम है। यह कर्म करनेकी चतुराई या कौशल ही जीवनका रहस्य है।

यदि देहासक्त या नीचेवाले मनको 'मन' और आत्म प्रवण या ऊपर वाले मनको बुद्धि नाम दिया जाय तो 'मन' और 'बुद्धि' में एकता करके व्यवहार करना चाहिए। 'यथाधर्म—यथाऽधर्म' यह भक्तिकी समता यहां किसी कामकी नहीं। परम चार [illegible] दिया है और दो लड़के हैं तो प्रत्येकको कितनी रोटियां दी जाय? ऐसी त्रैराशिककी समता अगर मनुष्य जीवन तक लगा दी जाय तो बड़ा अनर्थ हो जाय। एक लड़का दो सालका है और दूसरा पच्चीस वर्षका। पहला स्तनपान करता भी, दूसरा युवक। ऐसे हिसाबकी व्यवस्था पर ध्यान न करके आधा शरीरका सन्तोष आधा आत्माका सन्ताप करनेकी कोशिश यह समता हल नहीं होगा। समताका अर्थ है योग्यताके अनुसार जीवन पालना। लेकिन आत्मा मनके आगे चाहे जितनी बड़ी संख्या भी जाय तो भी उसकी कीमत मनके मुकाबलेमें

मुख्य समझी जाती है, उसी तरहकी मान्यता जितनी ही बढ़ाई जाय उतनी ही आत्मा अनंत महिमाके मुकाबलेमें वह शून्यवत् हो जाती है। इसलिए निष्काम धर्मको आत्माके ही पक्षका समर्थन करना चाहिए।

यह हुआ एक पक्ष। इस पक्षकी दृष्टिसे मुख्य आत्मार्थ या आत्मधर्म इष्ट है परन्तु जबतक देहका बंधन है तबतक यह पक्ष नहीं प्रतीत होता। घर संसार छोड़कर परमार्थ करनेसे खानेका प्रश्न यों नहीं मिटता। यही कथन बहुतेरे लोगोंके दिमागमें—या यों कह लीजिये कि पेटमें—तुरंत घुस जाता है। 'उदरनिमित्तम्' धारा इकोसला होनेसे सभी चाहते हैं कि गुड़-खोपड़के नैवेद्यसे ही भगवान् संतुष्ट हो जाय। नामदेवका दिया हुआ नैवेद्य भगवान् खाते नहीं थे इसलिए वह वहीं धरना देकर बैठ गये। लेकिन इनका दिया हुआ गुड़-नारियल यदि भगवान् सचमुच खाने लगे तो भगवान् को एकादशी व्रत रखनेके लिए यह नई मजबूरी अख्तियार किये बिना न रहेगी! ये तो आत्माको थोड़े-से संतुष्ट करना चाहते हैं। कारण कि अगर आत्माको बिल्कुल ही संतोष न दिया जाय और केवल देहपूजाका पक्षका ही अनुसरण किया जाय तो उस देहपूजाके समाधानके लिए नास्तिक तत्त्वज्ञानका आश्रय करनेपर भी मन-आत्माका द्वंद्व बंद नहीं होता। इसलिए दोनों पक्षोंकी दृष्टिसे समझौता वांछनीय है। यह समझौता करानेका भार धर्म और अर्थने लिया है।

जब दो आदमी मार-पीट करके एक-दूसरेका सिर फोड़नेपर आमादा हो जाते हैं तब उनका झगड़ा मिटानेके लिए दोनों पक्षके लोग बीच-बचाव करने लगते हैं। उसी प्रकार आत्मवादी मोक्ष और देहवादी कामका झगड़ा मिटानेके लिए मोक्षकी तरफसे धर्म और कामकी तरफसे अर्थ ये दो पुरुषार्थ उपस्थित हुए हैं। धर्म-अर्थ—कम-से-कम दिखानेको तो—समझौता करानेके लिए बीच-बचाव करते हैं। इसलिए निष्पक्ष वृत्ति या मध्यस्थताके समझौतेका काम करना उनके लिए नामुमकिन हो जाता है। पर उनसे आशा दोनों पक्षोंको थोड़ा-बहुत खुश करनेवालेकी होनी चाहिए और होती भी है। परन्तु यद्यपि इन संधियोंसे ऊपरसे मिटनेकी बात करनी पड़ती है तथापि उनके दिलमें यह उत्कट इच्छा नहीं होती कि दोनों पक्षोंमें किसी

पर भी मार न पड़े। वे लहू-लुहान सिर देखना नहीं चाहते मगर सिर्फ अपने पक्षका। यदि केवल शत्रु-पक्षके ही सिर फूटते हों तो उन्हें कोई परवाह न होती। लेकिन दुःखका विषय तो यह है कि शत्रु-पक्षके साथ-साथ अपने पक्षके सिरपर भी डंडे पड़ते ही हैं। इसीलिए झगड़ा ही कटानेकी इतनी उत्सुकता होती है। सारांश धर्म और अर्थ यद्यपि द्वन्द्व मिटानेके लिए शांतिमय समझौते हुए बीच-बचाव करते आये हैं, तथापि वास्तवमें धर्मके मनमें यही इच्छा होती है कि कामका सिर अच्छी तरह कुचल दिया जाय और अर्थ भी चाहता है कि मोक्ष मर जाय तो अच्छा हो। किसी भी एक पक्षका नाश हुए बिना झगड़ा तो खत्म होता ही। कई बार जो काम लड़ाईसे नहीं होता वह सुलहसे हो जाता है। योद्धाओंकी तलवारकी अपेक्षा राजनीतिज्ञकी कलमको कभी-कभी सफलताका अधिक हिस्सा मिलता है। 'मोक्ष और 'काम' को अगर योद्धा मानें तो धर्म और अर्थ को राजनीतिज्ञ कहना चाहिए। दोनों समझौता चाहते हैं लेकिन धर्मकी यह कोशिश होती है कि संधिकी शर्तें मोक्षानुकूल हों और अर्थका यह यत्न होता है कि वे कामानुकूल हों। प्रत्येक चाहता है कि समझौता तो हो लेकिन अपने पक्षकी कोई हानि न हो। यहां इस समझौतेका थोड़ा-सा नमूना ही दिखाया जा सकता है। उदाहरणके लिए—

मोक्ष ब्रह्मचारी और काम व्यभिचारी है। इस प्रकार ये दो सिरे हैं। धर्म कहेगा— हमारा आदर्श ब्रह्मचर्य ही होना चाहिए, इसमें संदेह नहीं। उस आदर्शके पालनका जोरोंसे यत्न करना चाहिए। पर काम बहुत ही प्रबल है। अतः धार्मिक विधिके अनुसार गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार कर उसके आगे एकाध टुकड़ा डाल देना चाहिए। परन्तु यहां भी उद्देश्य तो संयमके पालनका ही होना चाहिए और फिर तैयारी होते ही श्रेष्ठ आश्रममें प्रवेश करके उससे छुटकारा पा जाना चाहिए। ब्रह्मचर्यसे प्रजा उत्पन्न न होगी यह पापके समर्थनमें दी जानेवाली लचर दलील है। संतानके उत्पन्न होनेकी फिक्र आप न करें। उसके लिए भगवान् समर्थ हैं। ब्रह्मचर्यसे सृष्टि नष्ट नहीं होगी उलटे उज्ज्वल होगी। फिर भी संयमका पालन करनेके अभिप्रायसे गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं है। इसमें कामको भी थोड़ा बहुत काम मिल जायगा। लेकिन इसमें कब कुछ खुराक पाऊंगा इसकी चिंता

और चिंतन लगातार करते रहना चाहिए। इससे मोक्षकी भी पूर्व-तैयारी हो जायगी।

धर्म कहेगा 'अगर व्यभिचारको स्वीकृति दी जाय तो संसारकी व्यवस्थाका अंत हो जायगा। इसलिए वह न इष्ट है, न शक्य। परंतु ब्रह्मचर्यका नियम तो एकदम निसर्ग विरोधी है। वह अशक्य ही नहीं अनिष्ट भी है। तब बीचका गृहस्थ-वृत्तिका ही राजमार्ग श्रेय रहता है। इसमें थोड़ा सा संयमका कष्ट जरूर है लेकिन वह अपरिहार्य है। बुढ़ापेमें इंद्रियां अर्ध शिथिल हो जानेपर अनायास ही त्याग हो जाता है। इसलिए यह त्यागकी शर्त अपरिहार्य होनेके कारण उसे मंजूर कर लेना चाहिए। इससे मोक्षको भी जरा तसल्ली होगी। लेकिन विवाहका बंधन अभंग माननेका कोई कारण नहीं है। विवाह हमारे सुखके लिए होते हैं हम विवाह के लिए नहीं हैं। इसीलिए हम विवाहके धर्मको स्वीकार नहीं करते लेकिन विवाहकी नीति को स्वीकार कर सकते हैं।

मोक्षकी दृष्टिसे अहिंसा परम धर्म है। पतंजलिने कहा है कि यह 'जाति-देश-काल-समय' आदि सारे बंधनसे परे 'सार्वभौम महाव्रत' है। इसके विपरीत कामका सिद्धांत-वाक्य 'ईश्वरोऽहमहं भोगी' है। इसलिए उसका तो बिना हिंसाके निर्वाह ही नहीं हो सकता क्योंकि साम्राज्यवादकी वृकोदर वृत्तिकी इमारत हिंसाके ही पायेपर रखी जा सकती है।

ऐसी स्थितिमें धर्म कहेगा 'कम-से-कम मानसिक हिंसा तो किसी हालतमें नहीं होने देनी चाहिए। शरीर-धर्मके रूपमें कुछ-न-कुछ हिंसा अनजाने भी हो ही जाती है। उसे भी कम करनेकी कोशिश करनी चाहिए। परंतु प्रयत्न करनेपर भी कमजोरीके कारण जो हिंसा बाकी रह जायगी उतनी क्षम्य समझी जाय। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उतनी हिंसा करनेका हमें अधिकार है। किंतु उतनीके लिए हम परमेश्वरसे नम्रतापूर्वक क्षमा मांगें और अपनी बुद्धि शुद्ध रखें। अगर क्षमा-वृत्ति असंभव ही हो तो 'सौ अपराध माफ करूंगा' जैसा कोई व्रत लेकर हिंसाको आगे टाल देना चाहिए। इतना करनेपर भी हम अपनी वृत्तिको काबूमें न रख सकें हमारे अंतःकरणमें छिपा हुआ पशु अगर जाग ही उठे तो हम अपनेसे अधिक बलवान् व्यक्तिसे लोहा लें कम-से-कम अपनेसे कम बलवान्को तो क्षमा

करें। यह भी नामुमकिन हो तो प्रजा बचानेके लिए हिंसा करें, हमला करनेके लिए नहीं। उसमें भी फिर हिंसाके साधन जहांतक हो सके सीधे सादे और सुघर हों। केवल शरीरसे ही हाथ-युद्ध करें, हथियार काममें न लायें। सारांश, चाहे धर्ममें हिंसाका स्थान भले ही न हो, लेकिन हिंसामें धर्मका स्थान अवश्य होना चाहिए।

धर्म कहता है — हिंसाके बिना संसारका चलना ही असंभव है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' सृष्टिका न्याय है। हमें उसे मानना ही पड़ेगा। लेकिन हिंसा करना भी एक कला है। उस कलामें निपुणता प्राप्त किये बिना किसी को भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। मुसलमानोंके राजमें जितनी नरसंहारी हत्या होती थी उससे कई गुनी ज्यादा अंग्रेजोंके राजमें कत्ल की जाती है यह बात सरकारी आंकड़ोंसे साफ जाहिर है। लेकिन मुसलमान हिंसाकी कलाके पंडित नहीं थे इसलिए उनके खिलाफ इतना हो-हल्ला मचा। अंग्रेजोंके खिलाफ किसीको खास चिढ़ नहीं होती। इसका कारण है, हिंसाकी कला। स्पेनिश इन्फ्लुएंजाने तीस करोड़ आदमियोंमेंसे थोड़े ही समयमें साठ लाख आदमियोंको खाकर अपने-आपको बदनाम कर लिया। वस्तुतः मलेरिया उससे अधिक आदमियोंका कलेवा कर लेता है। लेकिन धीरे-धीरे पचा पचाकर खानेका आहार-शास्त्रका नियम उसे मालूम है इसलिए वह बड़ा साधु ठहरा। नव चिकित्सा-विज्ञानका एक नियम है कि शीतोपचार और उष्णोपचार एकके बाद एक बारी-बारीसे करते रहना चाहिए। यही नियम हिंसापर भी लागू होता है। जबतक युद्धके पश्चात् शांति-परिषद् और शांति-परिषदके बाद फिर युद्ध यह क्रम भलीभांति जारी न किया जा सके तबतक हिंसा नहीं करनी चाहिए। चूनेपर ईंटें और ईंटोंपर चूना रख-रखकर दीवार बनाई जाती है और फिर उसपर चूना पोता जाता है। इसी प्रकार शांतिके बाद युद्ध और युद्धके बाद शांति के क्रमसे साम्राज्य कायम करके उस साम्राज्यपर फिर शांतिका चूना पोतना चाहिए। इसके बदले अगर केवल ईंटोंपर ईंट ही जमाई जाय तो सारी ईंट भुड़ककर गिर जाती हैं। इसलिए दो हिंसाओंके बीच एक शांतिको स्थान अवश्य देना चाहिए। इतना समझौता करनेमें कोई हर्ज नहीं।

अथमसर्वस्वमूल नायम् नित्य यह मात्रका मूल-वाक्य है। इसके विपरीत

जहाँ नामोपभोग ही महामंत्र है वहाँ धर्म-संयमका अनुष्ठान स्वाभाविक ही है। धर्मके मतसे 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य' —मनुष्यकी तृप्ति धर्मसंचयसे कदापि नहीं हो सकती। इसलिए धर्मसंग्रह करना ही हो तो उसकी मर्यादा बना लेनी चाहिए। सृष्टिका स्वरूप 'प्रवाह' है। अर्थात् कलके लिए संचय उसके पास नहीं है। इसलिए मनुष्यको भी 'अस्वस्व-संग्रह' रखना चाहिए। 'स एवाद्य स श्वः' — "वह आज भी है और कल भी है" यह वर्णन ज्ञान संग्रहपर घटित होता है। इसलिए एक आदमी चाहे कितना भी ज्ञान क्यों न कमावे उसके कारण दूसरेका ज्ञान नहीं घट सकता। परन्तु द्रव्य-संग्रह की यह बात नहीं है। मैं अगर पच्चीस दिनके लिए अन्न ही संग्रह करके रखता हूँ तो मेरा व्यवहार चौबीस मनुष्योंका अन्नका संग्रह चुरानेके बरा बर है और इतने मनुष्योंको कम या अधिक मात्रामें भूखों मारनेका पाप मेरे सिर है। इसके अलावा सृष्टिमें अधिक संग्रह ही न होनेके कारण इतना संग्रह करनेके लिए मुझे कुटिल मार्गोंका अवलंबन करना पड़ता है। एक-भारकी संग्रह करनेमें मेरी शक्तिपर अतिरिक्त बोझ पड़ता है इसलिए मेरी वीर्य-हानि होती ही रहती है। इसके अतिरिक्त इतना परिग्रह सुर क्षित रखनेकी चिंताके कारण मेरा चित्त भी प्रसन्न नहीं रह सकता। धर्म संग्रहकी एक ही क्रियामें सत्य अहिंसा अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाचों व्रतोंका सामुदायिक भंग होता है।

इसलिए कम-से-कम यानी केवल शरीर-निर्वाहके लिए ही संग्रह करना चाहिए। वह भी—'प्रमाणो मर्दन कृत्वा अमसजातवारिणा'—"शरीर-श्रम द्वारा शरीरमेंसे पानी निकालकर —करना चाहिए। केवल शरीर-कर्मसे शरीर-यात्रा चलानेसे पाप लगनेका डर नहीं होता—'नाप्नोति किल्बिषम्' यह भगवान् श्रीकृष्णका आश्वासन है। परतु जैसाकि कालि दासने रघुवंशके राजाओंका वर्णन करते हुए कहा है उसमें भी त्यागमयी वृत्ति होनी चाहिए। कारण केवल तुम्हारा धन ही नहीं तुम्हारा शरीर भी तुम्हारा निजका नहीं है किंतु सार्वजनिक है ईश्वरका है। सारांश संग्रहका परिमाण अत्यल्प या तात्कालिक साधन शारीरिक श्रम हेतु केवल शरीर-यात्रा और वृत्ति त्यागमयी हो तो इतना भोग धर्मको मंजूर है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'।

धर्मकी रायमें—

आखिरमें जीवन-कलह चिरस्थायी है। जो योग्य होगा वह टिकेगा, जो अयोग्य होगा उसका नाश होगा। इसलिए सबका सुभीता देखनेका प्रयास व्यर्थ है। इसके अलावा विश्वका विस्तार अनंत है। उसका एक जरा-सा ही हिस्सा हमारे काबूमें आ पाया है। भौतिक शास्त्रों (विज्ञान) की ज्यों-ज्यों उन्नति होगी त्यों-त्यों हमारा प्रभुत्व भी अधिक विस्तृत होनेकी संभावना है। इसलिए अगर हम सबकी सुविधा देखनेकी अनावश्यक जिम्मेदारी स्वीकार कर भी लें तो भी उसे पूरी करनेका एकमात्र उपाय हमारा अपना संग्रह कम करना नहीं है। सबके सामुदायिक संग्रहकी वृद्धि करनेका एक दूसरा रास्ता भी हमारे लिए अभी खुला है और वही जीवनका रास्ता है। सृष्टिमें अक्षय भण्डार भरा हुआ है। पर हमें उसका पूरा ज्ञान नहीं है। इसलिए वैज्ञानिक आविष्कारकी दिशामें प्रयत्न जारी रखकर भविष्यके लिए संग्रह करनेमें कोई हर्ज नहीं है—बल्कि संग्रह करना कर्तव्य है। मनुष्यकी जरूरत जितनी बढ़ेगी उतना ही व्यापारको उत्तेजन मिलेगा और संपत्ति बढ़ेगी। इसलिए संग्रह अवश्य करना चाहिए।

लेकिन बिलकुल ही एकांतिक स्वार्थ ठीक नहीं होता। कारण कि मनुष्य समाजप्रिय है इसलिए उसे दूसरोंके स्वार्थका भी विचार करना ही पड़ता है। अपनी रोटीको स्वादिष्ट बनानेके लिए स्वार्थके आटेमें थोड़ा सा परार्थका नमक भी मिलाना जरूरी हो जाता है। लेकिन याद रहे कि आटेमें नमक मिलाना है, न कि नमकमें आटा। स्वार्थके पासपर परार्थका नाम बना रहे तो शोभा बढ़ जाती है। लेकिन उसके बराबर किसी समाजमें एक बात है और वह आसन जमाकर बैठ लेना दूसरी बात है। परार्थके सिद्धान्तको अगर अनावश्यक महत्त्व दिया जायगा तो परावलम्बनको प्रोत्साहन मिलेगा। आज स्वावलम्बनका तत्त्व है। स्वार्थमय जीवन-संग्राममें जो दुर्बल हो उसे नष्ट होना ही चाहिए और दुर्बलोंको आश्रय अगर हम सर्वोपरि न दें तो यह दूषण नहीं है किंतु भूषण ही है।

पर दुनियाका काम रखना दूसरोंका पालन करना है। प्याऊ लगाना पुण्य माना जाता है। लेकिन स्वयं धर्म-शास्त्रोंने ही कहा है कि प्याऊपर पानी पीनेवाला पापका भागी होता है। इसका क्या मतलब है?

क्या प्याऊ इसलिए होती है कि लोग उसका पानी ही न पियें? दूसरोंको पानी पिलानेसे उन्हें हमारे पापका अंश मिलेगा और हमारा पाप कुछ अंश में घटेगा इस विचारमें कहांतक सचाई है? और फिर यह देखिये कि मैं लोगोंकी चिंता करूं और लोग मेरी चिंता करें, इस तरहकी शाब्दिक भाषा मान करनेके बजाय क्या यही बेहतर नहीं है कि हरेक अपनी-अपनी फिक्र करे? शहरोंमें कुछ स्त्रियां अपने बच्चोंको रास्तेपर शौच कराती हैं। लेकिन मजा यह कि अपने घरकी आस-पासमें गंदगी न हो इसलिए अपने बच्चोंको दूसरोंके घरके सामने बैठाती हैं? और दूसरे भी प्रतियोगी सहयोगके सिद्धान्तके अनुसार उनके घरके सामने बैठाते हैं! इसके बदले सीधे अपने बच्चोंको अपने घरके सामने बैठायें तो क्या हर्ज है? यह परार्थ का दम्भ भी इसी कोटिका है। इसलिए मनुष्यताका अपमान करनेवाली यह परार्थ-वृत्ति त्यागकर हरेकको स्वार्थ-साधना करते रहना चाहिए। दूसरेकी बहुत अधिक चिंता नहीं करनी चाहिए। सहानुभूतिके सुखके लिए या दूर दर्शी स्वार्थकी दृष्टिसे तात्कालिक सुखका त्याग क्वचित् करना पड़ता है। उतना समझौता जरूर कर लेना चाहिए।

काम क्रोध और लोभ ये तीन नरकके दरवाजे माने हैं। इसलिए मोक्षका मुख्य आक्रमण इन्हींपर होना स्वाभाविक है। इसलिए इन तीनोंके विषयमें उपभोगकी दृष्टिसे धर्म और अर्थ का क्या स्थान हो सकता है इसका विचार अबतक किया गया। आखिर काम भी एक पुरुषार्थ ही है। इसलिए उसका जो चित्र यहां खींचा गया है, वह शायद कुछ लोगोंको अतिरंजित मालूम होगा। लेकिन है यह बिलकुल वस्तु-स्थितिका निदर्शक। "स्वर्गकी गुलामीकी अपेक्षा तो नरकका अधिराज्य श्रेयस्कर है" मिल्टनके शैतानका यह वाक्य भी इसी अर्थका द्योतक है। 'पुरुषार्थ' का अर्थ है पुरुषको प्रवृत्त करनेवाला हेतु। यह आवश्यक नहीं कि वह हेतु 'सद्धेतु' ही हो। हिंदू-धर्मने कामको भी पुरुषार्थ माना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने कामपर मान्यता (स्वीकृति) की मुहर लगा दी हो। यहां तो इतना ही अर्थ है कि काम भी मनुष्यके मनमें रहनेवाली एक प्रेरक शक्ति है। आत्मवान् पुरुष चाहे उसे स्वीकार भी न करे। इसके विपरीत 'मोक्ष' की गिनती भी 'पुरुषार्थ' में करके हिंदू-धर्मने उसपर मान्यताकी मुहर नहीं लगाई है। यहां

को इतना ही अभिप्राय है कि मोक्ष भी मानवीय मनकी एक प्रेरक शक्ति है। देहधारी पुरुषके लिए उसकी मात्रा सामान्य शायद असम्भव भी हो।

शास्त्रकारोंने तो केवल मनुष्यकी अनुकूल और प्रतिकूल प्रेरणाओंकी तरफ संकेतमात्र किया है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है, इसलिए इच्छा यह है कि मनुष्य उसकी तरफ अग्रसर हो। और काम अधम पुरुषार्थ है, इसलिए इरादा यह है कि जहांतक हो सके उसकी तरफ ही न देखा जाय। लेकिन इन दोनों का मिलाप करनेकी प्रेरणा होना मनुष्यके लिए स्वाभाविक है। इसलिए धर्म और अर्थ जिसकी दो प्रेरणाएं कही गई हैं। मनुष्यको उद्योग देनेकी चेष्टा करनेवाले ये दो मध्यस्थ हैं। संस्कार भेदसे किसीको धर्मप्रिय होगा किसीको अर्थ प्यारा लगेगा।

शास्त्रकारोंकी व्यवस्थाके अनुसार सृष्टिके तीन विभाग होते हैं— (१) पुष्टि (२) मर्यादा और (३) प्रवाह। जो आत्म-साक्षात्कारका अमृत पीकर पुष्ट हो गये हैं मोक्ष-शास्त्रके ऐसे उपासक पुष्टिकी भूमिकापर विहार किया करते हैं। माया नदीके प्रवाहमें बह जानेवाले काम-शास्त्रके अनुगामी प्रवाह-पतित वासनाओंके गुलाम होते हैं। ये दोनों तरहके व्यक्ति समाज-शास्त्रकी मर्यादासे परे हैं। काम-कामी पुरुष समाजके सुखका विचार ही नहीं कर सकता क्योंकि उसे तो अपना सुख देखना है। मोक्षार्थी पुरुष भी समाज-सुखकी फिक्र नहीं कर सकता क्योंकि उसे किसीके भी सुखकी चिंता नहीं। कामशास्त्र स्व-सुखार्थी है और मोक्ष-शास्त्र स्व-हितार्थी है। इस तरह दोनों स्व-अर्थी ही हैं। "प्रायेण देव-मनय स्व-मुक्तिकामा —" "देव या ऋषि भी प्राय स्वार्थी ही होते हैं" यह भगवद्भक्त प्रह्लादकी प्रेमभरी शिकायत है। इन दो एकान्तिक वर्गोंके सिवा सामाजिक कानूनों या नियमोंकी मर्यादाओंमें रहनेवाले जो लोग होते हैं उनके लिए धर्मशास्त्र या अर्थशास्त्रकी प्रवृत्ति है।

अब मोक्ष-शास्त्रके साथ न्याय करनेकी दृष्टिसे इतना तो मानना ही पड़ता कि जैसे काम-शास्त्रको समाजकी परवा नहीं है वैसे समाजको मोक्ष शास्त्रकी गरज नहीं है। अर्थात् समाज और काम-शास्त्रके अनबनकी जिम्मेदारी अगर काम-शास्त्रपर है तो समाज और मोक्ष-शास्त्रके अनबनका दायित्व समाजपर ही है। मोक्ष-शास्त्र स्वहित परायण तो है, परन्तु जैसा

स्व-सुख और पर-सुखका विरोध है वैसा स्वहित और पर-हितका विरोध नहीं है। इसलिए जो 'स्व-हित'-रत होता है वह अपने-आप ही 'सर्वभूत हितरत' हो जाता है।

लेकिन मनुष्य 'सर्वभूत-हितेरत' होते हुए भी समाजको प्रिय नहीं होता। कारण यह कि समाज सुख-लोलुप होता है उसे हितकी कोई खास परवा नहीं है। सात्त्विकताका दुःख भी वह ज्यादा सह नहीं सकता। यह सच है कि संत जगतके कल्याणके लिए होते हैं। लेकिन यदि वे जगत के सुखके लिए हों तो समाजको प्रिय होवें। ईसा सुकरात तुकाराम आदि सब समाजको प्रिय हैं परन्तु अपने-अपने समयमें तो वे समाजको काटेकी तरह चुभते थे। आज भी वे इसलिए प्रिय नहीं हैं कि समाज उतना आगे बढ़ गया है बल्कि इसलिए कि वे आज जीवित नहीं हैं।

अब कामशास्त्र चूंकि बिलकुल ही तामस और समाजकी अवहेलना करनेवाला है इसलिए वह समाजको दुःखदायी होता है। काम-शास्त्र समाजको 'दुःख' देता है मोक्ष-शास्त्र 'हित' देता है इसलिए दोनों समाज बाह्य हैं। कामशास्त्रका तामस 'प्रवाह' और मोक्ष शास्त्रकी सात्त्विक 'पुष्टि' दोनों समाजको एक-सी असह्यकर मालूम होती हैं। किसी-न-किसी मरीजकी ऐसी नाजुक हालत हो जाती है कि उसे अन्न दीजिये तो हजम नहीं होता और उपवास सहन नहीं होता। समाज भी एक ऐसा ही नाजुक रोगी है। बेचारा चिकित्सकोंके प्रयोगका विषय हो रहा है। उसके लिए तामस प्रवाह और सात्त्विक पुष्टि दोना वर्ज्य ठहरे हैं इसलिए उसपर राजस मर्यादाके प्रयोग हो रहे हैं। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों समाजके लिए मर्यादाएं कायम करनेवाले शास्त्र हैं। दोनोंको राजस कहा जाय तो भी धर्मशास्त्रको सत्त्व-प्रचुर और अर्थशास्त्रको तमो-प्रचुर कहना होगा। हमारे यहां मुख्यतः धर्मशास्त्रका विकास हुआ पश्चिममें अर्थशास्त्रका हुआ।

पहले-पहल समुद्र-मंथन करते ही विष निकल आया परन्तु अमृत हाथ आनेके लिए बहुत परिश्रम करना पड़ा। इसी न्यायसे समाज-शास्त्रके उदय-में अध्ययनके अर्थशास्त्रका जन्म होता है, लेकिन धर्मशास्त्रके उदयके लिए कठोर अध्ययनकी आवश्यकता होती है। हमारे यहां भी धर्मशास्त्र

था। वह बिलकुल रहा ही नहीं ऐसी बात नहीं है परन्तु उसकी बहुतेरी तासीर जानकर समाज-शास्त्रको अधिक महत्त्व दिया गया और अर्थशास्त्र निकाला गया। आर्य-संस्कृतिमें अर्थशास्त्रका विकास नहीं हुआ इसका यही कारण है। या फिर यह कहना ही गलत है कि विकास नहीं हुआ। पूर्ण विकास हुआ इसीलिए धर्मशास्त्रका उदय हुआ। पाश्चात्य अर्थशास्त्रके इतिहाससे भी इसी बातका प्रमाण मिल रहा है। "अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः"—"अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र अधिक प्रमाणभूत है" इस सिद्धान्तका जन्म हुए बिना धर्मशास्त्रका सूत्रपात ही नहीं हो सकता। इस सिद्धान्तके जन्मके लक्षण पाश्चात्य संस्कृतिमें गत शताब्दीके उत्तरार्द्धसे होने लगे।

अर्थशास्त्रके अन्न-विभागके तत्त्वसे अब सभी ऊबने लगे हैं। गरीब राष्ट्र आमरण 'अहमन्नम् अहमन्नम् अहमन्नम्'—मैं खाद्य हूँ, मैं खाद्य हूँ, मैं खाद्य हूँ—ऐसी उपासना करें और बलवान् राष्ट्र 'अहमन्नादः अहमन्नादः अहमन्नादः'—"मैं खानेवाला हूँ, मैं खानेवाला हूँ, मैं खानेवाला हूँ"—यह मंत्र जपते रहें, ऐसे नीच अन्न-विभागसे अब दुनिया बिलकुल उकता गई और थक गई है। रस्किन जैसे साधुचरितोंने अर्थशास्त्रके विरुद्ध जो मोर्चा शुरू किया उसे आगे चलानेवाले वीरोंकी परम्परा अव्याहत चल रही है। और अब लोगोंको धन विषवत् ही होनेके स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे हैं। 'अर्थशास्त्र' को शंकराचार्यने 'अनर्थशास्त्र' नाम कभीका दे रखा है। उसी नामका 'डिस्मल साइंस' (काली विद्या) कहकर, जीर्णोद्धार पाश्चात्य लोग कर रहे हैं। इसीलिए अर्थशास्त्रके नये यथोचित-संस्करण निकलने लगे हैं। इसपर लक्षणासे आशा की जा सकती है कि पाश्चात्य संस्कृतिमें शीघ्र धर्मका अवतार होगा। पिछले महायुद्धसे तो प्रसव-वेदना भी शुरू हो गई है। इसलिए कुछ लोगोंका यह खयाल है कि अब यह अवतार जल्दी ही होनेवाला है।

यह अवतार कितनी देरमें होनेवाला है यह कहना कठिन है। लेकिन इस अवतारके आगेकी प्रारम्भिक तैयारी करनेवाले नीति-शास्त्रका जन्म हो चुका है और वह दिन-पर-दिन बड़ा भी हो रहा है, धर्म-प्रधान पौरस्त्य संस्कृति और अर्थ-प्रधान पाश्चात्य संस्कृतिकी एक-वाक्यताकी आशा

नीतिशास्त्र से बहुत-कुछ की जा सकती है। लेकिन आकाश और पृथ्वीको स्पर्श करनेवाली क्षितिजकी रेखा जिस प्रकार काल्पनिक है, उसी प्रकार की स्थिति इस उभयात्मकी शास्त्रकी भी है। कोशका काम केवल भले-बुरे सभी तरहके शब्दोंका संग्रह करना है। इसलिए उसका अपना कोई भी विशेष संदेश नहीं होता। "तुम व्यवहार करते समय मेरा उपयोग कर सकते हो" इससे अधिक वह कुछ नहीं कह सकता। इसी तरह नीति-शास्त्र का कोई विशेष प्रमेय नहीं है। माया समाने 'मुझे बरतो मुझे बरतो' कहता रहना ही उसके भाग्यमें लिखा है। उसकी गिनती पुरुषार्थोंमें करनेकी किसी को नहीं सूझती।

नीतिशास्त्रका सिद्धांत ही यह है कि किसी भी सिद्धांतका अत्यधिक आग्रह नहीं रखना चाहिए। इसलिए इस बिंदुपर सारी दुनियाको एक किया जा सकता है। लेकिन 'सतोपसे रहो' 'हिलमिलकर रहो' या 'जैसे चाहो वैसे रहो'—इस तरहकी सार्विक सिफारिश करनेमें अधिक नीतिशास्त्र मात्र कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए उसके भंडेके नीचे सारा विश्व एकत्र होनेकी संभावना होते हुए भी इस भव्य विश्वासकी अपेक्षा लोगोंको सभोटीसे भी अधिक संतोष होता है। 'मरणैकक जीवेभ्ये' इस आशीर्वादमें सत्य है, परन्तु स्फूर्ति नहीं है। इसलिए इस आशीर्वादमें उतना संतोष देनेकी भी सामर्थ्य नहीं है जितना संतोष कि 'परीक्षितको सात दिनमें मरोगे' इस शापसे हुआ होगा। मनुष्यको मनुष्यतासे व्यवहार करना चाहिए, यह नीति-शास्त्रका रहस्य है। और मनुष्यताके क्या मानी हैं? मनुष्यका स्वभाव! सत्ताके मानी प्रत्येक पदार्थका नाम! ऐसे व्यापक शास्त्रसे मनुष्यको संतोष कैसे हो सकता है? संस्कृत न्यायशास्त्रमें एक ही प्रकार प्रमेय होते हैं। 'जिसमें घटत्व है वह घट है' "जिसमें पटत्व है वह पट है" 'जिसमें पत्थरपन है वह पत्थर! और जिसमें यह सब हो वह है न्याय शास्त्र! ऐसी ही दशा नीतिशास्त्रकी हो रही है। इसलिए धर्ममोक्षकी बात तो जाने दीजिए अर्थ-कामके बराबरकी स्फूर्ति भी उसमें नहीं है।

परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि धर्म और अर्थ चाहे कितना ही समझौतेका स्वांग क्यों न करें फिर भी वे पक्षपाती ही हैं और नीति-शास्त्र निष्पक्षपात है। निष्पक्षपात वृत्तिके कारण यद्यपि-अधिक कुछ कम भले

ही हो तो भी यह उसका गुण ही माना जाना चाहिए। जिसके भोजनमें आकर्षण नहीं होता। रोजकी खुराक होनेसे नीतिशास्त्रमें चाहे आकर्षकताका अभाव भले ही हो परन्तु सारे समाजको देने योग्य उससे बढ़कर पौष्टिक दूसरी खुराक नहीं है। धर्म-मोक्ष पौष्टिक होते हुए भी महँगे हैं। अर्थ-काम सस्ते तो हैं मगर उनकी गिनती कुपथ्यमें होती है। इसलिए संसारको आज नीतिशास्त्रके बिना गत्यन्तर नहीं है।

ऊपर कहा गया है कि हमारी संस्कृति धर्म प्रधान है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम धर्म-प्रधान हैं। हम तो अर्थ-कामके ही दास हैं। इसलिए यद्यपि हमारी संस्कृतिको नीतिकी परवाह नहीं तथापि हमारे लिए नीति की उपासना करना निहायत आवश्यक है। सारांश क्या हमारी और क्या दूसरोंकी—सारे संसारकी ही—सामान्य भाषा नीतिशास्त्र ही है ऐसा कहा जा सकता है। सभी पुरुषार्थोंकी शिक्षा इसी भाषामें दी जानी चाहिए। नीति पुरुषार्थ भले ही न हो किन्तु पुरुषार्थोंके शिक्षणका द्वार है। अगर पुरुषार्थोंका भाषान्तर नीतिकी भाषामें किया जाय तो सभी पुरुषार्थोंका स्वरूप सौम्य तथा परस्परानुकूल प्रतीत होगा।

वसिष्ठ ऋषिके आश्रममें बाघ और गाय एक ही घाटपर पानी पीते थे ऐसा वर्णन है। इसका केवल स्थूल ही अर्थ नहीं है परन्तु सूक्ष्म अर्थ है—अर्थात् न केवल बाघकी क्रूरता ही नष्ट होती थी बल्कि गायकी भीरुता भी नष्ट हो जाती थी। मतलब बाघ भूखा मरे शेर भूखा मरे। इस तरह मेल बैठता है नहीं तो शेरको गाय बनानेकी सामर्थ्य तो सर्कसवालोंमें भी है। उसके लिए ऋषिके आश्रमकी जरूरत नहीं है।

नीतिके माध्यमसे ही सभी पुरुषार्थोंका आग्रही या एकांगी स्वरूप बदलकर उनका समन्वय हो सकेगा। नीतिके जरियेसे ही चारों पुरुषार्थोंके रंग बिल्कुल बदले हुए नजर आयेंगे। कामकी सुन्दरता, अर्थकी उपयोगिता, धर्मकी पवित्रता और मोक्षकी स्वतन्त्रताका एकत्र दर्शन होगा और संपूर्ण जीवनकी यथार्थ कल्पना आयेगी। सौन्दर्य, उपयोगिता, पावित्र्य और स्वातंत्र्य इन चार विभागोंको नीतिका आकार स्पर्श करता है इसलिए अगर चारों पुरुषार्थ यह नई पोशाक पहनना मंजूर कर लें तो उनका द्वैत कम होकर मनुष्य को सन्तोष होनेकी सम्भावना है।

परन्तु आधुनिक नीतिशास्त्रका अपना कोई निश्चित सिद्धान्त न होनेके कारण वह बिलकुल खोखला हो गया है। इसलिए उससे ठोस सम्शोधनकी आशा करना व्यर्थ है। दूसरी भाषामें वर्तमान नीतिशास्त्रके आत्मा ही नहीं है, इसलिए उसका स्वरूप बहुत-कुछ यान्त्रिक हो गया है। चार पुरुषार्थोंके मिलाप की सम्भावना दिखाई पानेपर भी उनमें समझौता करनेका कर्तृत्व इस शास्त्रमें नहीं है, इसलिए इस कमीकी पूर्ति करनेके उद्देश्यसे ऋषियोंने कर्तृत्ववान् योगशास्त्रका निर्माण किया। समझौतेकी पूर्व तैयारीके लिए नीतिशास्त्रको धन्यवाद देकर अगले कार्यके लिए इस योगशास्त्रकी शरण लेनी पड़ी। 'अथ योगानुशासनम्'।

२६

निर्भयता

निर्भयता तीन प्रकारकी होती है—भिज्ञ निर्भयता, ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, विवेक निर्भयता। 'भिज्ञ' निर्भयता वह निर्भयता है जो खतरोंसे परिचय प्राप्त करके उनके इलाज जान लेनेसे आती है। यह जितनी प्राप्त हो सकती हो उतनी कर लेनी चाहिए। जिसकी सांपोंसे जान पहचान हो गई, निर्विष और सविष सांपोंका भेद जिसने जान लिया, सांप पकड़नेकी कला जिसे सिद्ध हो गई, सांप काटनेपर किये जानेवाले इलाज जिसे मालूम हो गये, सांपसे बचनेकी युक्ति जिसे विदित हो गई, वह सांपोंकी तरफसे काफी निर्भय हो जायगा। अवश्य ही यह निर्भयता सापेक्ष या सीमित रहेगी। हरेकको शायद यह प्राप्त न हो सके, लेकिन जिसे सांपोंमें रहना पड़ता है उसके लिए यह निर्भयता व्यावहारिक उपयोगकी चीज है, क्योंकि उसकी बदौलत जो हिम्मत आती है, वह मनुष्यको अस्वाभाविक घबराहटसे बचाती है। लेकिन यह निर्भयता मर्यादित है।

दूसरी यानी ईश्वरनिष्ठ निर्भयता मनुष्यको पूर्ण निर्भय बनाती है।

परन्तु दीर्घ प्रयत्न पुरुषार्थ भक्ति इत्यादि साधनोंके सतत अनुष्ठानके बिना यह प्राप्त नहीं होती। जब यह प्राप्त होगी तो किसी अवान्तर सहायताकी जरूरत ही न रहेगी।

इसके बाद तीसरी किस्मकी निर्भयता है। वह मनुष्यको अनावश्यक और अटपटा साहस नहीं करने देती। और फिर भी अगर खतरेका सामना करना ही पड़े तो विवेकसे बुद्धि शान्त रखना सिखाती है। साधकको चाहिए कि वह इस किस्मकी निर्भयताको प्राप्त करनेका प्रयत्न करे। यह हरेककी पहुंचमें है।

मान लीजिये कि मेरा शेरसे सामना हो गया और वह मुझपर झपटना ही चाहता है। सम्भव है कि मेरी मृत्यु अभी बदी न हो। अगर बदी हो तो वह टल नहीं सकती। परन्तु यदि मैं भयभीत न होकर अपनी बुद्धि शान्त रखनेका प्रयत्न करूं तो बचनेका कोई रास्ता सूझनेकी सम्भावना है? या ऐसा कोई उपाय न सूझे तो भी अगर मैं अपना होश बनाये रखूं तो अन्तिम समयमें हरि-स्मरण कर सकूंगा। ऐसा हुआ तो यह परम लाभ होगा। इस प्रकार यह विवेकी निर्भयता दोनों तरहसे लाभदायी है और इसीलिए यह सबके प्रयत्नोंका विषय होने योग्य है।

७

आश्रम जीवनका अनुभव

आप सब जानते हैं कि आज गांधीजीका जन्म-दिन है। ईश्वरकी कृपासे हमारे इस हिन्दुस्तानमें गांधीजी जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति इससे पहले भी हुए हैं। ईश्वर हमारे यहां समय-समयपर ऐसे श्रेष्ठ व्यक्ति भेजता आया है। आइये हम ईश्वरसे प्रार्थना करें कि हमारे देशमें सत्पुरुषोंकी ऐसी ही अखण्ड परम्परा बनी रहे।

मैं आज आशीर्वादके विषयमें कुछ न कहूंगा। अपने सामने कोई उत्तम

ही यह ढंग पसंद नहीं है। इसलिए उन्होंने इस सप्ताहको खादी-सप्ताह नाम दिया है। अपनेसे संबंध रखनेवाले उत्सवको कोई प्रोत्साहन नहीं दे सकता परन्तु गांधीजी इस उत्सवको प्रोत्साहन दे सकते हैं। कारण यह उत्सव एक सिद्धान्तके प्रचारके लिए, एक विचारके विस्तारके लिए मनाया जाता है।

गांधीजी किसी ज्ञानी पुरुषके एक कथनका जिक्र किया करते हैं जिसका आशय यह है कि किसी भी व्यक्तिका जीवन जबतक समाप्त नहीं हो जाता तबतक उसके विषयमें मौन रहना ही उचित है। मुझे तो व्यक्तिका स्थूल चरित्र भूल जाने-जैसी ही बात मालूम होती है। मनुष्य ईश्वरकी लिखी हुई एक चिट्ठी है एक संदेश है। चिट्ठीका मजमून देखना चाहिए, उसकी लम्बाई-चौड़ाई और वजन देखनेसे मतलब नहीं है।

अभी यहां जो कार्यक्रम रहा उसमें लड़कोंने खासा उत्साह दिखाया। ऐसे कार्यक्रमोंमें लड़के हमेशा उत्साह और आनन्दसे शरीक होते हैं। परन्तु जो प्रौढ़ लोग यहां इकट्ठे हुए, उन्होंने एकत्र बैठकर उत्साहसे सूत काता यह कार्यक्रमका बहुत सुन्दर अंग है। सालभरमें कई त्योहार आते हैं उत्सव भी होते हैं। हम उस दिनके लिए कोई-न-कोई कार्यक्रम भी बना लेते हैं परन्तु उसी दिनके लिए कार्यक्रम बनानेसे हम उस उत्सवसे पूरा लाभ नहीं उठा सकते। ऐसे अवसरोंपर शुरू किया हुआ कार्यक्रम हम साल भर तक चलाना चाहिए। इसलिए यहां एकत्र हुई बहनोंसे मैंने यह पूछा था कि वे लोग आजसे अगले सालके इसी दिनतक रोज आप अपना नियमित रूपसे कातनेका संकल्प करें। अगर आप ऐसा शुभ निश्चय करेंगे तो उस निश्चय का पूरा करनेमें ईश्वर आपकी हर तरहसे सहायता करेगा। ईश्वर तो इसके इन्तजारमें ही रहता है कि कौन शुभ निश्चय करे और कब उसकी मदद करनेका सुयोग मुझे मिले। रोज नियमित रूपसे सूत कातिये। लेकिन इतना ही काफी नहीं है। उसका हिसाब भी रखना चाहिए। यह लेखा लोगोंके लिए नहीं रखना है अपने दिलको टटोलनेके लिए रखना है। निश्चय छोटा-सा ही क्यों न हो मगर उसका पालन पूरा पूरा होना चाहिए। इस तरह करनेसे उसमें हमारा आत्म-बल बढ़ेगा। यह शक्ति हमारे अन्दर भरी हुई है लेकिन हमें उसका अनुभव नहीं होता। आत्म-शक्तिका

अनुभव हमें नहीं होता क्योंकि कोई-न-कोई संकल्प करके उसे पूरा करनेकी आदत हम नहीं डालते। छोटे-छोटे ही संकल्प या निश्चय कीजिये और उन्हें कार्यान्वित कीजिये तब आत्म-शक्तिका अनुभव होने लगेगा।

दूसरी बात यह है कि गांवमें जो काम हुआ है उसके निरीक्षणसे यह पता चलता है कि वे ही लोग काम करते हैं जिन्हें इस काममें शुरूसे दिलचस्पी रही। हमें इसकी जांच करनी चाहिए कि दूसरे लोग इसमें क्यों नहीं शामिल होते। कातनेवाले कातते हैं इतना ही काफी नहीं है। इसका भी विचार करना चाहिए कि न कातनेवाले क्यों नहीं कातते। हमने अपना कर्म अदा कर दिया इतना काफी है ऐसा समझनेसे काम नहीं चलेगा। इसका भी चिंतन करना चाहिए कि यह चीज गांवभरमें कैसे फैलेगी? इसमें असली दिक्कत यह है कि हम शायद ही कभी ऐसा मानकर व्यवहार करते हों कि सारा गांव एक है। जब आग लग जाती है बाढ़ आती या कोई छूतकी बीमारी फैलने लगती है तभी हम सारे गांवका विचार करते हैं। लेकिन यह तो अपवाद हुआ। हमारे नित्यके व्यवहारमें यह बात नहीं पाई जाती। जब किसीका स्पर्श ज्ञान बिल्कुल नष्ट होनेवाला होता है तो उसे मामूली स्पर्श मालूम ही नहीं पड़ता। जोरसे सुई गाड़िये तो जरा-सा पता चलता है। यही हाल हमारा है। हमारा आत्म-ज्ञान बिल्कुल मरणोन्मुख हो गया है।

पशुओंका आत्मज्ञान उनकी देहतक सीमित रहता है। वे अपनी संतानको भी नहीं पहचानते। अलबत्ता माताको कुछ दिनोंतक यह ज्ञान होता है क्योंकि उसे दूध पिलाना पड़ता है। लेकिन यह पहचान भी तभी तक होती है जबतक वह दूध पिलाती रहती है। उसके बाद अक्सर वह भी भूल जाती है। नरको तो उतनी भी पहचान नहीं होती। कुछ जानवरोंमें तो बाप अपने बच्चेको खा जाता है। मनुष्य अपने बाल-बच्चोंको पहचानता है इसलिए वह पशुसे श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। कौन-सा प्राणी कितना श्रेष्ठ है इसका निश्चय उसके आकारसे नहीं होता। उसकी आत्मरक्षाकी शक्ति या बुद्धिसे भी इसका पता नहीं चलता। उसका आत्मज्ञान कितना व्यापक है इसीसे उसकी श्रेष्ठताका हिसाब लगाया जा सकता है। दूसरे प्राणियोंका आत्मज्ञान उनके शरीरतक ही रहता है। अपनी मानी गई

जातिके मनुष्योंमें भी यह कम-से-कम उनके परिवारतक व्यापक होता है। जितनी कमाई होती है वह सारे घरकी मानी जाती है। कुछ कुटुंबोंमें तो यह कौटुंबिक प्रेम भी नहीं होता। भाई भाई, पति-पत्नी और बाप बेटोंमें झगड़े-टंटे होते रहते हैं।

हिंदुस्तानमें फिर भी कौटुम्बिक प्रेम थोड़ा-बहुत पाया जाता है। लेकिन कुटुंबसे बाहर यह बहुत कम मालूम है। जब कोई भारी आपत्ति आ पड़ती है तो उतने समयके लिए सारा गांव एक हो जाता है। आमतौर पर कुटुंबसे बाहर देखनेकी वृत्ति नहीं है। इसका यह मतलब हुआ कि हिंदुस्तानका आत्म ज्ञान मौतकी तरफ बढ़ रहा है। इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि समूचे गांवको एक इकाई मानकर सारे गांवकी चिंता कीजिये। यह गोपालकृष्णका मंदिर कौनसा संदेश सुनाता है? इस मंदिरका मालिक गोपालकृष्ण है। उसके पास उनके सब बालकोंको आनेकी इजाजत होनी चाहिए। यह मंदिर हरिजनोंके लिए खोलकर आपने इतना काम किया है। किन्तु मंदिर खोलनेका पूरा अर्थ समझकर 'इस गोपालकृष्णकी छत्रछायामें यह सारा गांव एक है' ऐसी भावना का विकास कीजिये।

गांवकी प्राथमिक आवश्यकताकी चीजें गांवमें ही बननी चाहिए। अगर हम ऐसी चीज बाहरसे लाने लगेंगे तो बाहरके लोगोंपर जुल्म होगा। जापानकी मिलों और कारखानोंमें मजदूरोंको आठ-आठ घंटे काम करना पड़ता है। कम-से कम मजदूरीमें उनसे ज्यादा-से-ज्यादा काम लिया जाता है। वे यह सब किसलिए करते हैं? हिंदुस्तानके बाजार अपने हाथमें रखनेके लिए। मगर उनकी भाषामें "हमारी आवश्यकताएं पूरी करनेके लिए।" यह वहांके मालदार पूंजीपति करते हैं। वहांके गरीबोंका इसमें कोई फायदा नहीं। वहांके मालदार आदमियोंका भी कल्याण इसमें नहीं है और हमारा तो हर्गिज नहीं है। हमारे उनका माल खरीदनेसे उन्हें जो पैसा मिलता है उसका वे कैसा उपयोग करते हैं? उस पैसेसे वे बम बनाते हैं। उसकी बदौलत वे आज चीनको हड़प रहे हैं। इंग्लैंड जर्मनी आदि राष्ट्रोंका भी यही कार्यक्रम है। बाहरका माल खरीदकर हम इस प्रकार दुनियाका लोभ बढ़ाते हैं, अस्त्रशस्त्र और गोला-बारूद बनानेके लिए पैसा देते हैं। हमारा उपयोग राष्ट्र-के-राष्ट्र वीरान कर देनेके लिए हो रहा है।

बीस-बीस हजार फुटकी ऊंचाईसे बम गिराये जाते हैं। जर्मन लोग बड़े गर्वसे कहते हैं कि 'हमने लन्दनको बेचिराग कर दिया।' अंग्रेज कहते हैं 'हमने बर्लिन को भून डाला।' और हम लोग समाचारपत्रोंमें ये सब खबरें पढ़-पढ़कर मजे लेते हैं। औरतें और बच्चे मर रहे हैं। मंदिर विद्यालय और दवाखाने जमींदोज हो रहे हैं। लड़नेवाला और न लड़नेवालोंमें कोई फर्क नहीं किया जाता। क्या इन लड़नेवालोंको हम पापी कहें? लेकिन हम पुण्यवान् कैसे साबित हो सकते हैं? हम ही उनका माल खरीदते हैं?

इस प्रकार हम दुर्जनोंको उनके दुष्ट कार्यमें प्रत्यक्ष सहायता देते हैं। यह कहना व्यर्थ है कि हम तो सिर्फ अपनी जरूरतकी चीज खरीदते हैं, हम किसीकी मदद नहीं करते। खरीदना और बेचना केवल मामूली व्यवहार नहीं है। उसमें परस्पर दान है। हम जो खरीदार हैं और वे जो बेचनेवाले हैं, दोनों एक दूसरेकी मदद करते हैं। परस्परके हम सहयोगी हैं। एक दूसरे के पाप-पुण्यमें हमारा हिस्सा है। अमरीका नकद सोना लेकर इंग्लैंडको सोना बेचता है तो भी यह माना जाता है कि वह इंग्लैंडकी मदद करता है और अंग्रेज इस सहायताके लिए उसका उपकार मानते हैं। व्यापार व्यवहारमें भी पाप-पुण्यका बड़ा भारी सवाल है। बैंकवाला हमें ब्याज देता है लेकिन हमारे पैसे किसी व्यापारमें लगाता है। बैंकमें पैसे रखने-वाला उसके पाप-पुण्यका हिस्सेदार होता है। जिसका उपयोग पापके लिए होता हो ऐसी कोई भी मदद करना पाप ही है। इसलिए अपने गांवकी प्राथमिक आवश्यकताकी चीजें बनानेका काम भी दूसरोंको सौंपनेका मत-लब यह है कि हम सब पराधीनता और आलस्यका पाप करते हैं और दूसरोंको भी पापमें डालनेमें सहायता करते हैं।

हिन्दुस्तान और चीन दोनों बहुत बड़े देश हैं। उनकी जनसंख्या मिलाकर करीब आधी दुनियाकी जन-संख्यासे कुछ ही कम है। इतने बड़े देश हैं लेकिन सिवा मानवके इनमें और क्या उत्पन्न होता है? ये तो विराट मानव-समुदाय बन गैर मुल्कोंके मालके खरीदार हैं। चीनमें तो फिर भी कुछ माल तैयार होता है पर हिंदुस्तानमें वह भी नहीं होता। हिंदुस्तान सर्वथा परावलम्बी है। हम समझते हैं कि हम तो अपनी जरूरतकी

चीजें खरीदते हैं। हमसे मिले हुए पैसेका उपयोग जो लोग पापमें करते होंगे वे पापी हैं; हम कैसे पापी हुए? बौद्ध-धर्मावलंबी स्वयं जानवरोंको मारना हिंसा समझते हैं, लेकिन कसाईके मारे हुए जानवरका मांस खानेमें वे हिंसा नहीं मानते। उसी प्रकारका विचार यह भी है। हमें ऐसे भ्रममें नहीं रहना चाहिए। गांधीजी जब यह कहते हैं कि खादी और ग्रामोद्योग द्वारा प्रत्येक गांवको स्वावलंबी बनना चाहिए, तब वे हरेक गांवको सुखी बनाना चाहते हैं और साथ-साथ दुर्जनोंसे लोगोंपर जुल्म करनेकी शक्ति भी छीन लेना चाहते हैं। इस उपायसे दुर्जन और उन्हें शक्ति देनेवाले आलसी लोग दोनों पुण्यके रास्तेपर आयेंगे।

हम अपने पैरोंपर खड़े रहनेमें किसीसे द्वेष नहीं करते। अपना भला करते हैं। अगर हम लंकाशायर, जापान या हिन्दुस्तानकी मिलोंका कपड़ा न खरीदें तो मिलवाले भूखों न मरेंगे। उनका पेट तो पहले ही से भरा हुआ है। बुद्धिमान होनेके कारण वे दूसरे कई धंधे भी कर सकते हैं। लेकिन हम किसान ग्रामोद्योग खो बैठनेके कारण उत्तरोत्तर कंगाल हो रहे हैं। इसके अलावा बाहरका माल खरीदकर हमने दुर्जनोंका बल बढ़ाया है। दुर्जन संगठित होकर आज दुनियापर राज कर रहे हैं। इसके लिए हम सब तरहसे जिम्मेदार हैं।

वास्तवमें ईश्वरने दुर्जनोंकी कोई अलग जाति नहीं पैदा की है। जब द्रव्यसंग्रहकी धुन सवार हो जाती है तब जन्मसिद्ध सज्जन भी धीरे-धीरे दुर्जन बनने लगता है। अगर हम स्वावलंबी हो गये, हमारे गांव अपने उद्योगके बल अपने पैरोंपर खड़े हो सके तो सज्जनको दुर्जन बनानेवाली लोभ-वृत्तिकी जड़ें ही उखड़ जायगी और आज जो सत्ताधारी बनकर बैठे हैं, उनकी लोगोंपर जुल्म करनेकी शक्ति निन्यानबे फीसदी गायब हो जायगी। लेकिन जुल्म करनेकी जो एक प्रतिशत शक्ति बच रह जायगी उसका क्या इलाज है? निन्यानबे प्रतिशत नष्ट हो जानेके बाद बाकी रहा हुआ एक प्रतिशत अपने-आप कुम्हला जायगा। लेकिन जैसे चिराग बुझनेके वक्त ज्यादा भभकता है उसी तरह अगर वह एक प्रतिशत जोर मारे तो हम उसका प्रतिकार करना पड़ेगा।

इसके लिए सत्याग्रहके शस्त्रका आविष्कार हुआ है। दुर्जनोंसे हम इस

नहीं करता है पर दुर्जनताका प्रतिकार अपनी पूरी ताकतसे करता है। आजतक दुर्जनोंकी सत्ता जो लगातार चलती रही उसका कारण यह है कि लोग दुर्जनोंके साथ व्यवहार करनेके दो ही तरीके जानते थे। 'मोर' उसमेंसे मेरा मतलब है 'सज्जन यानी भलेमानस लोग'। या वे 'मारनेका मुंह काला' कहकर निष्क्रिय होकर बैठ जाना जानते थे या फिर दुर्जनोंसे दुर्जन होकर लड़ते थे। जब मैं दुर्जनता रूपी शस्त्र लेकर लड़ने लगता हूं तो उसमें और मुझमें जो भेद है उसे बतानेका इसके सिवा दूसरा तरीका ही नहीं है कि मैं अपने माथे पर 'सज्जन' शब्द लिखकर एक लेबिल चिपका लूं और जब मैं उसका शस्त्र चलाता हूं तो अपने बलके प्रयोगसे वही अधिक प्रवीण होगा अर्थात् मेरी किस्मतमें पराजय तो लिखी ही है। या फिर मुझे सवाया दुर्जन बनकर उसको पराजित करना चाहिए। जो थोड़े-बहुत सज्जन थे वे इस 'दुष्ट बनने'के डरकर निष्क्रिय होकर चुपचाप बैठ जाते थे। इन दोनों पगडंडियोंको छोड़कर हमें सत्याग्रहमें यानी स्वयं कष्ट सह कर अन्यायका प्रतिकार करना चाहिए और अन्याय करनेवालेके प्रति प्रेमभाव रखना चाहिए, ऐसा यह अभय मन्त्र हमें प्राप्त हुआ है। इसी मन्त्रका वर्णन करते हुए ज्ञानदेवने कहा है, 'अगर निष्ठुरतासे ही वैरी मरता हो तो नाहक कटार क्या लाए?' गीता कहती है "आत्मा अमर है मारने-वाला बहुत करेगा तो हमारे शरीरको मारेगा। हमारी आत्माको, हमारे विचारको वह नहीं मार सकता।" यह गीताकी सिखावन ध्यानमें रखते हुए सज्जनोंको निर्भयता और निर्वैर-बुद्धिसे प्रतिकारके लिए तैयार हो जाना चाहिए।

दुर्जनोंके निष्पानके अभिमान पर्वत भस्म करनेका काम खादी और ग्रामोद्योगका है। निष्पानके अभिमान बनानेके लिए यही कार्यक्रम है। शेष एक अभिमान राम अहिंसक प्रतिकारका है। यदि बहुधा सुधार करनेसे हो जाय तो दूसरी जरूरत ही न पड़नी चाहिए। और अगर जरूरत पड़े ही तो उसके लिए जनसमाजके एक प्रतिनिधिकी भी आवश्यकता न होनी चाहिए। चाहे न निर्भय निर्वैर और आत्मज्ञ पुरुषों द्वारा यह काम हो सकता है। मैं समझता हूं इस बारेमें गीता-गीता द्वारा भार आ जाता है।

२८

सेवाका आधार धर्म

> सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
> सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु।
> मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मैंने आज अपने भाषणका आरम्भ जिस मंत्रसे किया है वह मंत्र हमारे देशके लोग पाठशालामें अध्ययन शुरू करते समय पढ़ा करते थे। मंत्र गुरु और शिष्यके मिलकर कहनेके लिए है। "परमात्मा हम दोनोंका एक साथ रक्षण करे। एक साथ पालन करे। हम दोनों जो कुछ सीखें वह हम दोनोंकी विद्या तेजस्वी हो। हम दोनोंमें द्वेष न रहे। और सर्वत्र शान्ति रहे।" यह इस मंत्रका संक्षिप्त अर्थ है। आश्रममें भोजनके प्रारम्भमें यही मंत्र पढ़ा जाता है। अन्यत्र भी भोजन प्रारम्भ करते समय इसे पढ़नेकी प्रथा है। "इस मंत्रका भोजनसे क्या संबंध है। इसके बदले कोई दूसरा भोजनके समय पढ़ने योग्य मंत्र क्या खोजा ही नहीं जा सकता?" यह सवाल एक बार बापूसे किया गया था। उन्होंने वह मेरे पास भेज दिया था। मैंने एक पत्रमें उसका विस्तारसे उत्तर दिया है। वही मैं थोड़ेमें यहां कहनेवाला हूं।

इस मंत्रमें समाज दो भागोंमें बांटा गया है और ऐसी प्रार्थना की गई है कि परमात्मा दोनोंका एक साथ रक्षण करे। भोजनके समय इस मंत्रका उच्चार अवश्य करना चाहिए क्योंकि हमारा भोजन केवल पेट भरनेके लिए ही नहीं है, ज्ञान और सामर्थ्यकी प्राप्तिके लिए है। इतना ही नहीं इसमें यह भी मांग की गई है कि हमारा वह ज्ञान वह सामर्थ्य और वह भोजन भगवान एक साथ करावे। इसमें केवल पालनकी प्रार्थना नहीं है, एक साथ पालनकी प्रार्थना है। पाठशालामें जिस प्रकार गुरु और शिष्य होते हैं उसी प्रकार सर्वत्र द्वैत है। परिवारमें पुरानी और नई पीढ़ी समाजमें स्त्री-पुरुष वृद्ध-तरुण शिक्षित-अशिक्षित आदि भेद हैं। उसमें फिर गरीब अमीरका भेद भी है। इस प्रकार सर्वत्र भेद-दृष्टि आती है। हमारे इस

हिंदुस्तानमें तो अनेक भेद हैं। यहां प्रांत-भेद है। यहांका स्त्री-धर्म बिलकुल अलग रहता है। इसलिए यहां स्त्री-पुरुषोंमें भी बहुत भेद पड़ा है। हिंदू और मुसलमानका भेद तो प्रसिद्ध है ही। परन्तु हिंदू हिंदूमें भी हरिजनों और दूसरोंमें भी भेद है। हिंदुस्तानकी तरह भेद अन्यत्र भी है। इसलिए इस मंत्रमें यह प्रार्थना की गई है कि हम "एक साथ खाएं, एक साथ मार खाएं।" मारनेकी प्रार्थना अन्य कोई नहीं करता। इसलिए यहां एक साथ खानेकी प्रार्थना है। लेकिन "यदि मुझे मारना ही हो तो कम-से-कम एक साथ मार" ऐसी प्रार्थना है। सारांश "हमें दूध देता है तो एक साथ दे, सूखी रोटी देता है तो भी एक साथ दे; हमारे साथ जो कुछ करता है वह सब एक साथ कर," ऐसी प्रार्थना इस मंत्रमें है।

देहातके लोग यानी किसान और शहरके गरीब और अमीर, इनका अंतर जितना कम होगा उतना ही हमारा कदम आगे बढ़ेगा। अंतर दो तरहसे घटा जा सकता है। ऊपरवालोंके नीचे उतरनेसे और नीचेवालोंके ऊपर चढ़नेसे। परन्तु वास्तवमें यह नहीं होता। हम केवल कहते हैं, लेकिन किसान-मजदूरोंकी तुलनामें चोटीपर ही हैं।

लेकिन सवाल तो यह है कि भोग और ऐश्वर्य किसे कहें? मैं अच्छा स्वादिष्ट भोजन करूं और पड़ोसमें ही दूसरा भूखा मरता रहे इसे? उसकी नजर बराबर मेरे भोजनपर लगी रहे और मैं उसकी परवा न करूं? उसके आक्रमणसे अपनी थालीकी रक्षा करनेके लिए एक डंडा लेकर बैठूं? मेरा स्वादिष्ट भोजन और डंडा तथा उसकी भूख इसे ऐश्वर्य मानें? एक सज्जन आकर मुझसे कहने लगे कि "हम दो आदमी एकत्र भोजन करते हैं परन्तु हमारी निभ नहीं सकती। मैंने अब अलग भोजन करनेका निश्चय किया है।" मैंने पूछा 'सो क्यों?' उन्होंने जवाब दिया "मैं नारंगियां खाता हूं, वह नहीं खाते। वह मजदूर हैं इसलिए वह नारंगियां खरीद नहीं सकते। अब उनके साथ खाना मुझे अनुचित लगता है।" मैंने पूछा "क्या अलग अलग रहनेसे उनके पेटमें नारंगियां चली जायेंगी? आप दोनोंमें जो व्यवहार आज हो रहा है वही ठीक है। जबतक दोनों एक साथ खाते हैं तबतक दोनोंके निकट आनेकी संभावना है। एकाध बार आप उनको नारंगियां देनेका आग्रह भी करेंगे। लेकिन यदि आप दोनोंके बीच दुरक्षितता

की दीवार खड़ी कर दी गई तो भेद चिरस्थायी हो जायगा। दीवारको सुरक्षितताका साधन मानना कैसा भयंकर है! हिंदुस्तानमें हम सब कहते हैं, हमारे संतोंने पुकार-पुकारकर कहा है कि ईश्वर सर्वसाक्षी है, सबमें है। फिर दीवारकी आड़में छिपनेसे क्या फायदा? इससे दोनोंका अन्तर बढ़ते ही बढ़ेगा।

यही हाल हम खादी-धारियोंका भी है। जनताके अंदर अभी खादीका प्रवेश ही नहीं हुआ है। इसलिए जितने खादीधारी हैं वे सब सेवक ही हैं। यह कहा जाता है कि हमें और आपको गांवोंमें जाना चाहिए। लेकिन देहातमें जानेपर भी वहांके लोगोंको जहां सूखी रोटी नहीं मिलती वहां मैं पूरी खाता हूं। मेरा घी खाना उस भूखेको नहीं खटकता। आज भी किसान कहता है कि अगर मुझे पेटभर रोटी मिल जाय तो तेरे घीकी मुझे ईर्ष्या नहीं। मुझे तेल ही मिलता रहे तो भी संतोष है। यह भेद उसे भले ही न अखरता हो मगर हम सेवकोंको बहुत अखरता है। लेकिन इस तरह कबतक चलता रहेगा? पारसाल मैं एक खासा दुबला-पतला जीव था। इस साल मुटा गया हूं। मुझे यह मुटापा खटकता है। मैं भी उन्हीं लोगों-जैसा दुबला पतला हूं यह संतोष अब जाता रहा।

इस टंगी हुई तख्तीपर लिखा है कि आवश्यकताएं बढ़ाते रहना सभ्यता-का लक्षण नहीं है, बल्कि आवश्यकताओंका संकोच सभ्यताका लक्षण है। तो भी मैं कहता हूं कि देहातियोंकी आवश्यकताएं बढ़नी चाहिए। उनमें सुधारणा भी चाहिए। लेकिन उनकी आवश्यकताएं आज तो पूरी भी नहीं होतीं। उनका रहन-सहन बिल्कुल गिरा हुआ है। उनके जीवनका मान बढ़ाना चाहिए। मोटे हिसाबसे तो यही कहना पड़ेगा कि आज हमारे गरीब देहातियोंकी आवश्यकताएं बढ़नी चाहिए।

यदि हम गांवोंमें जाकर बैठे हैं तो हमें इसके लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासियोंका रहन-सहन ऊपर चढ़े और हमारा नीचे उतरे। लेकिन हम जरा-जरा-सी बात भी तो नहीं करते। महीना डेढ़ महीना हुआ मेरे पैरमें चोट लग गई। किसीने कहा उसपर मरहम लगाओ। मरहम मेरे स्थानपर आ भी पहुंचा। किसीने कहा मोम लगाओ उससे ज्यादा फायदा होगा। मैंने निश्चय किया कि मरहम और मोम दोनों आखिर

मिट्टीके ही बने तो हैं। इसलिए मिट्टी खाना भी। अभी मैं बिलकुल अच्छा नहीं हुआ हूं, लेकिन अब अकेले चल सकता हूं। हमें अक्सर जल्दी याद आता है, लेकिन मिट्टी खाना नहीं सूझता। कारण उसमें हमारी श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं।

हमारे सामने इतना बड़ा सूर्य खड़ा है। उसे अपना नंगा शरीर दिखाने की हमें बुद्धि नहीं होती। सूर्यके सामने अपना शरीर खुला रखो तो तुम्हारे सारे रोग भाग जायेंगे। लेकिन हम अपनी आदत और लिबाससे लाचार हैं, डाक्टर जब कहेगा कि तुम्हें तपेदिक हो गया तब वही करेंगे।

हम अपनी जरूरत किस तरह कम कर सकेंगे इसकी खोज करनी चाहिए। मैं यहां संन्यासीका धर्म नहीं बतला रहा हूं। सादे गृहस्थका धर्म बतला रहा हूं। ठंडी आब-हवावाले देशोंके डाक्टर कहते हैं कि बच्चोंकी हड्डियां बढ़ानेके लिए उन्हें 'कॉड लिवर आयल' दो। वहां सूर्य नहीं है, उस देशमें दूसरा उपाय ही नहीं है। कॉड लिवरके बिना बच्चे मोटे-ताजे नहीं होते। यहां सूर्यदर्शनकी कमी नहीं। यहां यह 'महा कॉड लिवर आयल' भरपूर है। लेकिन हम इसका उपयोग नहीं करते। यह हमारी दशा है। हमें लंगोटी लगानेमें शर्म आती है। छोटे बच्चोंपर भी हम कपड़ोंकी [illegible] (जिरह) चढ़ाते हैं। नंगे बदन रहना असभ्यताका लक्षण माना जाता है। वेदोंमें प्रार्थना की गई है कि 'मा न: सूर्यस्य संदृशो युयोथा:।' "हे ईश्वर, मुझे सूर्य-दर्शनसे दूर न रख।" वेद और विज्ञान दोनों कहते हैं कि खुले शरीर रहो। कपड़ोंकी जिल्दमें कल्याण नहीं। हम अपने आचारसे ये बिना काम चीजें आपमें दाखिल न करें। हम देहातोंमें जानेपर भी अपने बच्चोंको आधी या पूरी लम्बाईका पतलून पहनाते हैं। इसमें उन बच्चोंका कल्याण तो है ही नहीं उलटे एक दूसरा अशुभ परिणाम यह निकलता है कि दूसरे बच्चोंमें और उनमें भेद पैदा हो जाता है। या फिर दूसरे लोगोंको भी अपने बच्चोंको सजानेका शौक पैदा हो जाता है। एक फिजूलकी जरूरत पैदा हो जाती है। हमें देहातोंमें जाकर अपनी जरूरतें कम करनी चाहिए। यह विचारका एक पहलू हुआ।

देहातकी आमदनी बढ़ाना इस विचारका दूसरा पहलू है। लेकिन यह कैसे बढ़ाई जाय? हममें आलस्य बहुत है। वह महान् शत्रु है। एकका

विशेषण दूसरेको जोड़ देना साहित्यमें एक चमत्कार माना गया है। "कहे लड़कीसे लगे बहूको" इस अर्थकी जो कहावत है उसका भी अर्थ यही है। बहूको यदि कुछ खरी-खोटी सुनानी हो तो सास अपनी लड़कीको सुनाती है। उसी तरह हम कहते हैं "देहाती लोग आलसी हो गये।" दरअसल आलसी तो हम हैं। यह विशेषण पहले हमें लागू होता है। हम इसका उन पर आरोप करते हैं। बेकारीके कारण उनके शरीर में आलस्य भले ही दिख गया हो, परन्तु उनके मनमें आलस्य नहीं है। उन्हें बेकारीका शौक नहीं है। लेकिन यदि सच कहा जाय तो हम कार्यकर्ताओंके तो मनमें भी आलस्य है और शरीरमें भी। आलस्य हिन्दुस्तान का महारोग है। यह बीज है। बाहरी महारोग इसका फल है। हम इस आलस्य को दूर करना चाहिए। सेवकको सारे दिन कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए। और कुछ न हो तो गावकी परिक्रमा ही करे। और कुछ न मिले तो हड्डियां ही बटोरे। यह भगवान् शंकरका कार्यक्रम है। हड्डियां इकट्ठी करके चर्मालयमें भेज दे। इससे आशुतोष भगवान् शंकर प्रसन्न होंगे। या एक बाल्टीमें मिट्टी लेकर रास्ते पर जहां-जहां थूका हुआ मैला पड़ा हो उसपर डालता फिरे। अच्छी खाद बनेगी। इसके लिए कोई खास कौशलकी जरूरत नहीं।

हमारे सेनापति बापटने एक कवितामें कहा है कि "झाड़ू, खपरैल और खुरपा ये औजार धन्य हैं। ये कुशल औजार हैं। जिस औजारका उपयोग अकुशल मनुष्य भी कर सकता है उसे बनानेवाला अधिक-से-अधिक कुशल होता है। जिस औजारके उपयोगके लिए कम-से-कम कुशलताकी जरूरत हो वह अधिक-से-अधिक कुशल औजार है। खपरैल और झाड़ू ऐसे ही औजार हैं। झाड़ू सिर्फ फिरानेकी देर है भूमाता स्वच्छ हो जाती है। खपड़ियामें जरा भी आनाकानी किये बिना मैला आ जाता है। यन्त्रशास्त्रके प्रयोग इस दृष्टिसे होने चाहिए। खपरैल खुरपा और झाड़ू के लिए पैसे नहीं देने पड़ते। इसलिए ये सीधे-सादे औजार धन्य हैं।

रामदासने अपने 'दासबोध' में सुबहसे शाम तककी दिनचर्या बतलाते हुए कहा है कि सबेरे शौच-क्रियाके लिए बहुत दूर जाओ और वहांसे लौटते हुए कुछ-न-कुछ लेते आओ। वह कहते हैं कि खाली हाथ आना खोटा काम

है। सिर्फ हाथ हिलाते नहीं आना चाहिए। कोई-कोई कहते हैं कि हम तो हवा खाने गए थे। लेकिन हवा खानेका कामसे विरोध क्यों हो? कुदालीसे खोदते हुए क्या नाक बंद कर ली जाती है? हवा खाना तो सदा जारी ही रहता है। परन्तु श्रीमान् लोग हमेशा बिना हवावाली जगहमें बैठे रहते हैं। इसलिए उनके लिए हवा खाना भी एक काम हो जाता है। मगर कार्यकर्ताओं-को सदा खुली हवामें काम करनेकी आदत होनी चाहिए। वापस आते हुए वह अपने साथ कुछ-न-कुछ जरूर लाया करे। देहातमें यह अनुभव आ सकता है। लीपनेके लिए गोबर आ सकता है और अगर कुछ न मिले तो कम-से-कम किसी एक पत्तल बनानेके पत्ते ही बिनकर ला सकता है यानी उद्यम का काम अपने साथ ला सकता है। मतलब उसे फिजूल चक्कर नहीं काटने चाहिए। देहातमें काम करनेवाले ग्राम-सेवकोंको फुरसतमें जरूर उपयोगी कुछ-न-कुछ करते ही रहना चाहिए।

आलसकी शक्ति क्यों बढ़ती, इसके विषयमें अब कुछ कहूँगा। देहातमें बेकारी और आलस्य बहुत है। देहातके लोग मेरे पास आते और कहते हैं "महाराज, हम लोगोंका बुरा हाल है। घरमें चार खानेवाले मुँह हैं।" न जाने वे मुझे 'महाराज' क्यों कहते हैं? मेरे पास कौनसा राज धरा है? मैं उनसे पूछता हूँ "अरे भाई, घरमें अगर खानेवाले मुँह न हों तो क्या बगैर खानेवाले हों। बगैर खानेवाले मुँह तो मुर्दोंके होते हैं। उन्हें तो तुरन्त बाहर निकालना होता है। तुम्हारे घरमें चार खानेवाले मुँह हैं यह तो तुम्हारा वैभव है। न तुम हार क्यों रहे हो? भगवान्ने आदमीको अगर एक मुँह दिया है तो उसके साथ-साथ दो हाथ भी तो दिये हैं। अगर वह एक अनूठा मुँह और आधा ही हाथ देता तो अलबत्ता मुश्किल थी। तुम्हारे यहाँ चार मुँह हैं तो आठ हाथ भी तो हैं। फिर शिकायत क्यों? लेकिन हम उन हाथोंका उपयोग करते नहीं न? हम तो हाथ-पर हाथ धर कर बैठ रहनेकी आदत डाली है। हाथ जोड़नेकी आदत डाली है। जब हाथ चलाना बंद हो जाता है तो मन चलना शुरू हो जाता है। फिर खाने-वाला मुँह आदमी का ही नाम बनता है।

हम अपने दोनों हाथोंसे एक-सा काम करना चाहिए। पौराणमें कुछ किस्से आते हैं। उनमें यह 'बाएँ हाथसे कातना शुरू करो।'"

उन्होंने पहलेसे कहना शुरू किया कि 'हमारी मजदूरी कम हो जायगी। बायां हाथ दाहिनेकी बराबरी नहीं कर सकेगा।' मैंने कहा 'यह क्यों? दाहिने हाथमें अगर पांच अंगुलियां हैं तो बाएं हाथमें भी तो हैं। फिर क्यों नहीं बराबरी कर सकेगा।' आखिर मैंने उनमेंसे एक लड़का चुन लिया और उससे कहा कि 'बाएं हाथसे कात। उसे जितनी मजदूरी कम मिलेगी उतनी पूरी कर देनेका जिम्मा मैंने लिया। चौदह रोजमें वह साढ़े चार रुपया कमाता था। बाएं हाथसे पहले पखवाड़ेमें ही उसे करीब तीन रुपये मिले। दूसरे पाखमें बायां हाथ दाहिनेकी बराबरी पर आ गया। एक रुपया मैंने अपनी गिरह से पूरा किया। लेकिन उससे सबकी आंखें खुल गईं। यह कितना बड़ा लाभ हुआ? मैंने लड़कोंसे पूछा 'क्यों लड़को इसमें फायदा है कि नहीं?' वे कहने लगे 'हां क्यों नहीं? दाहिना हाथ भी तो आठ घंटे लगातार काम करनेसे धीरे-धीरे थकने लगता है। अगर दोनों हाथ तैयार हों तो अदल-बदल कर सकते हैं और थकावट बिलकुल नहीं आती।' अट्ठाईस-के-अट्ठाईसों लड़के बाएं हाथका प्रयोग करनेके लिए तैयार हो गये।

शुरू-शुरूमें हाथमें थोड़ा दर्द होने लगता है। लेकिन यह सात्त्विक दर्द है। सात्त्विक सुख ऐसा ही होता है। अमृत भी शुरू-शुरूमें खारा कड़वा ही लगता है। पुराणोंका एकदम वह मीठा-ही-मीठा अमृत वास्तविक नहीं। अमृत अगर, *जैसाकि गीतामें कहा है सात्त्विक हो तो वह मीठा-ही-मीठा* कैसे हो सकता है? गीतामें बताया हुआ सात्त्विक सुख तो आरंभमें कड़ुआ ही होता है। मेरी बात मानकर लड़कोंने तीन महीने तक सिर्फ बाएं हाथसे कातनेका प्रयोग करनेका निश्चय किया। तीन महीने मानो दाहिने हाथको बिलकुल भूल ही गये। यह कोई छोटी तपस्या नहीं हुई।

देहातमें निंदाका दोष काफी दिखलाई देता है। यह बात नहीं कि शहरके लोग इससे बरी हैं। लेकिन यहां मैं देहातके ही विषयमें कह रहा हूं। निंदा सिर्फ पीठ-पीछे की जाती है। उससे किसीका भी फायदा नहीं होता। जो निंदा करता है उसका मुंह खराब होता है और जिसकी निंदा की जाती है, उसकी कोई उन्नति नहीं होती। मैं यह मानता तो था कि

देहातियोंमें निंदा करनेकी आदत होती है, लेकिन यह रोग इतने उग्र रूपमें फैल गया होगा इसका मुझे पता न था। इधर कुछ दिनोंसे मैं सत्य और अहिंसाके बदले सत्य और अनिंदा कहने लगा हूं। हमारे पुरखोंकी बुद्धि बड़ी सूक्ष्म थी। उनके वाङ्मयका रहस्य अब मेरी समझमें आया। वे देहातियों-से भली-भांति परिचित थे इसलिए उन्होंने जगह-जगह कहा है कि निंदा न करो चुगली न खाओ। संतोंके लिए मेरे मनमें बचपनसे ही भक्ति है। उनके किये हुए भक्ति और ज्ञानके वर्णन बड़े मीठे लगते थे। लेकिन मैं सोचता था कि निंदा मत करो' कहने में क्या बड़ी विशेषता है। उनकी नीति-विषयक कविताएं मैं पढ़ता तो था लेकिन वे मुझे भाती न थीं। पर स्त्रीको माताके समान समझो पराया माल न छूओ और निंदा न करो— इतनेमें उनकी नैतिक शिक्षाकी पूर्ती खतम हो जाती थी। भक्ति और ज्ञानके साथ-साथ उसी श्रेणीमें वे इन चीजोंको भी रखते थे। यह मेरी समझमें न आता था। लेकिन अब खूब अच्छी तरह समझ गया हूं। निंदाका दुर्गुण उन्होंने लोगोंमें सब जगहमें पैदा हुआ देखा इसलिए उन्होंने अनिंदापर बार बार इतना जोर दिया और उसे बड़ा भारी सद्गुण बतलाया। कार्यकर्ताओं-को यह शपथ ले लेनी चाहिए कि हम न तो निंदा करेंगे और न सुनेंगे। निंदामें अक्सर गलती और अत्युक्ति होती है। साहित्यमें अत्युक्ति भी एक अलंकार माना गया है। सुधारको चौपट कर दिया है इन साहित्यवालोंने। वस्तु-स्थितिको तिगुना दसगुना बीसगुना बढ़ाकर बताना उनके मतसे चमत्कार है। तो क्या जो चीज जैसी है उसे वैसी ही बताना अपनी नाक काटनेके समान है? कलाकार और प्रवचनकारकी अत्युक्तिका कोई ठिकाना ही नहीं। एकको सौगुना बढ़ानेका नाम अतिशयोक्ति है, ऐसी उसकी कोई माप होती तो अतिशयोक्तिसे वस्तुस्थितिकी कल्पना कर सकते। लेकिन यहां तो कोई हिसाब ही नहीं है। वे दसका सौगुना नहीं करते बल्कि शून्यको सौगुना बताते हैं। सुनाता हूं जो भगवानकी पूजा करनेसे कोई एक फल पाता है लेकिन यह तो अविवेक ही बात।

तीसरी बात जो मैं आप लोगोंसे कहना चाहता हूं वह है सफाई। हमारे कार्यकर्ताओंमें स्थूल अर्थमें सफाई है सूक्ष्म अर्थमें नहीं। अगर मैं किसीसे कहूं कि तुम्हारे यहां पाच बजे आऊंगा तो वह पाव ही घंटेसे मुझे

देनेके लिए मेरे यहाँ आकर बैठ जाता है, क्योंकि वह जानता है कि इस देशमें जो कोई किसी खास वक्त आनेका वादा करता है, वह उस वक्त आयेगा ही, इसका कोई नियम नहीं। इसलिए वह पहलेसे ही आकर बैठ जाता है? सोचता है कि दूसरेके भरोसे काम नहीं बनता। इसलिए हमें हमेशा बिलकुल ठीक बोलना चाहिए। किसी गाँववालेसे आप कोई काम करनेके लिए कहिये तो वह कहेगा 'जी हाँ'। लेकिन उसके दिलमें वह काम करना नहीं होता। हमें टालनेके लिए 'जी हाँ' कह देता है। उसका मतलब इतना ही रहता है कि अब ज्यादा तंग न कीजिये। 'जी हाँ' से उसका मतलब है कि यहाँसे तशरीफ ले जाइये। उसके 'जी हाँ' में थोड़ा अहिंसा का भाव होता है। वह 'जाये बकिये' कहकर आपके दिलको चोट पहुँचाना नहीं चाहता। आपको वह ज्यादा तकलीफ देना नहीं चाहता, इसलिए 'जी हाँ' कहकर जान बचा लेता है।

इसलिए कोई भी बात जो हम देहातियोंसे कराना चाहें, वह उन्हें समझा कर देनी चाहिए। उनसे शपथ या व्रत नहीं दिलाना चाहिए। जबसे मैं देहातमें गया तबसे किसीसे किसी बातके विषयमें वचन लेनेसे मुझे चिढ़ सी हो गई है। अगर मुझसे कोई कहे भी कि मैं यह बात करूँगा तो मैं उससे यही कहूँगा कि "यह तुम्हें जँचती है न? बस तो इतना काफी है। वचन देनेकी जरूरत नहीं। तुमसे हो सके तो करो। लोगोंको उसकी उपयोगिता समझाकर सन्तोष मान लेना चाहिए, क्योंकि किसीसे कोई काम करनेका वचन लेनेके बाद उस कामके करानेकी जिम्मेदारी हमपर आ जाती है। अगर वह अपना वचन पूरा न करे तो हम अप्रत्यक्ष रूपसे झूठ बोलनेमें सहायता करते हैं। राजकोट-प्रकरण और क्या चीज है? अगर कोई हमारे सामने किसी विषयमें वचन देदे और फिर उसे पूरा न करे तो उससे हमारा भी अधःपतन होता है। इसलिए बापूको राजकोटमें इतना सारा प्रवास करना पड़ा। इसलिए वचन नियम या व्रतमें किसीको बाँधना नहीं चाहिए और अगर किसीसे वचन लेना ही पड़े तो वह वचन अपना समझकर उसे पूरा करानेकी सावधानी पूरी रखनी चाहिए। उसे पूरा करनेमें हर तरहसे मदद करनी चाहिए। सच्चाई का यह गुण हमारे अन्दर होना चाहिए।

बाइबिलमें कहा है — 'ईश्वरकी कसम न खाओ। आपके दिलमें 'हां' हो तो 'हां' कहिये और 'ना' हो तो 'ना' कहिये।' लेकिन हमारे यहां तो राम-दुहाई भी काफी नहीं समझी जाती। कोई भी बात तीन बार वचन दिये बिना पक्की नहीं मानी जाती। सिर्फ 'हां' कहनेका अर्थ इतना ही है कि 'आपकी बात समझमें आ गई।' अब देखिये विचार करके। किसी मजबूत पत्थरपर एक-दो चोट लगाइये तो उसे पता भी नहीं चलता। दस पांच मारिये तब वह सोचने लगता है कि शायद कोई व्यायाम कर रहा है। पचास चोट लगायें तब कहीं उसे पता चलता है कि 'अरे, यह व्यायाम नहीं कर रहा है, यह तो मुझे फोड़ने जा रहा है।' एक बार 'हां' कहनेका कोई अर्थ नहीं। दो बार कहनेपर वह सोचने लगता है कि मैंने 'हां' कर दी है। और जब तीसरी बार 'हां' कहता है तब उसके ध्यानमें आता है कि मैंने जान-बूझकर 'हां' कही है। इसका अर्थ इतना ही है कि सूक्ष्म दृष्टिसे झूठ हमारी नस-नसमें भिद गया है। इसलिए कार्यकर्ताओंको अपने लिए यह नियम बना लेना चाहिए कि जो बात करना कबूल करें, उसे करके ही दम लें। इसमें तनिक भी गफलत न करें। दूसरे से कोई वचन न लें। उस झंझटमें न पड़ें।

अब कार्यकर्ताओंसे कार्य-कुशलताके बारेमें दो-एक बात कहना चाहता हूं। जब हम कार्य करने जाते हैं तो बासी पीढ़ीके बहुत पीछे पड़ते हैं। बासी पीढ़ीका तो विशेषण ही 'बासी' है। वह चलती चीज है। उसकी सेवा लीजिये लेकिन उसके पीछे न पड़िये। उनके शरीरके समान उनका मन और उनके विचार भी एक सांचेमें ढले हुए होते हैं। जो नई बात कहना हो वह नौजवानोंसे कहनी चाहिए। तरुणोंके विचार और विकार दोनों बलवान् होते हैं। इसलिए कुछ लोग उन्हें उच्छृंखल भी कहते हैं। इसमें सचाई इतनी ही है कि वे बलवान् और वेगवान् होते हैं। मगर उनके विकार बलवान् हो सकते हैं तो वैराग्य भी बलवत्तर हो सकता है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है वैसे-वैसे विकारोंका शमन होता जाता है। साठ हिमालय यह सच है। लेकिन इसका कोई ठिकाना नहीं। यह कोई शास्त्र नहीं है। हमारी बात बासी पीढ़ीको अगर जंच जाय तो अच्छा ही है, और न जंचे तो भी कोई हानि नहीं। भावी पीढ़ीको कायम लेना चाहिए। युवक ही नये-नये कामोंमें हाथ डालते हैं

बूढ़े नहीं। आकार किस तरह बढ़ते या घटते हैं, यह तो मैं नहीं जानता। लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि बूढ़ोंकी अपेक्षा तरुणोंमें आशा और हिम्मत ज्यादा होती है।

दूसरी बात यह है कि कार्य शुरू करते ही उसके फलकी आशा नहीं करनी चाहिए। पांच-दस साल काम करनेपर भी कोई फल न होता देखकर निराश न होना चाहिए। हिंदुस्तानके लोग हजार सालके बूढ़े हैं। जब किसी गांवमें कोई नया कामकर्ता आता है तो वे सोचते हैं कि ऐसे तो कई देख चुके हैं। साधु-संत भी आए और चले गए। नया कामकर्ता कितने दिन टिकेगा इसके विषयमें उन्हें संदेह होता रहता है। मगर एक-दो साल टिक गया तो वे सोचते हैं कि शायद टिक भी जाय। अनुभवी समाज है। वह प्रतीक्षा करता रहता है। अगर लोग अपनी या हमारी मृत्युतक भी राह देखते रहें तो कोई बड़ी बात नहीं।

ग्रामवासियोंसे 'समरस' होनेका ठीक-ठीक मतलब समझना चाहिए। उनका रंग हमपर भी चढ़ जाय इसका नाम उनसे मिलना नहीं है। इस तरह मिलनेसे तद्रूपता आने लगती है। मेरे मतसे समाजके प्रति आदरका जितना महत्त्व है, उतना परिचयका नहीं। समाजके साथ समरस होनेसे उसका काम ही होगा मगर हम ऐसा मानें तो इसमें अहंकार है। हम कोई पारस पत्थर हैं कि हमारे केवल स्पर्शसे समाजकी उन्नति हो जायगी? केवल समाजसे समरस होनेसे काम होगा यह माननेमें खतरा है। रामदास कहते हैं "मनुष्यको ज्ञानी और उदासीन होना चाहिए। समुदायका हौसला रखना चाहिए लेकिन अगाध और स्थिर होकर एकांत-सेवन करना चाहिए। वे कहते हैं कि "कोई जल्दी नहीं है? आखिरमें अवश्य एकांत-सेवन करो। एकांत-सेवनसे आत्म-परीक्षणका मौका मिलता है। लोगोंसे किस हदतक संपर्क बढ़ाया जाय यह ध्यानमें आता है, अन्यथा अपना निजी रंग न रहकर उनपर दूसरे रंग चढ़ने लगते हैं। कार्यकर्ता फिर देहातियोंके जैसा ही हो जाता है। उसके चित्तमें व्याकुलता पैदा होती है और वह ठीक होती है। फिर उसका जी चाहता है कि किसी वाचनालय या पुस्तकालयकी शरण लूं। एकाध बड़े आदमीके पास जाकर कहने लगता है कि मैं दो-चार महीने आपका सत्संग करना चाहता हूं। फिर वे महादेवजी और

आखिर रामचन्द्रजीने उनकी आंखोंमें अंजन डाला। तबसे उनकी बुद्धि शुद्ध हुई।

तब उसने इस समयसे कोंकणके वन-जंगल दौड़-धाड़कर बस्तियां बसानेके रचनात्मक कार्यका आरम्भ किया। लेकिन उनके अनुयायियोंको कुल्हाड़ीके हिंसक प्रयोगका चस्का पड़ गया था। इसलिए उन्हें कुल्हाड़ीका अपेक्षाकृत अहिंसक प्रयोग फीका-सा लगने लगा। निर्धनको जिस प्रकार उसके धन-सम्पत्ती त्याग देती है, उसी प्रकार उनके अनुयायियोंने भी उन्हें छोड़ दिया।

लेकिन वह निष्ठावान् महापुरुष अकेला ही वह काम करता रहा। ऐहिक दरिद्रताका वरण करनेवाले पारलौकिक प्रभाके आदि-सेवक भगवान् शंकरके ध्यानसे वह प्रतिदिन नई स्फूर्ति प्राप्त करने लगा और जंगल काटना, झोंपड़ियां बनाना, वन्य पशुओंकी तरह एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाले अपने मानव-बंधुओंको सामुदायिक भावना सिखाना — इन उद्योगोंमें उस स्फूर्तिसे काम लेने लगा। निष्ठावान और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नहीं रहने पाती। परशुरामकी अनन्य सेवावृत्ति देख कोंकणके जंगलोंके वे वन्य निवासी पिघल गये और आखिर उन्होंने उनका नेतृत्व मान लिया। अपने-आपको ब्राह्मण कहलानेवाले उनके पुराने अनुयायियोंने तो उनका साथ छोड़कर पहाड़ोंकी पनाह ली थी। मगर उनके बदले ये नव सवर्ण अनुयायी उन्हें मिले। उन्होंने उन्हें स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चारकी शिक्षा दी। एक दिन परशुरामने उनसे कहा — आजसे आगे तुम लोग ब्राह्मण हो गए।

बाद उसके कामकाजके बारेमें पूछा। परशुरामने कुल्हाड़ीके अपने नये प्रयोगका सारा हाल रामचंद्रको सुनाया। यह सुन रामचंद्रने उसका बड़ा गौरव किया। दूसरे दिन परशुराम वहांसे लौटा।

अपने मुकामपर वापस आते ही उसने उन सब ब्राह्मणोंको रामका सारा हाल सुनाया और बोला।

"रामचंद्र मेरा गुरु है। अपनी पहली ही भेंटमें उसने मुझे जो उपदेश दिया उससे मेरी वृत्ति पलट गई और मैं तुम्हारी सेवा करने लगा। अबकी मुलाकातमें उसने मुझे शब्दों द्वारा कोई भी उपदेश नहीं दिया। लेकिन उसकी कृतिमेंसे मुझे उपदेश मिला है। वही मैं अब तुम लोगोंको सुनाता हूं।

"हम लोग जंगल काट-काटकर बस्ती बसानेका जो कार्य कर रहे हैं वह बेशक उपयोगी कार्य है। लेकिन इसकी भी मर्यादा है। उस मर्यादाको न जानकर हम अगर पेड़ काटते ही रहेंगे तो वह एक बड़ी भारी हिंसा होगी। और कोई भी हिंसा अपने कर्तापर उलटे बिना नहीं रहती यह तो मेरा अनुभव है। इसलिए अब हम पेड़ काटनेका काम खतम करें। आजतक जितना कुछ किया सो ठीक ही किया क्योंकि उसकी बदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था अब 'सह्याद्रि' बन गया है। लेकिन अब हमें जीवनोपयोगी वृक्षोंके रक्षणका काम भी अपने हाथमें लेना चाहिए।

यह कहकर उसने उन्हें आम केले नारियल काजू कटहल अनन्नास आदि छोटे-बड़े फलके वृक्षोंके लगानेकी विधि सिखाई। उसे इसके लिए स्वयं वनस्पति-संवर्धन-शास्त्रका अध्ययन करना पड़ा और उसने अपने हमेशाके उत्साहसे उस शास्त्रका अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्रमें कई महत्त्वपूर्ण खोज भी किये। पेड़ोंको मनोज्ञ आकार देनेके लिए उन्हें व्यवस्थित काटने-छांटनेकी जरूरत महसूसकर, उसने उसके लिए छोटेसे औजारका आविष्कार किया। इस औजारको 'नव-परशु' का नाम देकर उसने अपनी परशु-उपासना बराबर जारी रखी।

एक बार उसने समुद्रतटपर नारियलके पेड़ लगाने का एक सामुदायिक समारोह सम्पन्न किया। उस अवसरसे लाभ उठाकर उसने वहां आये हुए लोगोंके सामने अपने जीवनके सारे प्रयोगों और अनुभवोंका

ये नहीं दोनों एक जगह रह नहीं सकते हैं। वह कहता है, "मैं बड़ा होकर खराब हुआ। अब तू मेरे पास रहता है। इसमें कोई लाभ नहीं।" इसलिए समागम सेवाके लिए ही आना चाहिए। बाकीका समय स्वाध्याय और आत्म-परीक्षणमें बिताना चाहिए। आत्म-परीक्षणके बिना उन्नति नहीं हो सकती। अपने स्वतंत्र समयमें हम अपना एकान्त प्रयोग भी करें। कई कार्यकर्ता कहते हैं "क्या करें चिन्तनके लिए समय ही नहीं मिलता। जरा बैठे नहीं कि कोई-न-कोई आया नहीं।" आ आप उनसे बोलनेमें समय बिताना सेवा नहीं है। कार्यकर्ताको स्वाध्याय और चिन्तनके लिए अलग समय रखना चाहिए। एकान्त-सेवन करना चाहिए। यह भी बहुतकी सेवा ही है।

एक बात स्त्रियोंके सम्बन्धमें। स्त्रियोंके लिए कोई काम करनेमें हम अपनी हलका समझते हैं। चौकाका ही उदाहरण लीजिये। व्याकरणके अनुसार जिसकी गणना पुल्लिंगमें हो सकती है, ऐसा एक भी आदमी अपनी धोती आप नहीं धोता। बापके कपड़े लड़की धोती है, और भाईके कपड़े बहनको धोने पड़ते हैं। माकी साड़ी धोनेमें भी हमें शर्म आती है, तो पत्नीकी साड़ी धोनेकी बात ही क्या? अगर निकट स्वजन या मां तो कोई रिश्तेदारिन धो देती है। और वह भी न मिले तो पड़ोसिन यह काम करेगी। अगर वह भी न मिले और पत्नीकी साड़ी साफ करनेका मौका आ ही जाय तो फिर यह काम शामको कोई देख न पावे ऐसे इतमीनानसे चुपचाप चोरीसे कर लिया जाता है। यह हालत है! और मेरा प्रस्ताव तो इससे बिलकुल उलटा है। लेकिन अगर आप मेरी बातपर अमल करें तो आप जानकर ये स्त्रियां ही आपके कपड़े बना देंगी इसमें तनिक भी शक नहीं। एक बार मैं बापूजीका एक स्वावलम्बन-केन्द्र देखने गया। दरवाजेमें कोई पचास-पचहत्तर स्वावलम्बी खादी धारियोंकी तालिका लगी हुई थी। लेकिन उसमें एक भी स्त्री नहीं थी। वहां जो सभा हुई, उसमें मेरे कहनेसे खासकर स्त्रियां भी बुलाई गई थीं। मैंने पूछा "यहां इतने स्वावलम्बी खादीधारी पुरुष हैं तो क्या स्त्रियां न कातती?" स्त्रियोंने जवाब दिया "हम ही तो कातती हैं।" तब मैंने सूत कातनेवाले पुरुषोंसे हाथ उठानेको कहा। कोई तीन-चार हाथ उठे। शेष सब स्त्रियों द्वारा काते गए सूतके बलपर स्वावलम्बी थे। इसलिए कहता हूं

कि फिलहाल उनके लिए महीन सूत कातिये। आगे चलकर वे ही आपके कपड़े तैयार कर दर्गी। कम-से-कम खादी-यात्रामें पहननेके लिए एक साड़ी अगर आप उन्हें बना दें तो भी मैं सतोष मान लूंगा। अगर वे यहा आयगी तो कम-से-कम हमारी बात उनके कानोतक पहुंचेगा।

२६

परशुराम

यह एक अद्भुत प्रयोगी लगभग पच्चीस हजार बरस पहले हो गया है। यह कोकणस्थोका मूल पुरुष है। माकी ओरसे क्षत्रिय और बापकी ओरसे ब्राह्मण। पिताकी आज्ञासे इसने माका सिर ही काट डाला था। कोई पूछ सकते हैं 'यह कहातक उपयुक्त था?' लेकिन उसकी भद्धाका सफलता सूचक नहीं रही थी। निष्ठासे प्रयोग करना और अनुभवसे ज्ञान प्राप्त करना यही उसका सूत्र था।

परशुराम उस जमानेका सर्वोत्तम पुरुषार्थी व्यक्ति था। उसे दुखियोंके प्रति दया थी और अन्यायोंसे तीव्रतम चिढ़। उस समयके क्षत्रिय बहुत उन्मत्त हो गये थे। वे अपनेको जनताका रक्षक कहते थे। लेकिन व्यवहारमे तो उन्होंने कसौका 'र' को 'भ'मे बदल दिया था। परशुरामने उन अन्यायी क्षत्रियोका घोर प्रतिकार शुरू किया। जितने क्षत्रिय उसके हाथ आये उन सबको उसने मार ही डाला। 'पृथ्वीको निःक्षत्रिय बनाकर छोड़ूगा' यह उसने अपना विरद बना लिया था।

इसके लिए वह अपने पास हमेशा एक कुल्हाड़ी रखने लगा और कुल्हाड़ीसे रोज कम-से-कम एक क्षत्रियका सिर तो उड़ाना ही चाहिए, ऐसी उपासना उसने अपने ब्राह्मण मनुमानिशाम जारी की। पृथ्वी नि क्षत्रिय करनेका यह प्रयोग उसने इक्कीस बार किया लेकिन पुराने क्षत्रियोंको जान-बूझकर खोज-खोजकर मारने और उनकी जगह अनजाने नये-नये क्षत्रियोंका निर्माण करनेकी प्रक्रिया का फलित क्या हो सकता था?

आखिर रामचन्द्रजीने उसकी आंखोंमें अंजन आंजा। उसके उसकी दृष्टि खुल गयी।

तब उसने उस समयके जंगलके वन काट-काटकर बस्तियां बसानेके रचनात्मक कार्यका आरम्भ किया। लेकिन उसके अनुयायियोंको कुल्हाड़ीके हिंसक प्रयोगका चस्का पड़ गया था। इसलिए उन्हें कुल्हाड़ीका अपेक्षाकृत अहिंसक प्रयोग फीका-सा लगने लगा। निर्धनको जिस प्रकार उसके सगे-सम्बन्धी त्याग देते हैं, उसी प्रकार उसके अनुयायियोंने भी उसे छोड़ दिया।

लेकिन यह निष्ठावान् महापुरुष अकेला ही यह काम करता रहा। ऐच्छिक दरिद्रताका कारण बननेवाले आरण्यक प्रजाके आदि-भेदक मन मम् पकड़के ध्यानसे यह प्रतिदिन नई स्फूर्ति प्राप्त करने लगा और जंगल काटना, झोंपड़ियां बनाना, अन्य पशुओंकी तरह एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाले अपने मानव-बन्धुओंको सामुदायिक जीवन सिखाना—इन उद्योगोंमें उस स्फूर्तिसे काम लेने लगा। निष्ठावान और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नहीं रहने पाती। परशुरामकी अदम्य सेवावृत्ति देख कोंकणके पहाड़ोंके वन्य निवासी पिघल गये और आखिर उन्होंने उसका पल्ला थाम लिया। अपने-आपको ब्राह्मण कहलानेवाले उसके पुराने अनुयायियोंने तो उसका साथ छोड़कर शहरोंकी पनाह ली थी, मगर उनके बदले ये नये अवर्ण अनुयायी उसे मिले। उसने उन्हें स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चारकी शिक्षा दी। एक दिन परशुरामने उनसे कहा : आजसे आजसे तुम लोग ब्राह्मण हो गये।

राम और परशुरामकी पहली भेंट धनुर्भंग-प्रसंगके बाद एक बार हुई थी। उसी समय उन्हें रामचन्द्रजीसे जीवन-दृष्टि मिली थी। उसके बाद लम्बे अरसे तक उन दोनोंकी भेंट कभी नहीं हुई थी। लेकिन अपने वनवासके दिनोंमें रामचन्द्र पंचवटीमें आकर रहे थे। उनके वहांके निवासके आखिरी समय बालब्रह्मचारी तपस्वी परशुराम उनसे मिलने आया था। वह जब पंचवटीके आश्रममें पहुंचा उस समय रामचन्द्र पौधोंको पानी दे रहे थे। परशुरामको निरखकर रामचन्द्रको बड़ा ही आनन्द हुआ। उन्होंने उस तपस्वी और वृद्ध पुरुषका साष्टांग प्रणामपूर्वक स्वागत किया और कुशल प्रश्नादिके

बाद उसके कार्यक्रमके बारेमें पूछा। परशुरामने कुल्हाड़ीके अपने नये प्रयोगका सारा हाल रामचन्द्रको सुनाया। यह सुन रामचन्द्रने उसका बड़ा गौरव किया। दूसरे दिन परशुराम वहांसे लौटा।

अपने मुकामपर वापस आते ही उसने उन नये ब्राह्मणोंको रामका सारा हाल सुनाया और बोला।

"रामचन्द्र मेरा गुरु है। अपनी पहली ही भेंटमें उसने मुझे जो उपदेश दिया उससे मेरी वृत्ति पलट गई और मैं तुम्हारी सेवा करने लगा। अबकी मुलाकातमें उसने मुझे शब्दों द्वारा कोई भी उपदेश नहीं दिया। लेकिन उसकी कृतिमेंसे मुझे उपदेश मिला है। वही मैं अब तुम लोगोंको सुनाता हूं।

"हम लोग जंगल काट-काटकर बस्ती बसानेका जो कार्य कर रहे हैं वह बेशक उपयोगी कार्य है। लेकिन इसकी भी मर्यादा है। उस मर्यादाको न जानकर हम अगर पेड़ काटते ही रहेंगे तो वह एक बड़ी भारी हिंसा होगी। और कोई भी हिंसा अपने कर्तापर उलटे बिना नहीं रहती यह तो मेरा अनुभव है। इसलिए अब हम पेड़ काटनेका काम खत्म करें। आजतक जितना कुछ किया सो ठीक ही किया क्योंकि उसकी बदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था अब 'सह्याद्रि' बन गया है। लेकिन अब हम जीवनोपयोगी वृक्षोंके रक्षणका काम भी अपने हाथमें लेना चाहिए।"

यह कहकर उसने उन्हें आम केले नारियल काजू कटहल अनन्नास आदि छोटे-बड़े फलके वृक्षोंके लगानेकी विधि सिखाई। उन इसके लिए स्वयं वनस्पति-संवर्धन-शास्त्रका अध्ययन करना पड़ा और उसने अपने हमेशाके उत्साहसे उस शास्त्रका अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्रमें कई महत्त्वपूर्ण शोध भी किये। पेड़ोंको मनोज्ञ आकार देनेके लिए उन्हें व्यवस्थित काटने-छाटनेकी जरूरत महसूसकर, उसने उसके लिए छोटेसे औजारका आविष्कार किया। इस औजारको 'नव-परशु' का नाम देकर उसने अपनी परशु-उपासना अखंड जारी रखी।

एक बार उसने समुद्रतटपर नारियलके पेड़ लगाने का एक सामुदायिक समारोह आयोजित किया। उस अवसरसे लाभ उठाकर उसने वहां आये हुए लोगोंके सामने अपने जीवनके सारे प्रयोगों और अनुभवोंका

मा उपस्थित किया। सामने पूरे ज्वारमें समुद्र गरज रहा था। उसकी तरफ इशारा करके समुद्रवत् गंभीर ध्वनिमें उसने बोलना आरंभ किया—

"आपको यह समुद्र हमें क्या सिखा रहा है, इसपर ध्यान दीजिये। इतना प्रचंड शक्तिशाली है यह, परन्तु अपने परम उत्कर्षके समय भी यह अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता। इसलिए इसकी शक्ति हमेशा ज्यों-की-त्यों रही है। मैंने अपने सारे अनुभवों और प्रयोगोंमेंसे यही निष्कर्ष निकाला है। प्रारंभमें मैंने पिताकी आज्ञासे अपनी माताकी हत्या की। लोग कहने लगे 'कैसा मातृ-हत्यारा है!' मैं उस आक्षेपको स्वीकार करनेको तैयार नहीं था। मैं कहा करता 'आत्मा अमर है और शरीर मिथ्या है। कौन किसे मारता है? मैं मातृ-हत्यारा नहीं हूं, प्रत्युत पितृ-भक्त हूं।'

"लेकिन आज मैं अपनी गलती महसूस करता हूं। मातृवधका आक्षेप मुझे उस वक्त स्वीकार नहीं था और आज भी नहीं है। लेकिन मेरे ध्यानमें यह बात नहीं आई थी कि पितृभक्तिकी भी मर्यादा होती है। यही मेरा वास्तविक दोष था। लोग अगर अचूक उतना ही दोष बताते तो शायद मेरी विचार-शुद्धि हुई होती। लेकिन उन्होंने भी मर्यादाका अतिक्रमण करके मुझपर आक्षेप किया और उससे मेरी विचार-शुद्धिमें कोई सहायता नहीं पहुंची।

"बापके मारे जानेपर अन्यायके प्रतिकारका व्रत लेकर मैं पृथ्वी क्षत्रोंसे इक्कीस बार लड़ा। हर बार मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मैं सफल हो गया हूं, लेकिन प्रत्येक बार मुझे निश्चित असफलता ही नसीब हुई। रामचन्द्रने मेरी गलती मुझे समझाई।

"अन्याय-प्रतिकार मनुष्यका धर्म तो है, लेकिन उसकी भी एक आत्मीय मर्यादा है, यह ज्ञान मुझे गुरु-कृपाकी बदौलत प्राप्त हुआ।

"इसके उपरान्त मैं जंगल काटकर मानव-उपनिवेश बसानेके, मानव सेवाके कार्यमें जुट गया। लेकिन आप जानते ही हैं कि जंगल काटनेकी भी एक हद होती है, उस मर्यादाका ज्ञान मुझे ठीक समय पर कैसे हुआ?

"अबतक मैं निरंतर प्रवृत्तिका ही आचरण करता रहा। पर आखिर

प्रवृत्तिकी भी मर्यादा तो है ही न ? इसलिए अब मैं निवृत्त होनेकी सोच रहा हूं। इसके मानी यह नहीं है कि मैं कर्म ही त्याग दूंगा। स्वतन्त्र नई प्रवृत्तिका आरम्भ अब नहीं करूंगा। प्रवाह-पतित करता रहूंगा। प्रसंगवश आप पूछेंगे तब सलाह भी देता रहूंगा।

'इसीलिए मैंने आज जान-बूझकर इस समारोहका आयोजन किया और अपना यह 'समुद्रोपनिषत' या 'जीवनोपनिषद्' चाहे जो कह लीजिये आपसे निवेदन किया है। फिर-से दोहराके कहता हूं—पितृ भक्तिकी मर्यादा प्रतिकारकी मर्यादा मानव-सेवाकी मर्यादा—सारांश सभी प्रवृत्तियोंकी मर्यादा—यही मेरा जीवनसार है। आओ एक बार सब मिलकर कहें "ॐ नमो भगवते मर्यादायै।

इतना कहकर परशुराम शान्त हो गया। उसके उपदेशकी यह गंभीर प्रतिध्वनि सह्याद्रिकी खोह-कन्दराओंमें आज भी गूंजती हुई सुनाई देती है।

३०

राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

आजतक खादीका कार्य हमने श्रद्धासे किया है। अब श्रद्धाके साथ साथ विचारपूर्वक करनेका समय आ गया है। खादीवाले ही यह समय लाये हैं क्योंकि उन्होंने ही खादीकी दर बढ़ाई है।

सन् १९१९ में हमने सत्रह आने गज खादी ली। मगर सस्ती करनेके इरादेसे दर कम करते-करते चार आने गज पड़ने लगी। चारों ओर 'यन्त्र युग' होनेके कारण कार्यकर्ताओंने मिलके भाव दृष्टिमें रखकर धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उसे सस्ता किया। इस हुनरी सिद्धिके लिए यहां गरीबी थी उन स्थानोंमें कम-से-कम मजदूरी देकर खादी उत्पत्तिका काम चलाना पड़ा। मिलवालोंने भी ऐसी खादी इसलिए ली कि वह सस्ती थी। मध्यम वर्गके लोग पहने लगे—अब खादीका इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योंकि

उसके साथ मिलके कपड़के बराबर हो गये हैं, यह टिकाऊ भी काफी है और महंगी भी नहीं है। अर्थात्, 'खूबसूरती और मजबूती' इस कहावतके अनुसार खादीकी साख लोगोंको चाहिए थी। उन्हें वह वैसी मिल गई और वे मानने लगे कि खादी इस्तेमाल करके महान् देश-सेवा कर रहे हैं।

यह बात तो गांधीजीने सामने रखी है कि अब मजदूरोंको अधिक मजदूरी दी जाय उन्हें रोजाना आठ आने मिलने चाहिए। क्या यह भी जानबूझकरकी बकवास है या उनकी बुद्धि सठिया गई है? या उनके कहनेमें कुछ सार भी है? इसपर हम विचार करना चाहिए। हम अभी खाटके अन्दर ही हैं सहारेसे अभी उठ नहीं गये हैं दुनियामें अभी हम रहता है। यदि यह विचार हम नहीं जानते तो यह समझकर हम उन्हें छोड़ सकते हैं कि यह अपनी खोपड़ी सनक है। सच बात तो यह है कि जबसे खादीकी मजदूरी बढ़ी तबसे मुझमें मानो नई जान आ गई। पहले भी मैं यही काम करता था। मैं व्यवस्थित कातनेवाला हूं। उत्तम पूनी और निर्दोष चरखा काममें लाता हूं। कातते समय मेरा सूत टूटता नहीं यह आपने अभी देखा ही है। मैं श्रद्धापूर्वक ध्यानपूर्वक, कातता हूं। आठ घंटे इस तरह काम करनेपर भी मेरी मजदूरी सवा दो आने पड़ती थी। पीठमें दर्द होने लगता था। लगातार आठ घंटे काम करता था ध्यानपूर्वक कातता था एक बार कानमें जमाई कि चार घंटे उसी आसनमें कातता रहता। तो भी मैं सवा दो आने ही कमा सकता था। सारे रास्तेमें इसका प्रकार कैसे हो इसका विचार मैं करता रहता था। यह मजदूरी बढ़ गई, इससे मुझे आनन्द हुआ, कारण मैं भी एक मजदूर ही हूं। "घायलकी गति घायल जानें।"

मेरे हाथके सूतकी धोती चार रुपयेकी हो, तब भी धनी लोग चार रुपये में खरीदनेको तैयार हैं। कहते हैं "यह आपके सूतकी है इसलिए हम इसे लेते हैं।" ऐसा क्यों? मैं मजदूरोंका प्रतिनिधि हूं। जो मजदूरी मुझे देते हो वही उन्हें भी दो। ऐसी परिस्थितिमें मुझे यही चिंता हो गई है कि इतनी सस्ती खादी कैसे जीवित रह सकेगी। अब मेरी यह चिन्ता दूर हो गई है। पहले कातनेवाले चिंतित रहते थे कि खादी कैसे टिकेगी। आज वैसी ही चिन्ता पहननेवालोंको मालूम हो रही है।

संसारमें तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं—(१) काश्तकार (२) दूसरे धंधे करनेवाले और (३) कुछ भी धंधा न करनेवाले जैसे बूढ़े रोगी बच्चे बेकार वगैरा। अर्थशास्त्रका—सच्चे अर्थशास्त्रका—यह नियम है कि इन तीनों वर्गोंमें जो ईमानदार हैं उन सबको पेटभर अन्न वस्त्र और आरामकी आवश्यक सुविधा होनी चाहिए। कुटुम्ब भी इसी तत्त्वपर चलता है। जैसा कुटुम्बमें वैसा ही समस्त राष्ट्रमें होना चाहिए। इसीका नाम है 'राष्ट्रीय अर्थशास्त्र'—सच्चा अर्थशास्त्र। इस अर्थशास्त्रमें सब ईमानदार आदमियोंके लिए पूरी सुविधा होनी चाहिए। आलसी यानी गैर-ईमानदार लोगोंके पोषणका भार राष्ट्रके ऊपर नहीं हो सकता।

इंग्लैंड-सरीखे देशोंमें (जो यन्त्र-सामग्रीसे सम्पन्न हैं) दूसरे देशोंकी सम्पत्ति बहकर आती है सब बाजार खुले हुए हैं नाना प्रकारकी सुविधाएं प्राप्त हैं तो भी वहां बेकारी है। ऐसा क्यों? इसका कारण है यन्त्र। इस बेकारीके कारण प्रतिवर्ष बेकारोंको भिक्षा (डोल) देनी पड़ती है। ऐसे बीस पच्चीस लाख बेकारोंको मजदूरी न देकर अन्न देना पड़ता है। आप कहते हैं कि भिखारियोंको काम किये बगैर अन्न न दो पर वहां अन्नदानका रिवाज चालू है। इन लोगोंको काम दीजिये। इन्हें काम देना कर्तव्य है। 'काम दो नहीं तो खानेको दो' यह नीति इंग्लैंडमें है तो सारे संसारमें क्यों न हो? यहां भी उसे लागू कीजिये। पर यहां लागू करनेपर काम न देकर दस करोड़ लोगोंको अन्न देना पड़ेगा। यहां कम-से-कम डेढ़ करोड़ मनुष्य ऐसे निकलेंगे। यह मैं हिसाब देखकर कह रहा हूं। इतने लोगोंको अन्न कैसे दिया जा सकेगा? नहीं दिया जा सकता—मनमें ठान लिया जाय तो भी नहीं दिया जा सकता। उधर, चूंकि इंग्लैंडवाले दूसरे देशोंकी सम्पत्ति लूट लाते हैं इसलिए वे ऐसा कर सकते हैं। ईमानदारीसे राज करना हो तो ऐसा करना सम्भव नहीं हो सकता।

हिन्दुस्तान कृषि प्रधान देश है तो भी यहां ऐसा धंधा नहीं जो कृषिके साथ-साथ किया जा सके। जिस देशमें केवल खेती होती है वह राष्ट्र दुर्बल समझा जाता है। यहां हिन्दुस्तानमें तो ७५ प्रतिशतसे भी ज्यादा काश्तकार हैं। यहांकी जमीनपर कम-से-कम दस हजार बरससे काश्त की जाती है। अमरीका हिन्दुस्तानसे तिगुना बड़ा मुल्क है, पर आबादी वहांकी

सिर्फ १२ करोड़ है। जमीनकी काश्त केवल ४ वर्ष पूर्वसे हो रही है। इसलिए यहांकी जमीन उपजाऊ है और यह देश समृद्ध है। अपने राष्ट्रके काश्तकारोंके हाथमें और भी धन्धे दिये जायं तभी वह समृद्ध सकेगा। काश्तकार, यानी (१) खेती करनेवाला (२) गोपालन करनेवाला और (३) बुनकर कातनेवाला। काश्तकारकी यह व्याख्या की जाय तभी हिन्दुस्तानमें काश्तकारी टिक सकेगी।

आखिर यह वर्तमान परिपाटी बदलनी ही पड़ेगी। बहुत लोग दुःख प्रकट करते हैं कि खादीका प्रचार जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। इसमें दुःख नहीं आनन्द है। खादी नीतिके बदले अथवा लिप्टनकी चाय नहीं है। खादी एक विचार है। चाय लगानेको कहें तो देर नहीं लगती पर यदि चाय छुड़ानेको कहें तो इसमें कितना समय लगेगा इसका भी विचार कीजिये। खादी निर्माणका काम है, विध्वंसका नहीं। यह विचार अहिंसाके विचारका अंग है। तब खादीकी प्रगति धीमी है, इसका दुःख नहीं यह तो स्वाभाविक ही है। पहले अपना राज था तब खादी थी ही पर उस खादीमें और आजकी खादीमें अन्तर है। आजकी खादी में जो विचार है, वह उस समय नहीं था। आज हम खादी पहनते हैं इसके क्या मानी हैं? यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि आजकी खादीका अर्थ है सारे संसारमें चलते हुए प्रवाहके विरुद्ध जाना। यह पानीमें प्रवाहके ऊपर चढ़ना है। इसलिए जब हम यह बहुत-सा प्रतिकूल प्रवाह—प्रतिकूल समय—जीत सकेंगे तभी खादी आगे बढ़ सकेगी। "इस प्रतिकूल समयका संहार करनेवाली मैं हूं" यह यह कह सकेगी। "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः" ऐसा अपना विराट् रूप वह दिखलायेगी। इसलिए खादीकी यदि मिलके कपड़े से तुलना की गई तो समझ लीजिये कि वह मिट गई मर गई। इसके विपरीत उसे ऐसा कहना चाहिए कि "मैं मिलकी तुलनामें खड़ी नहीं रहती हूं। मैं तो मानवकी हूं। जो-जो विचारशील मनुष्य हैं मैं उन्हें नमस्कार करती हूं। मैं सिर्फ शरीर ढांकने भरको नहीं आई मैं तो आपका मन हरण करने आई हूं।" ऐसी खादी एकाएक कैसे मंजूर होगी? वह धीरे-धीरे ही आगे आयगी और आयगी तो पक्के तौरसे आयगी। खादीके प्रचलित विचारों की विरोधिनी होनेके कारण उसे पहननेवालोंकी गणना आफतोंमें होगी।

मैंने अभी जो तीन वर्ग बनाये हैं—काश्तकार, अन्य धंधा करनेवाले और जिनके पास धंधा नहीं—इन सभी ईमानदार मनुष्योंको हमें अन्न देना है। इसे करनेके लिए तीन शर्तें हैं। एक तो सर्वप्रथम काश्तकारकी व्याख्या करिये। (१) खेती (२) गो-रक्षण और (३) कातनेका काम करनेवाले ये सब काश्तकार हैं—काश्तकारकी ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। अन्न वस्त्र बैल गाय दूध इन वस्तुओंके विषयमें काश्तकारको स्वावलंबी होना चाहिए। यह एक शर्त हुई। दूसरी शर्त है कि जो वस्तुएं काश्तकार तैयार करें, वे सब दूसरोंको महंगी खरीदनी चाहिए। तीसरी बात यह है कि इनके सिवाय बाकीकी चीजें जो काश्तकारको लेनी हों, वे उसे सस्ती मिलनी चाहिए। अन्न-वस्त्र दूध ये वस्तुएं महंगी पर बड़ी मिठाई-जैसी वस्तुएं सस्ती होनी चाहिए। वास्तवमें दूध महंगा होना चाहिए, जो है सस्ता और मिठाई सस्ते होने चाहिए, जो हैं महंगे। यह आजकी स्थिति है। आपको यह विचार करना चाहिए कि अच्छे-से-अच्छे पिठाई सस्ते और मध्यम दूध भी महंगा होना चाहिए। इस प्रकारका अर्थशास्त्र आपको तैयार करना चाहिए। खादी दूध और अनाज सस्ता होते हुए क्या राष्ट्र सुखी हो सकेगा? इने-गिने कुछ ही नौकरोंको नियमित रूपसे अच्छी तनख्वाह मिलती है उनकी बात छोड़िये। जिस राष्ट्रमें पिचहत्तर प्रतिशत काश्तकार हों उसमें यदि ये वस्तुएं सस्ती हुईं तो वह राष्ट्र कैसे सुखी होगा? उसे सुखी बनानेके लिए खादी दूध अनाज ये काश्तकारोंकी चीजें महंगी और बाकीकी चीजें सस्ती होनी चाहिए।

कुछलोग कहते हैं 'तुम्हारे ये सब विचार प्रतिगामी हैं। इस बीसवीं सदीमें तुम खादीवाले लोग यंत्र-विरोध कर रहे हो। पर मैं कहता हूं कि क्या आप हमारे मनकी बात जानते हैं? हम सब यंत्र-विरोधी हैं, यह आपने कैसे समझ लिया? मैं कहता हूं कि हम यंत्रवाले ही हैं। एकदम आप हमें समझ सकें यह बात इतनी सरल नहीं है। हम तो आपको भी हजम कर जानेवाले हैं। मैं कहता हूं कि आपने यंत्रोंका आविष्कार किया है न? हम भी वे मान्य हैं। काश्तकारोंकी वस्तुएं छोड़कर बाकीकी वस्तुएं आप सस्ती कीजिये। अपनी यंत्रविद्या काश्तकारोंके बच्चोंके सवाय दूसरे बच्चोंपर चलाइये और वे सारी वस्तुएं सस्ती होने दीजिये। पर आज होता है उलटा।

कारखानोंमें वस्तुएँ सस्ती पर इतने मन होते हुए भी गाँवकी सारी वस्तुएँ महँगी! मैं खादीवाला हूँ तो भी यह नहीं कहता कि कम-से-कम खाद पैदा कर लो। मुझे भी दियासलाई चाहिए। कारखानेवाले एक पैसेमें चार डिबिया क्यों नहीं देते? आप कहते हैं कि हमने बिजली तैयार की और वह कारखानोंको चाहिए। तो दीजिए न आप आधे महीने भर! आप खुशीसे मत निकालिये पर उनका वैसा उपयोग होना चाहिए जैसा मैं कहता हूँ। जैसे चार आने वजन होने चाहिए और आपके मजदूरोंकी बनी वस्तुएँ पैसे-दो-पैसेमें मिलनी चाहिए। मक्खन दो रुपये सेर आपको ज्यादा दामोंसे खरीदना चाहिए। यदि आप कहें कि हम यह जानता नहीं तो कारखानेवाले भी कह दें कि हम अपनी चीजें बाँटते हैं। हमारे कामके बाद बचेंगी तो आपको देंगे। मुझे बताइए कौन-सा कारखानेदार इसका विरोध करेगा?

इसलिए यह खादीका विचार समझ लेना चाहिए। बहुतोंके सामने यह समस्या है कि खादी महँगी हुई तो क्या होगा? पर किसका? किसानों-को खादी खरीदनी नहीं पड़ती है। इसलिए उनके लिए खादी महँगी नहीं। वह उन्हें दूसरोंको महँगी बेचनी है।

३१

खादी और मादीकी लड़ाई

होनेवालोंकी खादी-यात्राने शिष्ट लोगोंके लिए खादी (नहीं) बिदाई गई थी। 'शिष्ट' की जगह आप 'विशिष्ट' शब्द बोलिये क्योंकि वहाँ जो दूसरे लोग आये थे वे भी शिष्ट तो थे ही। उस मौकेपर मुझे कहना पड़ा था कि खादी और मादीकी अनबन है। दोनोंकी लड़ाई है और अगर इस लड़ाईमें खादीको ही जीत होनेवाली हो तो हम मादीको छोड़ दें।

लोग कहते हैं 'मादीके' भी तो खादी बन सकती है? हाँ बन क्यों नहीं सकती? मनुष्य भी मगर बन सकता है। लेकिन बनना नहीं चाहिए और बननेपर उसे मनुष्यमें शुमार न करना ही उचित है।

हमें ध्यान देना चाहिए आचार्यकी तरफ। बीमार, कमजोर और बूढ़ोंके लिए खादीका इन्तजाम किया जाय तो बात और है। लेकिन जो शिष्ट समझे जाते हैं उनमें और दूसरोंमें फर्क करके उनके लिए भेद दर्शक पद्धतियोंका शासन चलाना बिलकुल दूसरी ही चीज है। इस दूसरी तरहकी खादी और खादीमें विरोध है।

वास्तवमें तो जो खादी हमेशा गरीब लोगों और मेहनतकशोंकी मोहब्बत करती है उसे शिष्ट वर्गोंके लिए सिखाना उनका आदर नहीं बल्कि अनादर करना है। लेकिन दुर्भाग्यवश शिष्ट लोग भी इसमें अपना अपमान नहीं समझते। हमने तो यहांतक कमाल कर दिया कि शंकराचार्यजी भी खादी बनानेमें बाज नहीं आये! शंकराचार्य तो कह गये— 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः'—लंगोटिये ही सबसे बड़भागी हैं। और किसीको यह बात चाहे जंचे या न जंचे कम-से-कम आचार्यके भक्तोंको तो जंचनी ही चाहिए।

राष्ट्र ऊपर उठते हैं और गिरते हैं। लेकिन आलस्य विलासिता और जड़ता कभी ऊपर उठती ही नहीं। शिवाजी महाराज कहा करते थे कि "हम तो धर्मके लिए फकीर बने हैं।" लेकिन पेशवा तो पानीपतकी लड़ाई के लिए भी सपुत्र सपरिवार गये मानो किसी बारातमें जा रहे हों और वहाँ कार्यसिद्धिमें हाथ धोकर काला-सा मुंह लेकर लौटे। किसीने कहा है—"रोम बना कैसे?" सादगीसे। "रोम गिरा कैसे?" भोग विलाससे।

कुछ साल पहले असहयोगके आरम्भकालमें देशके युवकों और बूढ़ोंमें दृढ़ता और निश्चय, त्यागवृत्ति और वीरताका संचार होने लगा था। उधर मजदूर आम पहननेवाली खादी—मोटी जैसी खादी—जिसे वह अभिमानसे पहनते थे और गरीबोंके साथ भी अभिमानसे खरीदते थे। धीरे-धीरे हम खादीका मूल और ही रूपमें उपयोग करने लगे। खादी पहननेवाले सबसे पहले लगे देखिये अब खादीमें कितनी तरक्की होगई है। बिलकुल महीन—पतली—पोशाक विलायती मलमलसे महीन जैसी दाग आदि खादीकी अच्छा सोचिये। और ना भी पहननेको जंचेगा कितने सुन्दर दामाम! खरीदार भी बढ़ने लगे खादीकी प्रतिष्ठा इसी

तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़े और एक दिन वह मिलके कपड़ेकी पूरी-पूरी बराबरी करे। लेकिन उनकी समझमें यह मोटी-सी बात न आती थी कि यदि खादीको मिलके कपड़ेकी ही बराबरी करनी है तो फिर खादीकी जरूरत ही किसलिए है? मिल ही क्या बुरी है? वैद्य अपनी दवाईकी तारीफ करने लगा 'बिल्कुल सस्ती दवाई है, न परहेज की जरूरत न पथ्यकी।' मरीज आ गया चक्करमें। लेकिन बेचारा यह भूल गया कि पथ्य-परहेज नहीं तो फायदा भी नहीं।

कोई गलत अर्थ न समझे। कहनेका यह मतलब कभी नहीं है कि मजदूरोंको पूरी-पूरी मजदूरी देकर खादी सस्ती करना हमारा कर्तव्य नहीं है। यह भी कोई नहीं कहता कि खादी सब लोगोंकी सब तरहकी जरूरतें पूरी न करे। प्रश्न केवल इतना ही है कि खादी का गौरव किस बातमें है। किसीकी आँखें बिगड़ गई हों तो उसे ऐनक जरूर देनी चाहिए। लेकिन ऐनकधारीको देख उसे 'सुलोचन' कहकर उसकी बड़ाई तो नहीं की जा सकती।

यहाँ एक प्रसंग सहज ही याद आ रहा है। एक रसिक दृष्टिवाला कला-कार एक बार पंढरपुर जाकर विठोबाके दर्शन कर आया। मुझसे कहने लगा "विठोबाके सारे भक्त उनके रूपकी प्रशंसा करते नहीं अघाते। उनके रूपदीप (स्तोत्र) सुन-सुनकर तो जी ऊब गया। लेकिन मुझे तो उस मूर्तिको देखकर कहीं भी सुन्दरता का खयाल नहीं आया। एक निरा बेडौल पत्थर नजर आया। मूर्तिकार और भक्तगण दोनों मुझे तो ऐसा लगता है कि श्रद्धाभावमें ही संतुष्ट हो गये। पंचतंत्रवाले किस्सेमें जिस तरह उन तीन ठगोंने सिर्फ बार बार कह-कहकर बकरेको कुत्ता बना दिया ठीक उसी तरह इन लोगोंने चिल्ला चिल्लाकर एक बेडौल पत्थरमें सुन्दरता निर्माण करनेकी ठान ली है।" मैंने जवाब दिया "हाँ सही बात है। इस समाजकी सीमा नदीमें बोल लालच लोगों उबारनेका विसर्जन प्रश्न किया है, उस का मजबूत दृढ़ ग्राम और रूखा रहना ही होना चाहिए। वह यदि चैप चम्पापर उत्सवान या चलायमान राग जमाकर तस्वीर खिंचनेवालेके लिए आसन लगानेवाले रसिकोंकी मरजीका अनुसरण करे तो क्या वह उसे शोभा देगी? रामदासने लिखा है— 'मनुष्यके अंतरंगका शृंगार है चातुर्य

फ़रक तो केवल ऊपरी सजावट है। दोनोंमें कौन-सा अच्छा है, इसका विचार करो। इसीलिए विचारोंको छट-कट मामला-जैसा खादी मिले।

मेरा समाजवादी दोस्त कहेगा "तुम तो बस वही अपना पुराना राग अलापने लगे। बस फिर उसी दरिद्रनारायणकी पूजामें मगन हो गये। हम दरिद्रताके पुजारी नहीं हैं। अपने राम तो वैभवके उपासक हैं। मैं उनसे कहना चाहता हूँ मेरे दोस्त इस तरह अक्लके पीछे लट्ठ लेकर मत पड़ो। हम क्या दारिद्र्यको नारायण कहते हैं? हम तो दरिद्र को नारायणके नामसे पुकारते हैं। और 'दरिद्र' को नारायण नाम दिया इसका यह मतलब थोड़े ही है कि धनिक 'नारायण' नहीं हो सकता? यदि मैं कहूँ कि मैं बड़ा हूँ तो इसका यह अर्थ थोड़े ही है कि तुम बड़े नहीं हो? अब तो संतोष हुआ? दरिद्र भी नारायण है और श्रीमान् भी। दरिद्रनारायणकी पूजा उसकी दरिद्रता दूर करनेसे पूरी होती है और श्रीमन्नारायणकी पूजा उसे उसके ऐश्वर्यका अर्थ समझाकर उसका त्याग करवानेसे होती है और जब किसी पुरुष-नारायणसे पाला पड़े तो उसकी पूजा इस प्रकार विलक्षण करके समाधानसे होती है।' क्या ठीक है न?

लेकिन इस यथार्थ विनोदका मान कीजिए। अगर समाजवादी दोस्त का वैराग्य नहीं छूटता तो वैभव ही सही। वैभव किसे कहना चाहिये और वह कैसे प्राप्त किया जाता है इन बातोंको भी ध्यान दीजिये। मान्य समाजवादी कम-से-कम साम्यवादी तो हैं न? इन दो-चार आदमियोंको अलग-अलग खादी मिल और बाकी सबको टाटके बोरे या धूल नसीब हो यह तो उन्हें नहीं भाता न? जब मैंने खादी और मादीकी लड़ाईकी बात सुनी तो मेरे मनमें यह भय भी ना था ही। सब लोगोंके लिए खादी सवाई न होती तो दूसरा ही सवाल खड़ा होता। लेकिन यह मुमकिन नहीं था। और मुमकिन नहीं था इसीलिए मुनासिब भी नहीं था यह ख्याल मनमें जम गया था।

आजकल हमारे बीच दो प्रकार एक ओर साम्यवाद और दूसरी ओर विषम व्यवहारका बड़ा जोर है। साम्यवाद और विषम व्यवहार दोनों साथ-साथ चल रहे हैं। ठाकुरके बाद हिन्दुस्तानका वातावरण विषमता को लेकर एक करवट और बदल गया। अपना विशिष्ट पुरुष यह बात

छोटे-बड़े प्रतिनिधि मानवीय सर्वजन और देहाती जनता—इन सबके लिए बड़ा दरबार प्रबन्ध किया गया था। गांधीजीके लिए यह दरबार दुःखका विषय था यह बात जाहिर हो चुकी है। यह विषम व्यवहार खास मौकोंपर ही होता हो सो बात भी नहीं। हमारे जीवन और मनमें इसने घर कर लिया है। 'मजदूरोंको पूरा-पूरा वेतन दिया जाना चाहिए या नहीं" इस विषयपर बहस हो सकती है पर "व्यवस्थापकोंको पूरा वेतन दिया जाय या नहीं" इसकी बहस कोई नहीं छेड़ता। जिन्हें हम देहातकी सेवाके लिए भेजते हैं उन्हें अपना रहन-सहन ग्राम-जीवनके अनुकूल बनानेकी हिदायत देते हैं। उन्हें देहातमें भेजने और हिदायतें देनेको तो हम तैयार रहते हैं लेकिन हम इस बातकी जरा तनिक भी अनुभूति नहीं होती कि स्वयं हमको भी अपनी हिदायतोंके अनुसार चलनेकी कोशिश करनी चाहिए। साम्यकी भेदसे दुश्मनी है लेकिन विवेकसे तो नहीं है? इसीलिए बूढ़ोंके लिए गादी हमने मंजूर कर ली है। इसी तरह देहातकी सेवाके लिए जानेवाले युवक कार्यकर्ता और उन्हें वहां भेजनेवाले बुजुर्ग नेताओंके जीवनमें थोड़ा-बहुत फर्क होना न्याय-संगत है और विवेक उसे मंजूर करेगा। इसीलिए साम्य-सिद्धान्तोंकी भी उसके खिलाफ कोई शिकायत नहीं होगी। लेकिन आज जो फर्क पाया जाता है वह थोड़ा-बहुत नहीं है। अक्सर वह बहुत मोटा नजरमें सहज ही आनेवाला ही नहीं बल्कि चुभनेवाला होता है। इस विषम जीवनका नाम गादी है और इस गादीसे खादीकी दुश्मनी और लड़ाई है।

हालहीमें आश्रममें एक बातकी चर्चा हो रही थी। आश्रमकी आबादी बढ़ रही है इसीलिए अब नई जगह खोज लेकर ग्राम-शास्त्रके अनुसार व्यवस्थित बस्ती बसाना चाहिए। बुनकर, कातनेवाले बढ़ई आदि मजदूर और व्यवस्थापक-वर्ग परिवार समाजके कार्यकर्ता, आश्रमवासी मेहमान आदिके लिए किस प्रकारके मकान बनवाने चाहिए यह मुझसे पूछा गया। पूछनेवाला स्वयं साम्यपूजक था ही और मैं साम्यवादी नहीं हूं यह भी जानता था। मैंने कुछ मन-ही-मन और कुछ प्रकट रूपमें कहा "मैं साम्य हजम नहीं कर सकता इसीलिए दूर ही भागता हूं। मजदूरको रोटीकी भूख तो है लेकिन वह साम्य हजम कर सकता है। इसलिए साम्यसे काम चला लेता है। इतनी विषमता तो हम विवेककी दवाई लेकर हजम कर गये। लेकिन क्या

हमारे लिए मकान भी भिन्न-भिन्न प्रकारका होना जरूरी है ? जिस तरह मकानमें मजदूर अपनी जिंदगी बसर करता है, उसी तरहका मकान मेरे लिए भी काफी क्यों नहीं हो सकता ? या फिर, उसका भी मकान मेरे मकानके समान क्यों न हो ?

आप चाहे वैराग्यका नाम लें चाहे वैभवका, विषमताको बर्दाश्त हरगिज न कीजिये। इसीका नाम है 'आत्मौपम्य'। सच्चा साम्यवाद यही है। उसपर तुरंत अमल किया जाना चाहिए। साम्यवादका कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है 'तत्काल साम्यवाद' का। साम्यवादको तुरंत कार्यान्वित करनेकी सिफतका नाम अहिंसा है। अहिंसा हरेकसे कहती है कि "तू अपने-आपसे प्रारंभ कर दे तो तेरे लिए तो आज ही साम्यवाद है। अहिंसाका चिह्न है खादी। तुम खादी हो मगर भेदभाव रहे, तब तो यही कहना होगा कि उसने अपने हाथों अपना गला काट लिया।

इस सारे अर्थका संग्राहक सूत्र-वाक्य है—खादी और खादीमें भलाई है।

३२
खादीका समग्र दर्शन

जेलमें तटस्थ चिंतनके लिए थोड़ा-बहुत अवकाश मिल जाता है। इसलिए हमारे आंदोलनके विषयमें और हिंदुस्तान तथा संसारकी सारी परिस्थितिके विषयमें बहुत-कुछ विचार हुआ, चर्चा भी हुई। कुल मिलाकर परिस्थिति बहुत बिगड़ी हुई मालूम होती थी। ऐसे समय कौन-से उपाय करने चाहिए इसका चिंतन हम वहां करते थे। लेकिन हमारे जेलसे छूटनेके थोड़े ही दिन बाद जापान और अमरीकाके लड़ाईमें शामिल हो जानेसे परिस्थिति और भी बिगड़ गई। इसलिए जेलमें किये कुछ विचार अधूरे मालूम हुए और कुछ दृढ़ हुए। इस युद्धके विरोधमें हम प्रायः तीन कारण दिया करते थे: पहला कारण था युद्धकी हिंसकता, दूसरा दोनों पक्षोंकी—

चाहे वह मुनासिब भले ही हो—साम्राज्यवादी तृष्णा और तीसरा यह कि हिंदुस्तानकी सम्मति नहीं ली गई। लेकिन जापान और अमरीकाके मैदानमें कूद पड़नेके बाद अब करीब-करीब सारा संसार ही युद्धमें शामिल हो गया है। अब यह युद्ध मनुष्यके हाथमें नहीं रहा, वरन् मनुष्य ही युद्धके अधीन हो गया है। इसलिए यह युद्ध स्वैर या मुक्त है। हमारे युद्धविरोधका यह और एक नया कारण है। वासुदेव कॉलेज (वर्धा) में भाषण देते हुए मैंने इसीपर जोर दिया था।

लेकिन इस प्रकार संसारके सभी बड़े राष्ट्रोंके युद्धमें शरीक हो जानेसे हिंदुस्तानकी, जोकि पहलेसे ही एक दरिद्र और विषम परिस्थितिमें ग्रस्त देश है, हालत और भी विषम हो गई है। अंग्रेजी राज्यसे पहले हिंदुस्तान स्वावलंबी था। इतना ही नहीं, वह अपनी जरूरतें पूरी करके विदेशोंको भी थोड़ा-बहुत माल देता रहता था। लेकिन आज तो पक्के मालके लिए हिंदुस्तान करीब-करीब पूरी तरह परावलंबी हो गया है। राष्ट्रीय रक्षाके साधन, युद्धविषयक सरंजाम वगैरहमें जो परावलंबन है, उसकी बात मैं नहीं कहता। हालांकि अगर अहिंसाका रास्ता खुला न हो तो राष्ट्रीय दृष्टिसे इस बातका विचार भी करना ही पड़ता है। लेकिन मैं तो सिर्फ जीवनोपयोगी नित्य आवश्यकतापोषी ही बात कह रहा हूं। ये चीजें आज हिंदुस्तानमें नहीं बनतीं और फिलहाल वे बाहरसे कम आ सकती हैं। लड़ने-वाले राष्ट्र युद्धोपयोगी सामग्री बनानेकी ही फिक्रमें होंगे, उनके पास बाहर भेजनेके लिए बहुत कम माल रहेगा। और इसके बाद भी जो माल तैयार होगा उसे दूसरे राष्ट्रोंतक न पहुंचने देनेकी व्यवस्था शत्रुराष्ट्र अवश्य करेंगे। अमरीकासे माल आने लगे तो जापान उसे डुबा देगा और जापानसे तो माल आ ही नहीं सकेगा। इस तरह अगर बाहरसे माल आना बन्द हो गया या कम हो गया तो हिंदुस्तानका हाल बहुत ही बुरा होगा। पक्का माल यहां बनानेके लिए सरकार अगर हेतुपूर्वक नहीं तो परिस्थितिके कारण उदासीन रही। उसका सारा ध्यान लड़ाईपर केंद्रित है, इसलिए उसे दूसरी तरफकी भावनाएं नहीं सूझीं। अमीरलोगोंसे जो कुछ विचार होता वह अपने युद्धके विषयमें ही होगा। अगर सरकारकी यही वृत्ति रही कि हिंदुस्तानको जैसे-तैसे रखना—यानी उसे अंग्रेजोंके कब्जेमें बनाये रखना

—पर हमारा कर्तव्य है, तो कोई ताज्जुब नहीं। ऐसी अवस्थामें हम कार्यकर्ताओंपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ती है।

यों लोगोंपर यह इलजाम लगाया जाता था कि खादीकी बिक्री काफी नहीं होती, उसके लिए लोगोंकी मिन्नतें करनी पड़ती हैं। अब हमपर यह इलजाम आनेवाला है कि हम लड़ाईकी परिस्थितिमें लोगोंकी मांग हम पूरी नहीं कर सकते। ऐसे संकटके समय अगर हम खादीके कामको तरक्की न दे सके तो खादीके भविष्यके लिए बहुत कम आशाकी गुंजाइश रहेगी।

बापूजीने 'खादी जगत' द्वारा हालहीमें एक योजना पेश की है। उसमें उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि सरकार बेकारोंको जितने उपाय दे सकती है उतने अवश्य दे। लेकिन सरकारी शक्ति खतम होनेपर भी अगर कुछ बाकी रह जाय तो उतने अंशमें खादीको प्रोत्साहन देना सरकारका कर्तव्य है। किसी भी सरकारको खादीका यह कार्यक्षेत्र प्रायः मंजूर करना पड़ेगा।

लेकिन इस योजनाका स्वरूप तो ऐसा है कि मानो जहां हम प्रवेश नहीं पा सकते वहां धीरे-से अपनी पोटली रख देते हैं। हमारे घरपर कब्जा करनेवालोंसे हम कहते हैं "भैया मकान तेरा ही सही। लेकिन तेरा यह ख्याल गलत है कि मकान बिल्कुल भर गया है। यह देखो उस कोनेमें थोड़ी-सी जगह खाली है। मेरी यह पोटली वहां पड़ी रहने दो।" हमारा यह आक्रमण मनुष्यमें अपेक्षित न्यूनतम सद्गुणानुसार होता है, इसलिए उसका परिणाम अवश्य होता ही है।

परन्तु इस प्रकार की मकान-नीति वाली खादीकी बुनियाद नहीं हो सकती। आज जिस तरह खादीका उत्पादन और बिक्री हो रही है, वह भी उसकी बुनियाद नहीं है। खादीकी इमारतका वह एक भाग जरूर है। खादीकी अंतिम योजनामें भी उत्पत्ति-बिक्रीका स्थान रहेगा और आजसे कहीं अधिक रहेगा। लेकिन वह खादीकी संपूर्ण योजनाका एक अंशमात्र है।

इसी तरह आज जगह-जगह जो वस्त्र-स्वावलंबन जारी है उसमें खासी इस आश्रममें चार वस्त्र स्वावलंबी आश्रमी हैं, उस तहसीलमें सौ-दो सौ हैं, इसी प्रकार दूसरे गांवोंमें भी वस्त्र-स्वावलंबन शुरू करते रहनेसे भी हमारा

मुख्य काम नहीं होता। यह तो चौराहोंपर जगह-जगह म्युनिसिपैलिटीकी बत्तियां लगानेके समान है। इन बत्तियोंका भी उपयोग तो है ही। उनके कारण चारों तरफका वातावरण प्रकाशित रहेगा। लेकिन चौककी बत्तियां घरके चिरागका काम नहीं देतीं। इसलिए यह इस तरह बिखरा हुआ वस्त्र-स्वावलंबन भी खादीका मुख्य कार्य नहीं है।

खादीकी नीति तो यह है कि किसान जैसे अपने खेतमें अनाज उपजाता है उसी तरह वह अपना कपड़ा अपने घरमें बनावे। शायद शुरूमें ही हम इस तरह काम न कर सकते। इसलिए हमने खादीका काम दूसरे ढंगसे शुरू किया। लेकिन यह भी अच्छा ही हुआ। इससे खादीको गति मिली और लोगोंको थोड़ी-बहुत खादी हम दे सके।

लेकिन अब तो लोगोंकी खादीकी मांग बढ़ेगी। शायद तरीकेसे हम उसे पूरा नहीं कर सकेंगे। ऐसी स्थितिमें अगर हम लाचार होकर चुपचाप बैठ रहेंगे तो हम दोषी समझे जायंगे और यह दोषारोपण न्यायानुकूल ही होगा क्योंकि खादीको बीस सालका समय मिल चुका है। हिटलरने बीस वर्षोंमें एक गिरे हुए राष्ट्रको खड़ा कर दिया। उन्नीससौ अठारहमें जर्मनी की पूरी तरह हार हो गई थी और उन्नीससौ अड़तीसमें वह एक आला दर्जेका राष्ट्र बन गया। उसने भी जो कुछ ताकत कमाई, वह इन बीस बरसोंमें ही कमाई। उतने समयमें उसने दुनियाको चुप कर देनेवाली विचार और आचारकी एक प्रणालीका निर्माण किया। ये सारा प्रयोग हिंसामय या हिंसाश्रित है इसलिए उसकी स्थिरता खतरेमें है यह बात अलग है। कहना तो यही चाहता कि खादीको भी इसी प्रकार बीस वर्षतक मौका दिया गया। इतने समयमें खादी अधिक प्रगति नहीं कर सकी इसकी बड़ी वजह है। इसलिए जर्मनी या रूससे तुलना करके हम अपने तईं आशा निराश करनेकी जरूरत नहीं है। फिर भी हम सबको मौकेपर अगर हम लाचार बन जाते तो जमाना मैं यह कहता हूं खादीके लिए एक मौका दिया-कर उसमें असफल रहना पड़ेगा। लेकिन हम खादीकी मुख्य दृष्टि—जिसे अहिंसाकी आत्मनिर्भर ग्रामीण स्वावलम्बन है—ठीक ठीक समझ लें। कम से कम हिन्दुस्तानके गांवों और अहिंसाका गठबंधन अटूट समझना चाहिए।

है। ध्यान जाता है। साधारण कम-बीजन जैसे उपयोगी भले ही मान लिया जाय तो भी सबाईके जमानेकी व्यापक योजनामें वह निरुपयोगी है। मध यह दावा है कि उस धनमें उतनी शास्त्रीय पूनी नहीं बनती जितनी इस समयमत बनती है।

परन्तु इसमें यह मानी हुई बात है कि यह रमयन-बीजन या धुनाई कपासमें होनी चाहिए। आज सब जगह प्राय: सारी क्रियाओंमें रुई ही काममें लाई जाती है। अब रुईकी जगह कपासका उपयोग करना चाहिए। किसानको अपने खेतमेंसे अच्छी बड़ी-बड़ी डोडियोंवाली कपासका चयन करना चाहिए। फिर उसे सफाई-पटरी जैसे साधनसे ओट लेना चाहिए। इसमें प्राय: एक भी बिनौला नहीं बिगड़ेगा। रिसाव प्रायः छांटकर अच्छी-अच्छी डोडियां बीनेगा। इसलिए उसे अच्छा बीज मिलेगा और उसका मन समृद्ध होगा। इस प्रकार कपाससे शुरू करनेमें अनेक लाभ हैं। रुईसे शुरू करनेमें हम उन्हें गंवा देते हैं।

कातीका अर्थशास्त्र वस्तुतः इतनी पुख्ता नींवपर खड़ा है कि उसके सस्ता और शुद्ध भी नहीं सिद्ध हो सकता। लेकिन उसकी जगह बीचकी ही किसी अलग प्रक्रियाको कातीकी प्रक्रिया मान लेना कातीको नाहक बदनाम करना है।

कार्यकर्ताओंको खादी दर्शनके इस विचारपर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए। कहा जाता है कि मिलें सस्ती पड़ती हैं। हम हिसाब करके दिखा सकते हैं कि वे महंगी हैं। मिलोंमें व्यवस्थापक वर्गका जबरदस्त खर्च, धन बटोरनेकी इच्छा, आलस्य, लाभ-लेनदेन, मालिकोंका असम मुनाफा आदि बातें जानकारोंको स्पष्ट ही हैं। लेकिन फिर भी अगर सस्ती मालूम होती है तो या तो उसमें कोई जादू होना चाहिए या फिर हमारे अन्दाज गलत होने चाहिए। अन्दाज तो गलत नहीं कहे जा सकते। तो फिर अवश्य तिलस्म है। वह जादू यह है कि मिल एक विराट् मालिक रचनाकी जंजीरकी एक कड़ी है। वह कारखानामें मुख्य उद्योगके साथ-साथ उसके सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे भी पुरजे उद्योग चलाए जाते हैं। कारखाना उन उद्योगोंके लिए भी चलता। इसलिए उसके बीच बेशुमार पड़ते हैं। इन बीच उद्योगोंका सामग्री इतनी है कि उसमें प्रधान उद्योगको लाभ होता है और यह सब

मिलाकर वह कारखाना आर्थिक दृष्टिसे पुसाता है। मिलकी यही स्थिति है। वह एक समग्र विचार या कल्पनाकी कड़ी है।

मिलोंके साथ-साथ रेल आई। शांतिके समय माल लाना-ले जाना उसका प्रधान काम है। यात्रियोंको भी उससे लाभ होता है। लोगोंको सैर सफर करनेकी आदत हो जाती है। उनके विवाह-संबंध भी दूर-दूरके स्थानोंमें होने लगते हैं और इस तरह रेल उनके जीवनकी एक आवश्यकता हो जाती है। फिर उससे फायदा उठाकर मिलोंके विषयमें सस्तेपनका एक भ्रम पैदा किया जा सकता है।

मैंने रेलका उदाहरण दिया। ऐसी कई चीजें मिलकी मददके लिए उपस्थित हैं। इसलिए मिल सस्ती प्रतीत होती है। मगर सिर्फ मिलका ही विचार किया जाय तो वह बहुत महंगी होती है। यही नियम खादीके लिए भी लागू करना चाहिए। मगर अकेली खादीका ही विचार किया जाय तो वह महंगी मालूम होगी। लेकिन ऐसा अलग विचार नहीं किया जा सकता। किसी सुंदर आदमीके अवयव अलग-अलग काटकर अगर हम देखने लगें तो क्या होगा? कटी हुई नाक खूबसूरत थोड़े ही लगेगी? उसमें तो आरपार छेद दिखाई देंगे। लेकिन ऐसे पृथक् किये हुए अवयव अपनेमें सुंदर न होते हुए भी सब मिलकर शरीरको सुंदर बनाते हैं। जब हम समग्र जीवनको दृष्टिमें रखकर खादीको उसका एक अंग मानेंगे तब खादी-जीवन मिल-जीवनकी अपेक्षा कहीं सस्ता साबित होगा।

खादीमें लाने-ले जानेका सवाल ही नहीं है। वह तो जहांकी तहां होती है। वरन् यहीं व्यवस्थित रूपसे रहती है। माने व्यवस्थापकोंका काम नहीं रह जाता। नपदकी जरूरतसे ज्यादा कपास फिजूल खोई ही नहीं जायगी इसलिए कपासका भाव हमारे हाथोंमें रहेगा। चुनी हुई बौंडियां घरपर ही ओटी जायगी जिससे बोनेके लिए बढ़िया बिनौले मिलेंगे और खेती विषय सम्पन्न और प्रफुल्लित होगा। बचे हुए बिनौले बेचने नहीं पड़ेंगे। वे ढोर-गायको मिलेंगे और फलस्वरूप अच्छा दूध घी और बैल मिलेंगे। वस्त्र-स्वावलंबनके लिए आवश्यक रुई या सफाई-पटरी या उसीकी विशेषताएं रखनेवाली ओटनीपर ओट ली जायगी। यह ओटी साफ रुई आसानीसे धुनी जा सकेगी। वह धनुषसे भलीभांति धुनी जायगी और

सूत समान तथा मजबूत कत सकेगा। सूत अच्छा होनेके कारण बुननेमें सुगमता होगी। अच्छी बुनावटके कारण वह शरीरपर ज्यादा दिन टिकेगा और कपड़ा ज्यादा दिन चलनेके कारण उतने अंशमें कपासकी खेतीवाली जमीनकी बचत होगी। अब इस उत्तम तेलकी घानी आदि ग्रामोद्योग और जोड़ दीजिये और देखिये कि वह सस्ती पड़ती है कि महंगी। आप पायेंगे कि वह बिल्कुल महंगी नहीं पड़ती। जब कातनेका यह समग्र दर्शन आपकी आंखोंमें समा जायगा तो कातनेका आरम्भ उपासना। बनाना रुई धुननेमें जितनी सारी सूत होती है यह भी समझमें आ जायगा। और इसके अतिरिक्त सारा खादीकार्य ग्रामोत्थान करनेकी दृष्टि भी प्राप्त होगी।

और एक बात जिससे समग्र दर्शन और स्पष्ट होगा। यह एक स्वतंत्र विषय भी है। पांच-छः साल पहले मैं रेलमें अपना चरखा खोलकर कातने लगा। वैसे भी मेरी आंख कमजोर है उसमें फिर गाड़ीके धक्के लगते थे इसलिए धीरे-धीरे सम्भलकर कातनेपर भी थोड़ा-बहुत टूटता ही था। टूटते ही मैं अपने सिद्धान्तके अनुसार उसे फिर जोड़ देता था। मेरी बगलमें एक बैठे थे। बी. ए.-बी. ए. पास थे। बड़े ध्यानसे वे सारी बात निहार रहे थे। थोड़ी देरके बाद बोले "कुछ पूछना चाहता हूं।" "पूछिये" मैंने कहा। वह बोले "आप टूटे हुए तागोंको जोड़नेमें इतना समय खोते हैं, इससे उनको वैसे ही फेंक देना क्या आर्थिक दृष्टिसे लाभकारी नहीं होगा।" मैंने उनसे कहा "अर्थशास्त्र दो तरहका है। एक आंशिक अथवा एकांगी और दूसरा परिपूर्ण। इनमेसे एकांगी अर्थशास्त्रको छोड़कर परिपूर्ण अर्थशास्त्रकी कसौटीपर परखना ही उचित है।" वह बोले "दुरुस्त है।" तब मैंने उनसे पूछा "आप कहते हैं कि थोड़ा-सा टूटा हुआ सूत अगर फेंक दिया जाय तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन उसकी क्या मर्यादा हो? कितने फीसदी आप माफ फरमायेंगे?" उन्होंने कहा "पांच प्रतिशत तक माफ कर देनेमें हर्ज नहीं है।" तब मैंने कहा "पांच प्रतिशत क्योंकि सूत सस्ता है, फेंक देनेका क्या नतीजा होता है यह देखने लायक है। इसका यह मतलब है कि कातने वाला इस तरह भी एकड़ पचास एकड़मेंसे बैठे-बैठे पांच एकड़की उपज खो ही रहा है। मानो भी कारखानोंमेंसे पांच कारखानोंको बेकार कर

देता है। काटनेवालोंके लिए बनाई गई सौ इमारतोंमें से पाँच गिरा देता है। हिसाबकी सौ बहियोंमेंसे पाँच फाड़ देता है। इत्यादि इत्यादि।

इसके अलावा जिसने पाँच प्रतिशतका न्याय स्वीकार कर लिया उसके सभी व्यवहारोंको वह ग्रास कर लेगा। उससे होनेवाली हानि कितनी भयानक होगी यह समझना मुश्किल नहीं है। भोजनके वक्त अगर कोई थालीमें बहुत-सी जूठन छोड़कर उठ जाता है, तो हम उसे नालायक हुआ कहते हैं क्योंकि जूठन छोड़नेका यह मतलब है कि वह, किसानके बैलसे लेकर रसोई बनानेवाली मा तक सबकी मेहनतपर पानी फेर देता है। इसलिए जूठन छोड़नेसे माका नाराज होना काफी नहीं है। हल चलानेवाले बैलको चाहिए कि वह उसे एक लात मारे और किसानसे लेकर दूसरे सब एक-एक धौल जमाय।

इसीलिए हरचीज सामग्र्यकी दृष्टिसे देखनी चाहिए। इसीलिए भगवद्गीतामें ईश्वरके नामके पीछे 'असंशय समग्रम्' ये विशेषण लगाए गए हैं। हमारे खादीके आंदोलनमें समग्र-दर्शनकी बहुत जरूरत है। हम जब खादीको समग्र-दर्शनपूर्वक आगे बढ़ायेंगे तभी और केवल तभी वह व्यापक हो सकेगी। यह हमारी कसौटीका समय है।

३२

उद्योगमें ज्ञान-दृष्टि

मेरी दृष्टिसे हमारे विषयमें सबसे बड़ी जरूरत अगर किसी चीजकी है तो विज्ञानकी। हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश भले ही कहलाता हो तो भी उसका उद्धार सिर्फ खेतीके भरोसे नहीं होगा। यूरोपीय राष्ट्र उद्योग-प्रधान कहलाते हैं। हिंदुस्तानमें खेती ही प्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहाँ फी आदमी सवा एकड़ जमीन है। इसके विपरीत अमरीका जो एक उद्योग-प्रधान देश कहलाता है प्रति मनुष्य साढ़े तीन एकड़ जमीन है। इसपरसे

मालूम होगा कि हिंदुस्तानकी हालत इतनी बुरी है। इसका मतलब यह है कि हिंदुस्तानमें अकेली खेती ही होती है, और कुछ नहीं होता। अमरीका (संयुक्तराज्य) संसारका सबसे धनी देश है। उसमें खेती और उद्योग दोनों बहुत बड़े परिमाणमें चलते हैं। वह युद्ध के लिए रोज पचपन करोड़ रुपये खर्च कर रहा है। हमारे देशकी जनसंख्या चालीस करोड़ है। इसके लोगोंको हररोज भोजन देनेके लिए, यहांके हिसाब से प्रतिदिन पांच करोड़ रुपया खर्च लगेगा। अमरीका इतना धनवान देश है कि वह रोज इतना खर्च करता है कि उससे हिंदुस्तानको ग्यारह दिन भोजन दिया जा सकता है। हिंदुस्तानकी फी आदमी सालाना आमदनी खेतीसे पचास-साठ रुपये और उद्योगसे बारह रुपये है। इसलिए हिंदुस्तानको कृषि-प्रधान कहना पड़ता है। अब जरा इंग्लैंडकी तरफ नजर डालिये। वहां भी खेतीकी आमदनी यहां की ही तरह फी आदमी पचास-साठ रुपये सालाना होती है और उद्योगकी होती है पांचसौ बारह रुपये। इसपरसे आपको पता चलेगा कि हमारा देश कहां है। यह हालत बदल देनेके लिए हमारे यहांके विद्यार्थी शिक्षक और जनता सभीको उद्योगमें निपुण बन जाना चाहिए। उसके लिए उन्हें विज्ञान सीखना चाहिए।

(अ) हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला होनी चाहिए। वहां जो आदमी काम करता है, उसे किस खाद्य-पदार्थमें कितना उष्मांक कितना योग कितना स्नेह है आदि सारी बातोंकी जानकारी होनी चाहिए। उसमें यह हिसाब करनेकी सामर्थ्य होनी चाहिए कि किस ढंगके मनुष्यको किस कामके लिए कैसे आहारकी जरूरत होगी।

(आ) जीवको तो सभी जानते हैं। लेकिन स्कूलवालोंका काम इतनेसे नहीं चलेगा। 'मैग्नेशिया' क्या उपयोग होता है? सूर्यकी किरणोंका उनपर क्या असर होता है। मैला अगर खुला पड़ा रहे तो उससे क्या नुकसान है? कौनसी बीमारियां पैदा होती हैं? जमीनको अगर उसका खाद दिया जाय तो उसकी उपज कितनी बढ़ती है? —आदि सारी बातों का शास्त्रीय ज्ञान हम हासिल करना चाहिए।

(इ) कोई लड़का बीमार हो जाता है। वह क्यों बीमार हुआ? बीमारी मुफ्तमें थोड़े ही आई है! तुमने उसे गिरहसे कुछ खर्च करके बुलाया

है। प्रतिपिकी तरह उसका व्यायाम रखना चाहिए। वह क्यों आई कैसे आई, आदि पूछना चाहिए। उसकी उपयुक्त पूजा और उपचार कैसे किया जाय यह सीखना चाहिए। जब वह आ ही गई है, तब उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमें भिक्षपकी बात है। 'यह ज्ञानदाता रोम आया और गया हम कोरे-के-कोरे रह गये! यह दूसरेके साथ भले ही होता हो हमारे साथ हरगिज नहीं होना चाहिए।

(ई) तुम यहां सूत कातते हो खादी भी बना लेते हो। तुम्हें बधाई है। लेकिन खादी-क्रियाके बारेमें शास्त्रीय प्रश्नोंके जवाब यदि तुम न दे सके तो पाठशाला और उत्पत्ति-केंद्र यानी कारखानेमें फर्क ही क्या रहा? लेकिन मैं तो अपने कारखानेमें भी इस ज्ञानकी आशा रखूंगा।

मुझसे कहा गया है कि यहांके लड़के अंग्रेजी वगैराकी परीक्षामें पास होते हैं दूसरे विद्यालयोंके लड़कोंसे किसी तरह कम नहीं हैं, आदि आदि। लेकिन लड़के पास होते हैं इसमें कौनसी बड़ी बात है। हमारे लड़के क्या गोबर ही हैं? जरा विलायतके लड़कोंको इतिहास और सुबोध मराठी में सिखाकर देखिये तो? देखें कितने पास होते हैं! कई साल पहले बड़ौदा-में एक साहब आया था। उसने गीताका पूरे बीस वर्ष तक अध्ययन किया था। यों उसने अच्छा भाषण दिया परंतु वह संस्कृतके वचनोंके उच्चारण ठीक नहीं कर सका। उसने कहा—

कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्
(कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम)

बीस-बीस साल अध्ययन करनेपर भी उनका यह हाल है! हमारे यहां सैकड़ों आदमी उनकी भाषामें खूब बोल लेते हैं। लेकिन यह हमारी इस भूमिका ही गुण है हमारी धर्मनि यहां विद्याकी उपासना होती आई है। यह कोई यहांके पाठकोंका गुण नहीं है। इसलिए अपनी भाषाके ज्ञानसे संतोष नहीं मानना चाहिए। हमें आरोग्यशास्त्र रसायनशास्त्र पदार्थ विज्ञान यंत्रशास्त्र आदि शास्त्र सीखने चाहिए। शास्त्रों और विज्ञानोंकी इस नामिकावली देखकर आप घबराइये नहीं। आप उन्हें उद्योगके साथ बड़ी आसानीसे सीख सकेंगे।

दो विज्ञाए सीखना आवश्यक है एक हमारे आस-पासकी चीजोंकी

परखनेकी शक्ति अर्थात् विज्ञान। और दूसरी आत्मज्ञानपूर्वक संयम करने-की शक्ति अर्थात् अध्यात्म। इसके लिए जीवन निमित्तमात्र भाषामें अक्षरज्ञ होती है। उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है। भाषा चिट्ठीरसाका काम करती है। अगर मैं चिट्ठीमें कुछ भी न लिखूं तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसा पहुंचा देगा। भाषा विचारका वाहन है। यह भी कोई कम कीमती बात नहीं है। विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है। उसीका मैं विचार करूंगा। मेरा चरखा अगर टूट गया तो क्या मैं रोता बैठूंगा? मैं बढ़ईके पास जाकर उसे सुधरवा लूंगा। इसी तरह अगर मुझे बिच्छूने डंक मारा तो मुझे रोते नहीं बैठना चाहिए। उसका उपचार करके छुट्टी पानी चाहिए। इसी प्रकार आत्माकी अभिन्नताका ज्ञान होना चाहिए। उसकी मुझे आदत हो जानी चाहिए। यही मेरी आत्माकी परीक्षा होगी। मैं भाषाका कभी विज्ञानसेभी अध्ययन नहीं करूंगा। सबकोही बोलचालसे ही मैं उसका भाषा-ज्ञान प्राप्त करूंगा।

विद्यार्थी भोजन करते हैं और दूसरे लोग भी भोजन करते हैं, लेकिन दोनोंके भोजनमें फर्क है। विद्यार्थियोंका भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा तो वह देखेगा कि उसमेंसे कितना चोकर निकलता है। आज मालूम हुआ कि सेरमें आठ तोले चोकर निकला। यानी दस प्रतिशत चोकर निकला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पड़ोसीके यहां जाकर वहांका चोकर तौलेगा। वह देखता है कि उसके आटे मेंसे ढाई तोले ही चोकर निकला है। दस प्रतिशत चोकर निकालनेमें क्या हर्ज है? इतना चोकर अगर पेटमें जाय तो नुकसान क्या होगा?—आदि प्रश्न उसके मनमें उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर भी उसे मिलने चाहिए। जब ऐसा होगा तब जैसा कि शास्त्रोंमें कहा है, उसका हरेक काम ज्ञान-साधन होगा। अगर व्यापार पाया तो वह काम दे जायगा। वह भी प्रमाद ही माना कि इस तरहका व्यापार नहीं पायगा। जहां हरेक काम इस तरह ज्ञान-दृष्टिसे किया जाता है वह पाठशाला है और जहां नहीं ज्ञान बस उत्पन्न होता है वह कारखाना है।

इस प्रकार प्रत्येक हूँ उस ज्ञान-दृष्टिसे प्रत्येक काम करनेमें थोड़ा समय ना लगेगा। लेकिन उसमें उसकी कमाई भी होगी। स्कूलमें जो चरखा

होगा वह बढ़िया होगा। चाहे जैसे करनेसे काम नहीं चलेगा। एकदम काम चाहे थोड़ा कम भले ही हो लेकिन जो कुछ काम होगा वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमेंसे जितने बिनौले निकलेंगे वे भी तौल लिये जायेंगे। रोजियामेंसे जब इतने बिनौले निकले तब दूसरे-मेंसे इतने क्यों? इस तरहका सवाल पूछा जायगा। और उसका जवाब भी दिया जायगा। बिनौला मटरके आकारका होकर भी दोनोंके वजनमें *इतना फर्क क्यों? बिनौलेमें तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है।* फिर यह देखा जायगा कि इसी तरहके दूसरे धान्य कौन-से हैं। इसके लिए तराजूकी जरूरत होगी। वह बाजारसे नहीं खरीदा जायगा। एकदम ही बनाया जायगा। जब हम यह सब करनेका विचार करेंगे तभीसे विज्ञान शुरू हो जायगा। हरेक काम अगर इस ढंगसे किया जाय तो वह कितना मनोरंजक होगा? फिर उसे कौन भूलेगा। अकबर किस सन्‌में मरा यह रटनेकी क्या जरूरत है? वह तो मर गया लेकिन हमारी छातीपर *क्या सवार हुआ? मैं इतिहास रटनेको नहीं पैदा हुआ हूं। मैं तो इतिहास* बनानेके लिए पैदा हुआ हूं।

ज्ञानरूपी दृष्टिसे हरेक चीज ज्ञान देनेवाली है। उदाहरणके लिए मैलेकी ही बात ले लीजिये। यह बहुत बड़ा शिक्षण देता है। मैंने तो उसके बारेमें एक श्लोक ही बना डाला है 'प्रभाते मलदर्शनम्' (सवेरे मैलेका दर्शन करो)। सवेरे मैलेके दर्शनसे मनुष्यको अपने स्वास्थ्य की स्थितिका पता चलता है। मैलेमें अगर मूंगफलीके टुकड़े हों तो न चबाकर पिसे बिन *किये हुए अत्याचार तथा अपचनका ज्ञान और भान करायेंगे।* उसके अनुसार हम अपने आहार विहारमें फर्क कर लेंगे। आप चाहे कितनी ही सावधानी और सफाईसे रहिये आखिर मैला तो मैला ही रहेगा। सवेरे उसके अवलोकनसे वह आसक्ति कम होगी और वैराग्य पैदा होगा। मा बालकोंमें जिस तरह पखाने कराने लगती है उसमें कोई भी घृणा नहीं रखती उसी तरह हम भी बड़ी सावधानीसे भूरी मिट्टीसे अगर मैलेको ढक दें और यथासमय उसे खेतमें फैला दें तो वही मैला हमारी लक्ष्मीको बढ़ायेगा।

इसी तरह पाठ्यक्रमका प्रत्येक काम ज्ञानदायी और व्यवस्थित होगा।

लड़का बैठेगा तो सीधा बैठेगा। अगर मकानका मुख्य खम्भा ही झुक जाय तो क्या वह मकान खड़ा रह सकेगा? नहीं। उसी तरह हम भी अपने मेरुदण्डको हमेशा सीधा रखना चाहिए। पाठशालाओंमें यदि इस प्रकारसे काम होगा तो देखते-देखते राष्ट्रकी कायापलट हो जायगी। उसका मुख-तेज प्रखर हो जायगा, उसमें कामकी प्रभा फैलेगी।

स्कूलमें होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञानका साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्कूलको सजाना होगा। अच्छे अच्छे साधन जुटाने होंगे। श्रीरामदास स्वामीने कहा है 'देवताका वैभव बढ़ाओ।' लोगोंको अपने घर सजानेके बदले पाठशाला सजानेका शौक होना चाहिए। उन्हें पाठशालाकी आवश्यक चीज उपलब्ध करा देनी चाहिए। लेकिन इतना ही बस नहीं है। धनवान आदमी मिल जाता है और कहता है, 'मैंने इस शालाको इतनी सहायता दी।' लेकिन अपने लड़कोंको किस स्कूलमें भेजता है?— सरकारी स्कूलमें। सो क्यों? अगर आप राष्ट्रीय पाठशालाओंको सबके योग्य मानते हैं तो उन्हें सब तरहसे सम्पन्न और सुशोभित करके अपने लड़कोंको वहीं क्यों नहीं भेजते?

लड़के राष्ट्रके धन हैं। लेकिन उनके भोजनमें न दूध है, न घी! फी लड़केका मासिक भोजन-खर्च ढाई रुपये है! इसे क्या कहा जाय? हम सारे राष्ट्रकी अवस्थाको भूल नहीं सकते यह तो माना। लेकिन फिर भी इतना कम-से-कम जरूरी है, उतना तो मिलना ही चाहिए। पिछले दिनोंमें यह शिकायत थी कि जेलमें कैदियोंको उचित खुराक नहीं मिलती, दूध नहीं मिलता। गांधीजीकी सूचनासे बाहरके डाक्टरोंने यह तय किया कि निरामिषभोजी व्यक्तिके लिए कम-से-कम कितने दूधकी जरूरत है। उनके नियमके अनुसार हरेक व्यक्तिको कम-से-कम तीस तोले दूध मिलना चाहिए और सरकार अगर कैदियोंको रखती है तो उसे उनकी कम-से-कम आवश्यकता पूरी करनी ही चाहिए। लेकिन अगर हम अपने विद्यालयोंमें ही इस नियमपर अमल नहीं करेंगे तो सरकारसे आशा करना कहांतक शोभा देगा? लड़कोंको दूध मिलना ही चाहिए। इसी प्रकार फल मिलना ही चाहिए वरना उनमें तेज नहीं पैदा होगा।

३४

गो-सेवाका रहस्य

गो-सेवाका प्रथम पाठ हमें वैदिक ऋषि-मुनियोंने सिखाया और समझाया है। कुछ लोगोंका कहना है कि गो-सेवाका पाठ पढ़ाकर ऋषियोंने हममें अनुचित पूजाके भाव पैदा किये हैं। ऐसी पशु-पूजा वैज्ञानिक नहीं है। वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। जिस तरह हम उपयोग की दृष्टिसे विचार करते हैं, उसी तरह सीधे उपयोगकी दृष्टिसे ऋषि-मुनियोंनेभी विचार किया। उसी दृष्टिसे उन्होंने बतलाया है कि हिंदुस्तानके लिए गो-सेवा मुफीद है। इसलिए वही धर्म हो सकता है। तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम गायका जितना हो सकता हो उतना उपयोग करें। वेदका वचन है—

सहस्रधारा पयसा मही गौः।

ऐसी गाय जिससे कि हजार धाराएं रोज पैदा होती हों। आप समझ सकते हैं कि दूधकी एक धारा कितनी होती है। हिसाब करनेपर मालूम होगा कि वैदिक गायका दूध चालीस-पचास रतल होता था। इसपरसे आप समझ लेंगे कि उनकी नस्ल क्या थी और गायोंसे वे क्या अपेक्षा रखते थे। आजकल गायका दूध नहीं मिलता ऐसी शिकायतें आती हैं। वैदिक ऋषियोंने गो-सेवाकी विद्या भी बतलाई है।

अक्सर सुना जाता है कि दूध तो गायमें ज्यों-त्यों मिल सकता है, परन्तु बैलके लिए तो भैंसकी तरफ देखनी पड़ेगी। लेकिन हमारे प्राचीन वैदिक ऋषि यह नहीं मानते। वे कहते हैं—

यूयं गावो मेदयथा कृशं चित्।

हे गायो! जिसका शरीर (स्नेहके अभावसे) सूख गया हो उसे तुम अपने मेदसे भर देती हो। यहाँ मेदयथा यानी मेदवती हो' का इस्तेमाल किया गया है। मेद कहते हैं चरबीको, स्नेहको जिसे हम 'फैट' कहते हैं। इसका मतलब यह है कि दुबले-पतलेको मोटा-ताजा बनाने लायक चरबी गायके दूधमें पर्याप्त मात्रामें होनी चाहिए और अगर आज गायके दूधमें

घीकी मात्रा कम मालूम होती है तो उसे बढ़ाना हमारा काम है। वह कसर गायकी नहीं, बल्कि हमारी कोशिशकी है।

उसकी पुष्टिमें वेदमें गायका वर्णन यों किया है—

अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।

जो शरीर अ-श्रीर है उसे आप श्रीर बनाती है। 'श्रीर' का अर्थ शोभन है और 'अश्रीर' का अर्थ 'शोभाहीन'। 'अश्रीर' से ही 'अश्लील' शब्द बना है। इसपरसे आप समझें कि हमको गो-सेवाका पहला पाठ वैदिक ऋषियोंने पढ़ाया है, उसके विकास की दिशा भी बतला दी है और वह दिशा अनुचित भावनाकी नहीं, बल्कि शुद्ध वैज्ञानिकताकी है। यानी परम उपयोगिताकी है।

सेवामें मतलब उपयोगहीन सेवा नहीं है। उपयोगके साथ-साथ उपयोगी जानवरकी यथासंभव अधिक-से-अधिक सेवा करना ही उसका अर्थ है। उसका यह भाव है कि उपयोगी जानवरको हम अधिकाधिक उपयोगी बनाना है और इसी तरह हम उसकी अधिक-से अधिक सेवा कर सकते हैं जैसाकि हम परम धाम बन्धनाक विषयमें करते हैं। इस तरह हमारे लिए सेवाका उपयोगके साथ निकट संबंध है। अब मैं जरा और साफ कर दूँ। जैसे हम उपयोगहीन सेवा नहीं कर सकते वैसे ही सेवा-हीन उपयोग भी हमें नहीं करना चाहिए। गो-सेवा [illegible] 'सेवा' शब्दका यही अर्थ है। यानी

था। इसलिए वह भी दूध नहीं पी सका होगा। निदान नामदेवने पूछा किसीने उसे मारा-पीटा तो नहीं? एक भाईने कहा 'हां मारा तो था।" नामदेवने कहा "तब तो वह इसीलिए दूध नहीं देती।" फिर नामदेव गायके पास पहुंचा उसने उसके शरीरपर हाथ फेरा उसे पुचकारा। तब गाय कुछ देरके बाद दूध देनेके लिए तैयार होगई। यह किस्सा इसलिए कहा कि हमें समझना चाहिए कि जब हम नामदेवकी तरह सेवा करेंगे तो उसीमेंसे गो-सेवाका रहस्य हाथ आयेगा और स्पष्ट हो जायगा और गो-सेवाका शास्त्र बनेगा।

कालिदासने जो कि हिंदू संस्कृतिका अप्रतिम प्रतिनिधि है हमारे सामने उस सेवाका कितना सुन्दर आदर्श पेश किया है! महाराज दिलीप ऋषिके आश्रममें रहनेको जाता है। यद्यपि उसे गायकी सेवाका काम करना है क्योंकि आश्रममें कोई बिना सेवाके रह ही नहीं सकता। आश्रम तो सेवाकी ही भूमि है। हां तो वह गो-सेवाका काम कितनी लगनसे करता है? उसकी कैसी सेवा-टहल करता है? उसके पीछे-पीछे कैसे रहता है?—इसका चित्र रघुवंशमें एक श्लोकमें यों खींचा है—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां
निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥

शरीरकी छायाकी नाईं राजा गायका अनुचर बन गया था। जब वह गाय खड़ी होती थी तब वह भी खड़ा हो जाता था। जब वह चलती तो वह भी चलता वह बैठ जाती तब वह बैठता वह पानी पीती तभी वह भी पानी पीता गायको खिला-पिलाके बिना खुद नहीं खाता-पीता था।

गाय एक उदार प्राणी है। वह हमारी सेवा और प्रेमको पहचानती है और अधिक-से अधिक लाभ देनेके लिए तैयार रहती है। 'सेवा' शब्दका शोषण करके अब यह दूध मालिकके सामने रख दिया है। एक तो हम बिना उपयोगके किसीकी सेवा नहीं कर सकते और दूसरे सेवा किये बिना यदि हम उपयोग करेंगे तो वह भी गुनाह होगा। हमें यह हर्गिज नहीं करना है।

अब एक बात और। गाय और बैलके विषयमें बहुत-कुछ कहा गया है।

दोनों मनुष्योंको दूध देनेवाले जानवर हैं। दोनोंमें कोई मौलिक विरोध तो नहीं होना चाहिए। फिर भी हम गायका ही दूध बरतनेकी प्रतिज्ञा लेते हैं तो उसका तत्त्व हम लोगोंको जान लेना चाहिए। हिंदुस्तानका कृषि-देवता बैल है। और यह तो सब जानते ही हैं कि हिंदुस्तान कृषि प्रधान देश है। बैल तो हमें गायके द्वारा ही मिलता है। यही गायकी विशेषता है। उसके साथ-साथ गायकी अन्य उपयोगिता हम जितनी बढ़ा सकते हैं जरूर बढ़ावें। लेकिन उसका मुख्य उपयोग तो बैलकी जननीके नाते है। बिना बैलके हमारी खेती नहीं होगी। इसलिए हमें गायकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए और उसकी सार-संभाल करनी चाहिए। ऐसा अगर हम नहीं करते तो हिंदुस्तानकी खेतीका भारी नुकसान करते हैं। जब हम इस दृष्टिसे सोचते हैं तो भैंसका मामला सुलझ जाता है और यह सहज ही समझमें आ जाता है कि गायको ही प्रोत्साहन देना हमारा प्रथम कर्तव्य हो जाता है।

मुझे याद आता है एक दफा मेरे एक मित्रने उनके प्रांतमें अकालके समय जानवर किस क्रमसे मरे उसका हाल सुनाया था। उन्होंने कहा सबसे पहले भैंसा मरता है क्योंकि हम भैंसेकी उपेक्षा करके उसे मार डालते या मरने देते हैं। बल्कि बाजारमें भैंसें ऐसी अवस्थामें लाई जाती हैं जबकि वे एक-दो दिनमें ही ब्यानेवाली होती हैं। हेतु यह होता है कि लोग उन्हें तुरंत खरीद लें। एक बार एक आदमी ऐसी एक भैंस बाजारको ला रहा था। उसी समय मनोहरजी जोकि उन दिनों देशी रियासतमें महारोगी सेवा-मंडल द्वारा महारोगियोंकी सेवा करते थे उस ओर थे। रास्तेमें ही वह भैंस ब्यायी—पुत्र जन्म हो गया। लेकिन उस आदमीको उस पुत्रजन्मसे बड़ी झुंझलाहट हुई! उसने सोचा यह पुत्र कैसा? वह तो एक बला आ गई! मनुष्यको तो पुत्र जन्मसे आनंद होता है लेकिन भैंसके पुत्रको वह सहन नहीं करता। उसने उस पुत्रको वहीं छोड़ दिया और भैंस को ले जाकर बाजारमें बेच दिया और जो पुत्र पैदा हुआ था वह पीछे रास्ते पर पड़ा रहा। बेचारा भैंस-पुत्र वहीं पड़ा रहा। मनोहरजी बड़े दयालु ठहरे। सोचने लगे कि अब इसका क्या किया जाय? जिस कैंपमें वह रहते थे उस कैंपके मालिकके पास गये और उनसे कहा "भैंसा रखोगे?" मालिकने कहा "यह क्या काम आयेगा? मैं उसको कैसे रखूं?" आखिर उसका नतीजा ही

क्या है ? मैं उसकी परवरिश क्यों करूं ? उसको आखिर कसाईके यहां कत्ल होनेके लिए ही बेचना होगा। इसके सिवा और दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

मैंने यह एक निरर्थक घटना आपके सामने रखी। तो, सबसे पहले बेचारा भैंसा मरता है। फिर उसके बाद गाय मरती है। उसके पश्चात भैंस मरती है और सबसे आखिरमें बैल। बैल सबसे उपयोगी है और इसी-लिए उसकी हिफाजत करनेकी विशेष कोशिश की जाती है। लोग किसी-न-किसी तरह उसको खिलाते रहते हैं और उसे जिलानेकी कोशिश करते हैं। यह तो हुई उपयोगिताकी बात। बैल इनसब जानवरोंमें सबसे ज्यादा उपयोगी तो साबित हुआ। लेकिन सवाल यह है कि गायकी सेवाके बिना अच्छे बैल कहांसे आयेंगे ? हिन्दुस्तानका आदमी बैल तो चाहता है लेकिन गायकी सेवा करना नहीं चाहता। वह उसे धार्मिक दृष्टिसे पूजनेका स्वांग रचता है। दूधके लिए भैंसकी कद्र करता है। भैंस और गाय दोनोंका पालन हिन्दुस्तानके लिए आज बड़ी मुश्किल बात हो गई है।

लेकिन हम यह समझ लेना चाहिए कि गो-सेवामें गायकी ही सेवाको महत्व देना पड़ता है। बापूने कहा कि अगर हम गायको बचा लेंगे तो भैंस-का भी मामला तय हो जायगा। इसका पूर्ण दर्शन तो अभी मुझे भी नहीं हुआ है और शायद उसकी अभी जरूरत भी नहीं है।

गाय और भैंसको एक-दूसरेका विरोधी माननेकी जरूरत नहीं है। लेकिन हम तो गो-सेवासे आरम्भ कर देना है और वही हो भी सकता है। हमें समझना चाहिए कि आज हम दरअसल भैंसकी सेवा भी नहीं करते। आज हम जो भैंसकी सेवा करते हैं, वह दरअसल न तो गो-सेवा है और न भैंसकी सेवा ही है। हम उसमें केवल अपना स्वार्थ देखते हैं। हम भैंसका केवल सेवाहीन उपयोग करते हैं। जिस प्रकार उपयोग-हीन सेवा हम नहीं कर सकते उसी प्रकार सेवा-हीन उपयोग भी हमें नहीं करना है।

जैसाकि मैं बता चुका हूं आज भैंसेकी हर तरहसे उपेक्षा की जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि हिंदुस्तानके कुछ भागोंमें भैंसेका उपयोग भले ही किया जाता हो लेकिन साधारणतः हिंदुस्तानकी गरम हवामें भैंसा ज्यादा उपयोगी नहीं हो सकता भैंसका हम केवल लोभसे पालन कर रहे हैं। नागपुर-बरारमें

अफ्रिकामें गर्मीका मान एकसौ पाँच अंशतक चला जाता है। खासकर उन दिनोंमें भैंसको पानी जरूर चाहिए। मगर यहाँ तो पानीकी कमी है। पानीके बगैर उसको बेहद तकलीफ होती है क्योंकि भैंस पूरी तरह जमीनका जानवर नहीं है। वह आधा जमीनका और आधा पानीका प्राणी है। गाय तो पूरी तरह थलचर है। और अक्सर देखा जाता है कि जो पानीवाला जानवर हो उसके शरीरमें भगवान्ने चरबीकी अधिकता रखी है, क्योंकि ठंड और पानीसे बचनेके लिए उसकी उसे जरूरत होती है। मछलीके शरीरमें स्नेह भरा हुआ रहता है। पानीके बाहर निकालते ही वह धूपकी तापसे मर जाती है। वैसी ही कुछ-कुछ हालत भैंसकी भी है। उसे धूप बरदाश्त नहीं होती। इसीलिए लोग गर्मीके दिनोंमें जमीनके अनुभवका उसकी पीठपर लेप करते हैं ताकि कुछ ठंडक रहे। वे जानते हैं कि उस जानवरको उस समय कितनी तकलीफ होती है। देहातोंमें जाकर आप लोगोंसे पूछेंगे कि आपके गांवमें कितनी भैंस और कितने पाड़े हैं तो वे कहेंगे कि भैंसें हैं करीब सौ-डेढसौ और पाड़े हैं कुल दस या बहुत तो बीस। मगर हम उनसे पूछने कि इन स्त्री-पुरुषों या नर-मादाओंकी संख्यामें इतनी विषमता क्यों है तो हमारे देहातोंके लोग जवाब देंगे "क्या करें? भगवान्की करतूत ही ऐसी है कि भैंसा ज्यादा दिन जीता ही नहीं। आखिर यहाँ भी भगवान्की करतूत आ ही गई! यह हमारे बुद्धिनाशका लक्षण है। हम उसकी तकलीफका ध्यान न रखते हुए भैंसका उपयोग करते हैं कि वे जिन्दा ही नहीं रहते और नहीं रहेंगे। मतलब हम भैंसकी सेवा करते हैं ऐसी बात नहीं है। उलटे हम सिर्फ भैंसका उपभोग ही करते हैं। बाकी उसकी सेवा कुछ भी नहीं करते। इसलिए आपकी समझमें आ गया होगा कि सेवा-संघकी स्थापना हम किसलिए करते हैं।

अब लोग पूछते हैं 'हिंदुस्तान एक कृषि-प्रधान देश है, इसलिए खेतीके वास्ते बैल चाहिए और बैल चाहिए तो गाय भी चाहिए, इत्यादि विचार अभी तो ठीक है मगर क्या हिंदुस्तानका यही एक अर्थशास्त्र हो सकता है? क्या दूसरा कोई अर्थशास्त्र ही नहीं हो सकता? समय आनेपर हम खेतीका काम ट्रैक्टरसे क्यों न करें?

उसके जवाबमें मैं यह पूछता हूँ कि ट्रैक्टर चलायेंगे तो बैलका क्या

होगा ? जवाब मिलता है "बैलको हिंदुस्तानके लोग खा जायं। हिंदुस्तानके लोग दूसरे कई जानवरोंका मांस बराबर खाते हैं। उसी तरह बैलका मांस भी खा सकते हैं। यह रास्ता क्यों न अपना लिया जाय?" इस तरह जब बैलोंके खा जानेकी व्यवस्था होगी तभी ट्रैक्टर द्वारा जमीनको जोतनेकी योजना हो सकती है। कहा जाता है कि बैलों का अगर हिंदू नहीं खायंगे तो गैर-हिंदू खायं। आज भी हिंदू गायको बेचते ही हैं। खुद तो कसाईसे पैसा लेते हैं और गो-हत्याका पाप उसे दे देते हैं। ऐसी सुंदर धार्मिक व्यवस्था उन्होंने अपने लिए बना ली है? यह कहता है कि अगर मैं कसाईको गाय मुफ्तमें देता तो गो-हत्याके पापका भागी होता। लेकिन मैं तो उसे बेच देता हूं—इसलिए पापका हिस्सेदार नहीं बनता। उस व्यवस्थाको आगे बढ़ायंगे तो सब ठीक हो जायगा। हम भैंससे दूध लेंगे बैलोंको खा जायंगे और यंत्रोंके द्वारा खेती करेंगे—इस तरह दोनोंका सवाल हल हो जायगा।

इसके जवाबमें मैं आप लोगोंको यह समझाना चाहता हूं कि बैलोंको क्यों नहीं खाना चाहिए? पूर्वपक्षकी दलील यह है कि कुछ पूर्वाग्रह-दूषित (प्रेजुडिस्ड) लोग बैलका मांस ही न खायं लेकिन बाकीके तो खायंगे और हम यंत्रके द्वारा मजेसे खेती करेंगे। इस विषयमें हमारे विचार साफ होने चाहिए। मैं मानता हूं कि हिंदुस्तानकी आजकी जो हालत है और आगे उसकी जो हालत होनेवाली है उस हालतमें अगर हम मांसका प्रचार करेंगे और यंत्रसे खेती करेंगे तो हिंदुस्तान और दुनिया टिक नहीं सकेंगे। यह समझनेकी जरूरत है। हिंदुस्तानके लोग भी अगर गाय-बैल खाने लगेंगे तो कितने प्राणियोंकी जरूरत होगी? उतने बैलोंकी पैदाइश हम यहां नहीं कर सकेंगे। सिर्फ मांस या गोश्त खानेका शौक तो नहीं करना है। मांस अगर खाना है तो वह हमारे भोजनका नियमित हिस्सा होना चाहिए। तभी तो उससे अपेक्षित लाभ होगा। लेकिन हम जानते हैं कि लोग खा सकें इतने बैल पैदा नहीं हो सकते। अगर हम इस तरह करने लगे और खेती ट्रैक्टरके द्वारा होने लगी तो ट्रैक्टरका खर्च बढ़ेगा और गोश्त भी पूरा नहीं पड़ेगा और आखिरमें गाय और बैलका वंश ही नष्ट हो जायगा और उसके साथ मनुष्य भी।

यूरोप और अमरीकाकी क्या स्थिति है? दक्षिण अमरीकाके अर्जेण्टा

इसके बदस्तूर म्यूनास-मायरिसम रोज करीब-करीब दस हजार बैल कटते हैं और वहांसे मांसके पीपे दूर-दूरके देशोंमें भेजे जाते हैं। अब तो यह व्यवस्था यूरोपके कामकी नहीं रही। लेकिन बैल भी अगर यह सिलसिला जारी रहा तो आगे चलकर लोगोंको गोश्त मिलना कठिन हो जायगा। इसलिए यूरोपके डाक्टरोंने अब यह खोज की है और बहुत सोच-विचारकर निर्णय किया है—संभव है इसमें मतभेद होगा क्योंकि डाक्टरोंमें मतभेद तो हुआ ही करता है—कि मांसके मुकाबलेमें दूधमें गुण अधिक हैं। यह खोज हमारे आयुर्वेदिक वैद्यों और हकीमोंने बहुत पहले की है। मैं मानता हूं कि आज यूरोपके लोग जिस तरह मांसाहार करते हैं उसी तरह हिंदुस्तान-के लोग भी पुराने जमानेमें मांसाहार करते थे। आखिर वे इस नतीजेपर पहुंचे कि अगर हम मांसके बजाय दूधका व्यवहार करेंगे तो हम भी जिंदा रहेंगे और बलवान भी बने रहेंगे। इसलिए ट्रैक्टरका उपयोग हमारा सवाल हल नहीं कर सकता और हमें यह समझना चाहिए कि गोश्तके बजाय दूधपर भरोसा रखना सब तरहसे लाजिमी होगा।

मेरी यह भविष्यवाणी है कि जैसे-जैसे व्यवस्था बदली जायगी वैसे-वैसे दुनिया भरमें गोमांसकी महिमा कम होगी और दूधकी बढ़ेगी। पूछा जाता है कि आखिर दूध भी तो प्राणिजन्य वस्तु है? हां है तो सही। फिर इसको पवित्र क्यों माना गया? इसका जवाब अभी मैंने जो कुछ कहा उसीमें मिल सकता है। जैसाकि अभी मैंने कहा, एक समय था जब कि हिंदुस्तानमें मांसाहार ही चलता था। उस वक्त उसमेंसे बचनेके लिए क्या किया जाय, यह सवाल उत्पन्न हुआ। योगियों और वैद्योंने जब लोगोंके सामने जाकर दूधकी महिमा रखी तब दूध ऐसी चीज होगई जिसने लोगोंको मांसाहारसे छुड़ाया। इसलिए दूध पवित्र माना गया। इसके सबूत अपनेको बहुत मिल सकते हैं। ऋग्वेदमें यह वचन पाया जाता है।

गोभिष्टरेम अमतिं दुरेवां,
यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।

इस मंत्रका अर्थ मैंने इस तरह किया है—गायसे जो हम दूधके द्वारा मिल सकता है। अमति शब्दका मानी दुर्भाग्य है जानेवाली बुद्धिका प्रकाश गायकी मदद न जाननेवाली अबुद्धिका नाशके दूधके द्वारा

ही हम निवारण कर सकते हैं। इस तरहकी प्रवृत्ति मिटानेके लिए और उसमेंसे बाहर निकालनेके लिए गायका दूध हमारे काम आता है। इसीलिए गायका दूध पवित्र माना गया है। मतलब यह कि कुछ मिला कर यन्त्रवादी या ट्रैक्टरपर आधार रखनेकी बात कहते हैं, वह गलत है।

३५

भिक्षा

मनुष्यकी जीविकाके तीन प्रकार होते हैं (१) भिक्षा (२) पेशा और (३) चोरी।

भिक्षा अर्थात् समाजकी अधिक-से-अधिक सेवा करके समाजसे सिर्फ शरीर-धारण भरको कम-से-कम लेना और वह भी विनम्र होकर और उपकृत भावसे।

पेशा अर्थात् समाजकी विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला माप लेना।

चोरी अर्थात् समाजकी कम-से-कम सेवा करके या सेवा करनेका नाटक करके या बिलकुल सेवा किये बिना और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष नुकसान करके भी समाजसे ज्यादा-से-ज्यादा सोख लेना।

प्रत्यक्ष चोर-लुटेरे, खूनी और रण्डी-भडुवे ये 'स्वनामधन्य' पुलिस सैनिक हाकिम वगैरा सरकारी कामों सहायक स्वनामके बाहरके वकील वैद्य शिक्षक धर्मोपदेशक वगैरा उच्च-उद्योगी और अन्यायपरेपु व्यापार करनेवाले — ये सब तीसरे वर्गमें आते हैं।

मातृभूमिपर मेहनत करनेवाले किसान और जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी करनेवाले मजदूर, ये दूसरे वर्गमें आनेके अभिलाषी हैं पानेवाले नहीं। कारण उनकी उचित पारिश्रमिक पानेकी इच्छा होते हुए

भी तीसरे वर्गकी करतूतके कारण आज ज्ञानमय श्रमको उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता और वे निरुपाय होकर तीसरे वर्गमें दाखिल हो जाते हैं।

पहले वर्गमें दाखिल हो सकनेवाले बहुत ही थोड़े सच्ची लगनके साधु पुरुष हैं। बहुत ही थोड़े हैं पर हैं, और उन्हींके बलपर दुनिया टिकी है। वे थोड़े हैं पर उनका बल अद्भुत है।

'भिक्षावृत्तिका लोप हो रहा है उसका पुनरुद्धार होना चाहिए।" जब समर्थ यह कहते हैं तो उनका आशय इसी पहले वर्गको बढ़ाना है।

इसीको गीतामें 'यज्ञ-शिष्ट' अमृत खाना कहा है, और गीताका आश्वासन है कि यह अमृत खानेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है।

आज हिंदुस्तानमें बावन लाख 'भीख मांगनेवाले' हैं। समर्थके समयमें भी बहुत भिक्षुक थे फिर भी भिक्षा-वृत्तिका जीर्णोद्धार करनेकी जरूरत समर्थको क्यों जान पड़ी?

इसका जवाब भिक्षाकी व्याख्यामें है। बावन लाखकी भिक्षाका जो अर्थ है वह तो चोरीका ही एक प्रकार है।

भिक्षाका मतलब है अधिक-से-अधिक परिश्रम और कम-से-कम लेना। इतना भी न लिया होता पर शरीर-निर्वाह नहीं होता इसलिए उतने भरके लिए लेना पड़ता है पर हक मानकर नहीं। समाजका मुझपर यह उपकार है इस भावनासे। भिक्षामें परावलंबन नहीं है ईश्वरावलंबन है, समाजकी सद्भावनापर श्रद्धा है, नम्रतायुक्त सन्तोष है, कर्तव्यपरायणता है, फलनिरपेक्ष वृत्तिका प्रयत्न है।

साथ-साथ शरीर-मजदूरी पर सामाजिक कार्य समझना चाहिए। विशिष्ट सामाजिक कामके लिए यदि किसीको कोई निश्चित रकम दी जाय तो उस रकमका विनियोग उचित रीतिसे हिसाब रखकर, उसी कार्यके लिए वह करता है। मैं ऐसा मानता हूं इसलिए मेरा शरीरधारण कार्य भी सामाजिक कार्य है ऐसा समझकर उसके लिए मुझे, आवश्यकतानुसार समाज देता है। उस रकमका उपयोग शुद्ध उसी काममें करना चाहिए, उचित खर्च करना चाहिए उसका हिसाब रखना चाहिए, और वह हिसाब समाजकी जांचके लिए खुला रखना चाहिए। अर्थात् सब तरहसे एक नम

जैसी संचालन-व्यवस्था करेगा वैसे 'निर्मम' भावनासे मुझे अपने शरीरकी संचालन-व्यवस्था करनी चाहिए। यह भिक्षावृत्ति है।

कुछ भक्तोंको कहते सुना जाता है—अपने पैसेको हम चाहे जैसे खर्च करें, सामाजिक पैसेका हिसाब ठीक रखेंगे, साथियोंको दिखायेंगे, उनमें आलोचना चाहेंगे, उन्हें होगा तो उत्तर देंगे, नहीं तो क्षमा मांगेंगे। पर हमारे अपने पैसेका हिसाब ठीक रखनेको हम बंधे नहीं हैं, और दिखानेकी तो बात ही नहीं। यदि सचाईसे समाजसेवा करनेवाला कोई आदमी यह कहे तो उसकी सेवा 'पेशा' बन गई। पेशा ईमानदार सही, पर है 'पेशा', भिक्षावृत्ति नहीं।

भिक्षा कहती है—'तेरा' पैसा कैसा? जैसे खादीके कामके लिए खादीका खाता मानकर तुझे पैसा सौंपा गया, उसी तरह तेरे शरीरके कामके लिए तुझे उसका खाता समझकर, पैसा दिया गया। खादीके लिए दिया हुआ पैसा जब तेरा नहीं है, तब तेरे शरीरके लिए दिया हुआ पैसा तेरा कैसे हुआ? दोनों काम सामाजिक ही हैं।

एक खादी प्रचारकसे पूछा गया, "तुम्हें कितनेकी जरूरत है?"

"तीस रुपये महीनेकी।"

"तुम तो अकेले हो। फिर इतनेकी जरूरत क्यों है?"

"दो-तीन गरीब विद्यार्थियोंको मदद देता हूं।"

"हम यह मान लेते हैं कि गरीब विद्यार्थियोंको इस तरह मदद देना अनुचित नहीं है। पर मान लो कि खादीके कामके लिए तुम्हें पैसे दिए गए तो उसमेंसे राष्ट्रीय शिक्षणके काममें लगाओगे क्या?"

"ऐसा तो नहीं किया जा सकता।"

"तब तुम्हारे शरीरका पोषण जो एक सामाजिक काम है उसके लिए तुम्हें दी गई रकममेंसे गरीब विद्यार्थियोंको मदद देना, जो दूसरा सामाजिक काम है, उसे करनेका क्या मतलब?"

यह भी भिक्षा-वृत्तिका महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। भिक्षा-वृत्तिवाले मनुष्यको दानका अधिकार नहीं है। दान हो या भोग दोनोंका कर्ता 'मैं' ही हूं। और भिक्षामें 'मैं' को जगह ही नहीं है। इसीमें दाताका नहीं। न भोगका पक्ष न त्यागका पक्ष—यह भिक्षावृत्तिका मर्म है। भिक्षावृत्तिके मानी हैं, 'पर

रक्षा करना' यानी जिम्मेदारी सिरपर लेना। भिक्षा गैरजिम्मेदारी नहीं है।

भिक्षा मांगनेके मानी है, 'मांगना छोड़ देना'। बाइबिलने कहा है, 'मांगो तो मिल जायगा'। उसका मतलब है भगवानसे मांगो तो मिलेगा। पर समाजसे 'मांगो मत' तो मिलेगा।

'भिक्षा मांगना' ये शब्द विरुद्धार्थी हैं। कारण भिक्षाके मानी ही है न मांगना। 'भिक्षा मांगना' शब्द पुनरुक्त है क्योंकि भिक्षा ही स्वतः सिद्ध मांगना है। भिक्षा मांगनी नहीं पड़ती। कर्तव्यकी मजदूरीसे अधिकार पड़े ही हैं।

२६

युवकोंसे

तुम्हारे खेल देखकर प्रसन्न हुआ। देशका भविष्य तुम बाल-गोपालोंके हाथमें है। तुमने जो खेल दिखाये हैं वह किसलिए हैं? शक्ति प्राप्त करनेके लिए है। शक्ति किसलिए। गरीब लोगोंकी रक्षाके लिए। इसलिए कि गरीबोंके लिए हम उपयोगी हो सकें। शरीर निखारनेके लिए उसको कमाना है। शस्त्रको धार किसलिए लगाई जाती है? इसलिए नहीं कि वह पड़ा-पड़ा जंग खा जाय बल्कि इसलिए कि वह काम आ सके। शरीरमें धार लगानी है उसे फुर्तीला चपल और मजबूत बनाना है। उद्देश्य यह है कि आगे चलकर हम हनुमानके समान सिद्ध हों। बल सेवाके लिए है।

गीतामें श्रीभगवानने कहा है, 'बलं बलवतामस्मि कामराग-विवर्जितम्।' (बलवानोंमें मैं वैराग्य-युक्त निष्काम बल हूं।) शब्दोंपर खूब ध्यान दो। सिर्फ 'बल' नहीं कहा। वैराग्य युक्त निष्काम बल। इस वैराग्य युक्त निष्काम बलकी ही मूर्ति हम व्यायामशालाओंमें रखा करते हैं। वह कौन-सी मूर्ति है—हनुमानजीकी पवित्र और सामर्थ्यवान् मूर्ति।

हनुमानजी वैराग्य-युक्त निष्काम बलके पुतले थे। इसलिए वाल्मीकिने उनके स्तुति-स्तोत्र गाये। रावण भी बड़ा बलवान था। लेकिन रावणमें वैराग्य नहीं था। रावणका बल भोगनेके लिए था दूसरोंको सतानेके लिए था। रावण पहाड़ उठाता था वज्र तोड़ डालता था बल प्रार्थियोंका बल मानो उस प्रकेसमें था। इसलिए उसके दस मुंह और बीस हाथ दिखाये गये। इतना बलवान होते हुए भी उसका सारा बल धूलमें मिल गया। हनुमानका बल अजरामर होगया। वाल्मीकिने बलकी ये दो मूर्तियां ये दो चित्र उपस्थित किये हैं। रावणके बलमें भोग-वासना थी। रावण बलके द्वारा भोग प्राप्त करना चाहता था। हनुमान बलके द्वारा सेवा करना चाहता था। सेवाको अर्पण किया हुआ बल टिकेगा अमर होगा। भोगको अर्पण किया हुआ बल अपने और संसारके नाशका कारण होगा।

समुद्रके तीरपर सारे वानर बैठे थे। लंकाम कौन जायगा इसकी चर्चा हो रही थी। हनुमान एक तरफ राम-राम जपते बैठे थे। जाम्बवत हनुमानके पास जाकर बोला "हनुमान तुम जाओगे? हनुमान बोला "आपका आशीर्वाद हो तो जाऊंगा।"

यह अकेला वानर किस शक्ति के बूते उस बलवान रावणसे निर्भय होकर चला गया? हनुमानसे जब यह सवाल पूछा तब उसने क्या यह जवाब दिया कि मैं अपने बाहुबलके जोरपर आया हूं? हनुमान बोला "मैं रामके भरोसे यहां आया हूं। मेरे बाहुओंमें जोर है या नहीं यह मुझे नहीं मालूम परन्तु रावणका बल अवश्य मेरे पास है।

और जरा गहराईसे सोचो तो बाहुबलका भी क्या अर्थ है? बाहु बलके मानी हैं शारीरिक श्रम करनेकी शक्ति। रखोंके लिए न हाथ हैं। सेवाके लिए ही हम इन्सान हैं। अभुक हाथ नहीं हैं। भुजाओंके बलके प्रभावसे हम धर्मका निर्माण कर, सेवा करें। हमारी बजाहोंमें यह जो सेवा करनेकी शक्ति है वह किसकी शक्ति है? हनुमान जानता था कि वह भगवानकी शक्ति है रामकी शक्ति है।

जिस बलमें भगवान भरा न हो रामम भरा न हो वह बल निकम्मा होता है। जिसने रामका बल पहचान लिया वह धर्मकालमें भी नहीं

क्या करता। शरीरबल रामके लिए है। वह सेवाके लिए है, भोगके लिए नहीं है।

दूसरी बात यह है—बुद्धिमें जो बल है, वह सूक्ष्म वस्तु है। वह केवल बल निराधार है। वह बल आत्मबलपर सुप्रतिष्ठित होना चाहिए। निर्बलों में भी आत्मबलसे बल पैदा हो जाता है। उपनिषद् यह कहते हैं कि जिसमें महात्माका बल है, वह दूसरे भी सार्वभौमको क्या करता। इसलिए आध्यात्मिक बलकी उपासना चाहिए।

हनुमान पहलवान नहीं था। हनुमानका जो स्तुतिश्लोक है उसमें दूसरे सारे बलोंका वर्णन है परन्तु शरीर-बलका उल्लेख कहीं नहीं है। यथा—

मनोजवं मारुत-तुल्य-वेगम्
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथ-मुख्यं
श्रीराम दूतं शरणं प्रपद्ये॥

—मनके समान वेगवान, वायुके समान वेगवान, जितेन्द्रिय, बुद्धिमानोंमें वरिष्ठ, पवनपुत्र, वानरोंकी सेनाके अधिपति, रामदूतकी मैं शरण जाता हूँ।

हनुमान मन और पवनके समान वेगवान थे। वह जितेन्द्रिय थे, वह अत्यन्त बुद्धिमान थे, वह नायक थे, वह रामदूत थे—इन सारी बातोंका वर्णन है। हनुमान बलका देवता है। लेकिन इस स्तुतिमें बलका जिक्र तक नहीं। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है? परन्तु ये गुण ही वास्तविक बल हैं। ये गुण ही यथार्थ कार्य-शक्ति हैं।

मनुष्यमें बल चाहिए, स्फूर्ति चाहिए, मनके समान बल चाहिए, सामने काम रखते ही उस कामको फौरन करनेकी चाहिए। जिसके पास कल्पना करनेका मात्र ही ताकतकी कमी रहा। वहीं तो मनके सवारी सुस्त है लेकिन शरीर उतना बल नहीं होता वह आलसमें लोट-पोट हो रहा है तब शरीर किस कामका? ज्ञानदेवने बड़ा सुंदर वर्णन किया है। मनका वैसा चाहिए जैसा कहा है 'आप मनाचुंहे चे दौरा'—शरीर मनके साथ साथ दौड़ता है। कोई बात मनमें आयी नहीं कि शरीर दौड़ने लग जाता है।

शरीरमें इस तरहका वेग होनेके लिए ब्रह्मचर्य चाहिए। जितेन्द्रियत्व चाहिए, इंद्रियोंपर काबू चाहिए। संयमके बिना यह बल नहीं मिल सकता। बल और संयमके साथ-साथ बुद्धि भी चाहिए, कर्म-कुशलता भी चाहिए, कल्पना-शक्ति चाहिए और और चाहिए प्रतिभा। सिर्फ फरमाबरदारी ही काफी नहीं है। इसके अलावा रामकी सेवाकी भावना चाहिए। जहां राम कहें वहां जानेके लिए दिन रात तैयार रहना चाहिए।

हिन्दुस्तानके करोड़ों दलित तुम्हारी सेवाके इच्छुक हैं। उन्हें तुम्हारी सेवाकी जरूरत है। उस सेवाके लिए तैयार रहो। वेगवान बुद्धिमान संयमी सेवाके योग्य तरुण बनो। शारीरिक बल कमाओ श्रम कमाओ। अभी मैंने इस व्यायामशालामें अलग-अलग कुश्तियां देखीं। एक कुश्ती एक हरिजन और ब्राह्मणमें हुई। मैंने उसमें समभाव पाया। अगर हम इसी समभावसे आपसमें व्यवहार करें तो समाज बलवान होगा। अगर तुम इस समभावका पोषण करोगे तो तुम जो आज यहां जो कुश्तियां लड़े उनसे कल्याण ही होगा।

अगर हम समभाव सीखते हैं? सिस्त (अनुशासन) व्यवस्थाका महत्व सीखते हैं। इन गुणोंके अलावा दूसरे भी अच्छे गुण ला सकते हैं। मेरी जमीन खोदना भी एक श्रम ही है। एक साथ कुदालियां ऊपर उठती हैं एक साथ जमीनमें घुस रही हैं—कैसा सुन्दर दृश्य दिखता। इस श्रममें सारा व्यायाम होता। उसमें बुद्धिके प्रयोगकी भी गुंजाइश है। व्यायाममें बुद्धिको भी शक्ति मिलनी चाहिए। इसलिए मेरे मतमें व्यायाम भी कुछ-न-कुछ उत्पादन करनेवाला होना चाहिए।

बहादुरके समान तुम्हारे अन्दर शक्ति और श्रम दोनों पैदा हों। जब तरुण सब शक्तियोंके साथ एकत्र होते हैं एक साथ श्रम करते हैं। इससे श्रम होता है। ये संगठन अन्दर जीवनमें उपयोगी होते हैं। हम साथ-साथ भी रहें, कुश्ती भी करें, साथ-साथ शक्ति कमाई ज्ञान कमाया होगा जिससे शक्ति न पहचानी जाय ऐसे तुम एक होगे। संगठित और बहादुर बनो।

तुम समझदार (अहिंसक) पक्के हो। इसका मतलब भी अन्दर-ही-अन्दर होता है। परन्तु तुम डरपोक कायर नहीं हो। जो कमर कसे तुम बहादुर

वे भी मुर्दार चमड़के हों, इसको सर्वथा सचेत रहना चाहिए। भूख-भूखसे ही जग मरता है। राष्ट्रमें सब तरफ भुखमरी-ही-भुखमरी हो गये हैं। सम्पत्ति लगातार बाहर जा रही है। इसकी तरफ ध्यान दो।

तुमने कसरत की। लेकिन दूध और रोटी न मिली तो कैसे काम चलेगा? अगर तुम्हें दूध चाहिए, तो गोरक्षण भी होना चाहिए। गोरक्षणके लिए गायके—मरी हुई गायके, मारी हुई गायके नहीं—चमड़ेसे बनी हुई चीज ही बरतनी चाहिए। रोटीके लिए किसानको जिलाना चाहिए। खादी खरीदकर हम उनकी थोड़ी-सी मदद करेंगे तो वे जियेंगे और हमें रोटी मिलेगी। तुम्हें अगर घरपर रोटी नहीं मिलती तो यहां आकर कितनी उछल-कूद करते? *तुम जानते हो कि घरपर रोटी तैयार है,* इसलिए यहां कूद-फांद। अन्न कूदने-फांदने की शक्ति देता है। इसलिए उपनिषद् कहता है—अन्नं वाव बलाद् भूयः (अन्न बलसे श्रेष्ठ है)। राष्ट्रमें अगर अन्न न होगा तो बल कहांसे आयेगा? पहले अन्नका इन्तजाम करोगे तब कहीं अखाड़े चलेंगे। पहले अन्नका प्रबन्ध होगा तब व्यायामका प्रबन्ध हो सकेगा।

एक बार भगवान् बुद्धका एक प्रचारक घूम रहा था। उसे एक भिखारी मिला। वह प्रचारक उसे धर्मका उपदेश देने लगा। उस भिखारीने उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया। उसमें उसका मन ही नहीं लगता था। प्रचारक नाराज हुआ। बुद्धके पास जाकर बोला, "वहां एक भिखारी बैठा है। मैं उसे इतने अच्छे अच्छे सिखावन दे रहा था तो भी वह सुनता ही नहीं।" बुद्धने कहा, "उसे मेरे पास लाओ।" वह प्रचारक उसे बुद्धके पास ले गया। भगवान बुद्धने उसकी दशा देखी। उन्होंने ताड़ लिया कि वह भिखारी तीन चार दिनोंसे भूखा है। उन्होंने उसे भरपेट खिलाया और कहा, "अब जाओ।" प्रचारकने कहा, "आपने उसे खिला तो दिया, लेकिन उपदेश कुछ भी नहीं दिया।" भगवान बुद्धने कहा, "आज इसके लिए अन्न ही उपदेश था। आज उसे अन्नकी ही सबसे ज्यादा जरूरत थी। वह उसे पहले देना चाहिए। अगर वह जीवित रहा तो कल सुनेगा।"

हमारे राष्ट्रकी आज यही दशा है। आज राष्ट्रमें अन्न ही नहीं है। रामदासके जमानेमें अन्न भरपूर था। आजकी तरह उस समय हिन्दुस्तानकी

संपत्तिका स्रोता सूझा नहीं था। इसलिए उन्होंने प्राचीन वनका उपासना का उपदेश दिया। आज देहातोंमें सिर्फ बछड़े कौन देनेसे काम नहीं चलेगा।

जब राष्ट्रमें अन्नकी उपज और गोसेवा होगी तभी राष्ट्रका संवर्धन होगा। बलवान तरुणोंको राष्ट्रमें धन्न और दूधकी अभिवृद्धि करनी चाहिए। हिंदुस्तानको फिरसे 'गोकुल' बनाना है। यह जब बनायोगे तब बनायोगे। परन्तु आज तो खादीकी पतलून पहनकर और मरे हुए—मारे हुए नहीं—जानवरके चमड़ेका पट्टा पहनकर अन्नदान और गोपालनमें हाथ बटायो।

खादी पोशाक करो। लेकिन वह पोशाक करके गरीबोंके पेट मत मारो। तुम गरीबोंके संरक्षणके लिए कवायद करोगे। लेकिन गरीब जब जीयेंगे तभी तो उनकी रक्षा करोगे न? तुम खादी परिधान करके देशके बाहर पैसे भेजोगे और इधर गरीब मरेंगे। फिर संरक्षण किसका करोगे? तुम पैसे तो विदेश भेजोगे और दूध-रोटी मांगोगे देहातियोंसे? वे तुम्हें कहांसे देंगे भैया? इसलिए खादी ही पहननी हो तो खादी खादी पहनो।

तुम्हारे गणवेष (वर्दियां) खादीके हैं, तुम्हारी संस्था में हरिजन भी आते हैं ये बातें बड़ी अच्छी हैं। लेकिन मुसलमानोंको मुमानियत क्यों? हिंदू-मुसलमानोंको एकत्र होने दो। कम-से-कम मुमानियत तो न करो। उन्हें यहां आनेकी कोशिश करो। तुम हिंदू-मुसलमान एक ही देशके हो। एक ही देशके हवा-पानी अन्न-प्रकाशपर पल रहे हो। अगर हिंदू यहांके हैं तो मुसलमान बाहरके कैसे? और अगर मुसलमान बाहरके हैं, तो हिन्दू भी बाहरके हैं। लोकमान्य कहते हैं कि हिंदू लोग उत्तर ध्रुवकी तरफसे आये। हिंदू अगर पांच-दस हजार साल पहले आये तो मुसलमान हजार साल पहले आये। परन्तु पांचसौ सालसे तो यहींके कहे जायेंगे। दोनों भारत-माताके ही लाल हैं।

सब धर्मोंके विषयमें उदार भावना रखो। जो सच्चा मातृ-भक्त है, वह सभी माताओंको पूज्य मानेगा। वह अपनी माताकी सेवा करेगा लेकिन दूसरेकी माताका अपमान नहीं करेगा। हरेक अपनी माके दूधपर पलता है।

धर्म-माताके समान हैं। मुझे मेरी धर्म-माता प्रिय है। मैं मातृपूजक हूं। इसलिए मैं दूसरेकी माताकी निंदा तो हरगिज नहीं करूंगा। उलटे उस माताका भी वंदन करूंगा।

जिसमें यह भाव पैदा होनेके लिए यथार्थ हरिभक्तिकी जरूरत है। जिसमें यथार्थ भक्ति जाग्रत होनेपर यह सब होगा। बाहर उपासना और अंदर उपासना—दोनों चाहिए। बाहर खेल चाहिए, भीतर प्रेम चाहिए। खेलके द्वारा शरीर फुर्तीला और सुगम बनाकर आत्माको सौंपना है। शरीर आत्माका हथियार है। हथियार सभी भांति उपयोगी होनेके लिए स्वच्छ चाहिए। शरीर ब्रह्मचर्यके द्वारा स्वच्छ करके आत्माके हवाले करो।

शरीर स्वच्छ रखो उसी प्रकार मनको भी प्रसन्न प्रेमल निर्मल और सम रखो। खेलजैसी बाह्य क्रियासे शरीर स्वच्छ रहेगा। उपासनासे भीतरी शरीर यानी मन निर्मल रहेगा। अंदर-बाहर शुचि बनो जैसा वह हनुमान है—बलवान् और भक्तिवान सेवाके लिए निरंतर तत्पर। तुम बच्चे नरम होते हुए भी अंदर चपल न होंगे सेवाके लिए शरीर चटसे उठता न होगा तो तुम बूढ़े ही हो। जिसके शरीरमें वेग है वह तरुण है, चाहे उसकी अवस्था बूढ़ी भी हो। हनुमान कभी बूढ़े नहीं हो सकते। वह चिर-तरुण है। चिरंजीव है।

ऐसे चिरतरुण तुम बनो। तुम दीर्घायु होकर उमरसे वृद्ध होंगे उस वक्त भी तरुण रहो। वेग बनाये रखो। बुद्धि जाग्रत रखो। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हूं कि हमारे तरुण इस प्रकार सम्यक बुद्धिसे जनताकी और उसके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करनेमें जुट जायं।

३७

गृत्समद

यह एक मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषि था। वर्तमान अहमदाबाद जिलेके असव गाँवका रहनेवाला था। गणपतिका महान् भक्त था। 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' (हम आपका जो कि समूहोंके अधिपति हैं, आवाहन करते हैं) यह सुप्रसिद्ध मन्त्र इसीका देखा हुआ है। ऋग्वेदके दस मण्डलोंमें द्वितीय मण्डल समूचा इसीका है। इस मण्डलमें तैंतालीस सूक्त हैं और मन्त्रसंख्या चारसौके ऊपर है। ऋग्वेद जगत्‌का अतिप्राचीन और पहला ग्रन्थ माना जाता है। ऋग्वेदके भी कुछ अंश प्राचीनतर हैं। इस प्राचीनतर अंशमें द्वितीय मण्डलकी गणना होती है। इसपरसे इतिहासज्ञ इस परिणामपर पहुंचे हैं कि गृत्समद करीब बीस हजार वर्ष पहले हुआ। गृत्समदका यह मण्डल सूक्तसंख्या और मन्त्र-संख्याकी निगाहसे ऋग्वेदके करीब पच्चीसवें हिस्सेके बराबर होगा।

गृत्समद हरफनमौला आदमी था। ज्ञानी भक्त और कवि तो वह था ही लेकिन इसके अलावा गणितज्ञ विज्ञान-वेत्ता कृषि-संशोधक और मजा हुआ बुनकर भी था। जीवनके छोटे-बड़े किसी भी अंगकी उपेक्षा वह सहन नहीं कर सकता था। वह हमेशा कहा करता था 'प्राये प्राये जीगीवांसः स्याम' — हम हरेक व्यवहारमें विजयी होना चाहिए। और उसके ज्वलन्त उदाहरणके कारण आसपास रहनेवाले आदमियोंमें उत्साहका जागृत वातावरण बना रहता था।

गृत्समदके जमानेमें वर्तमान गोदावरीतटका सारा भूप्रदेश जंगलोंसे भरा हुआ था। पाँच-पच्चीस मीलोंके अन्तरपर एकाध छोटी-सी बस्ती हुआ करती थी। बाकी सारा प्रदेश निर्जन। आसपासके निर्जन वनमें बसी हुई गृत्समदकी एकमात्र बड़ी बस्ती थी। इस बस्तीने संसारको कपासकी खेतीका सबसे पहला सफल प्रयोग दिया। आज तो बरार कपासका बाजार बन गया है। गृत्समदके जमानेमें बरारमें आजकी अपेक्षा वर्षाका परिमाण ज्यादा था। उतना पानी सहन करनेवाला कपासका पौधा गृत्समदने तैयार

किया और उसे एक छोटे-से प्रकोष्ठमें लगाकर उससे बस सार कपास प्राप्त किया। गृत्समदकी इस नई पैदावारको लोगोंने 'कार्पासम्' नाम दिया। क्या इसीका ही लैटिन रूप 'गोसिपियम्' हो सकता है?

उनकी बस्तीके लोग ऊन कातना-बुनना अच्छी तरह जानते थे। यह कार्य मुख्यतः स्त्रियोंके सिपुर्द था। आज बुननेका काम पुरुष करते हैं और स्त्रियां कुकड़ी भरने माड़ी लगाने आदिमें उनकी मदद करती हैं। किन्तु वैदिक कालमें बुनकरोंका एक स्वतन्त्र वर्ग नहीं बना था। खेतीकी तरह बुनना भी सभीका काम था। उस युगकी ऐसी व्यवस्था थी कि सारे पुरुष खेती करते थे और सारी स्त्रियां घरका काम-काज समाप्तकर बुनती थीं। 'सांझको सूर्य जब अपनी किरणें समेट लेता है, तब बुननेवाली भी अपना अधूरा बुना हुआ ताना समेट लेती है'—'पुनः समव्ययत् विततं वयन्ती'—इन शब्दोंमें गृत्समदने बुननेवालीके जीवन-कार्यका वर्णन किया है।

गृत्समदके प्रयोगके फलस्वरूप कपास तो मिल गया लेकिन 'कपड़ा कैसे बनाया जाय' यह महान् प्रश्न खड़ा हुआ। ऊन कातनेकी जो लकड़ी की तकली होती थी उसीपर उसने मिलकर कपासका सूत कात लिया। यद्यपि कुताई स्त्रियोंके ही सिपुर्द थी तो भी कातनेका काम तो स्त्री पुरुष बालक वृद्ध सभी किया करते थे। सूत तो निकाला लेकिन दिक्कत रही। अब उसे कोई बुने भी कैसे?

गृत्समद हिम्मत हारनेवाला व्यक्ति नहीं था। उसने खुद बुनना शुरू किया। बुननेकी कलाकी सारी प्रक्रियाओंका आद्योपान्त अभ्यास किया। ताना खूब दोष-सम्पन्न पाया। लेकिन उसमेंसे जो थोड़ा पक्का था उससे उसने 'तन्तु' बनाया। 'तन्तु' के माने वैदिक भाषामें धागा है। बाकी बचे हुए कच्चे सूतको 'ओतु' कहकर रख लिया। लेकिन माड़ी लगानेसे कटाकट तार टूटने लगे। गृत्समद गणितज्ञ होनेके कारण टूटे हुए कितने तारोंको जोड़ना पड़ा इसका हिसाब भी करता था। पहली बारके माड़ी लगानेमें टूटे हुए तारोंकी संख्या चार सहस्रोंकी (हजार) की थी। बादमें ताना करघेपर चढ़ाया गया। इसकी पहली चोटके साथ चार-पांच तार टूटे। उन्हें जोड़कर फिरसे ठोका फिरसे टूटा। इसी तरह कितने ही

इसीके बाद पहला थान बुना गया। उसके बाद सूत धीरे-धीरे सुधरता गया। लेकिन फिर भी शुरूके बारह बरसोंमें बुनाईका काम बड़ा ही कष्टकर हो गया था। मृत्समदकी आयुके ये बारह वर्ष यथार्थ तपश्चर्याके वर्ष थे। वह इतना उत्साही और तनु-बद्ध पोनु-बद्ध खोंच-बद्ध और टूट-बद्धकी बद्धमय वृत्तिसे बुनाईका काम करनेवाला होता हुआ भी जब सूत लगातार टूटने लगता था तो वह भी कभी-कभी पस्त-हिम्मत हो जाता था। ऐसे ही एक अवसरपर उसने ईश्वरकी प्रार्थना की थी 'देवा मातन्तुश्छेदि वयन्' —मेरे वस्त्र तन्तु टूटने न दे। लेकिन ऐसी गलत प्रार्थना करनेके लिए वह तुरन्त ही पछताता था। इसलिए उस प्रार्थनामें 'धियं मे' यानी 'मेरा ध्यान' ये दो शब्द मिलाकर उसे सुधार लिया। "जब मैं अपना ध्यान बुनता होऊं तो उसका तन्तु टूटने न दे"—ऐसा उस यथोचित और परिष्कृत प्रार्थनाका सुशोभित अर्थ निकला। उसका यथार्थ इस प्रकार है— मैं जो खादी बुना करता हूं वह मेरी दृष्टिसे केवल एक बाह्य क्रिया नहीं है। वह तो मेरी उपासना है। वह ध्यानयोग है। बीच बीचमें धागोंके टूटते रहनेसे मेरा ध्यान-योग भंग होने लगता है। इसका मुझे दुःख है। इसलिए यह इच्छा होती है कि धागे न टूटने चाहिए। लेकिन यह इच्छा उचित होते हुए भी प्रार्थनाका विषय नहीं हो सकती। उसके लिए सूतमें उन्नति करनी चाहिए। और वह करूंगा। लेकिन जबतक सूत कच्चा रहेगा तबतक वह टूटता तो रहेगा ही। इसलिए अब यही प्रार्थना है कि सूतके धागे-धागे भले ही टूटें, मेरे ध्यानका धागा न टूटे।

मृत्समद यद्यपि संपूर्ण वृत्ति रखनेका प्रयत्न करता हुआ भी प्रतिदिन [illegible] परिश्रमात्मक और उत्पादक कार्य करता ही रहता था। [illegible] — मैं हमेशा [illegible] भोग [illegible] हाथ न रुके।—यही उसका जीवन-सूत्र था। वह मोटे-मोटे [illegible] था इसलिए उसके बाद उसको [illegible] नाम दिया गया था। लेकिन वह अपने [illegible] यही विचार किया करता था कि "आजतक मैं कितना कपड़ा बुन चुका [illegible] हूं? और उसमें भी कितना नवीन उत्पादन कोई बन सका है?

इसी चिंतनके फलस्वरूप ही मानो एक दिन उस अद्भुत गुणाकारकी कल्पना स्फुरित हुई। गणितशास्त्रको लोक-व्यवहार-सुलभ बनानेकी दृष्टि से वह फुरसतके समय उसमें आविष्कार करता रहता था। उसके समयमें पर्वविधियोंमेंसे लोग सिर्फ जोड़ना और घटाना ही जानते थे। जिस दिन गृत्समदने गुणन-विधिका आविष्कार किया उस दिन उसके आनंदका पारावार ही नहीं रहा। उसने दोसे लेकर सौ तकके पहाड़े बनाये और फिर तो वह मानो नाचने लगा। पहाड़ रटनेवाले बालकोंको कहीं इस बातका पता लग जाय तो वे गृत्समदको बिना पत्थर मारे नहीं रहेंगे। लेकिन गृत्समदने आनंदके आवेशमें आकर इंद्रका आवाहन पहाड़ोंसे ही करना शुरू किया—"हे इंद्र! तू दो घोड़ोंके आठ घोड़ोंके और दस घोड़ोंके रथमें बैठकर आ। जल्दी-से-जल्दी आ। इसके लिए तेरी मर्जी हो तो दोके पहाड़ेके बदले दसके पहाड़ेसे काम ले। दस घोड़ोंके बीस घोड़ोंके तीस घोड़ोंके और चालीस घोड़ोंके,.. और सौ घोड़ोंके रथमें बैठकर आ।

गृत्समद चौमुखा आविष्कारक था। पौराणिकोंने उसके इस महान् आविष्कारका लेखा किया है कि चंद्रमाका गर्भकी वृद्धिपर विशेष परिणाम होता है। वैदिक मंत्रोंमें भी इसकी ध्वनि पाई जाती है। चंद्रमामें मातृ वृत्ति रम गई है और कलावान् तो वह है ही। इसलिए सूर्यकी आग्नेय प्रखर किरणोंको पचाकर और उन्हें मादकतामय सौम्य रूप देकर उस माता के हृदयमें रहनेवाले कोमल गर्भ तक उस जीवनामृतको पहुंचानेका प्रेमपूर्ण और कुशल कार्य वह कर सकता है और वह उसे निरंतर करता रहता है—यह गृत्समदका आविष्कार है।

३८

लोकमान्यके चरणोंमें

१९२० में तिलक शरीर-रूपसे हमारे बीच नहीं रहे। उस समय मैं बम्बई गया था। चार-पांच दिन पहले ही पहुंचा था, परंतु डाक्टरने कहा "अभी कोई डर नहीं है।" इसलिए मैं एक कामसे साबरमती जानेको रवाना हुआ। मैं आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊंगा कि मुझे लोकमान्यकी मृत्युका समाचार मिला। मेरे अत्यंत निकटके आत्मीय सहयोगी और मित्रकी मृत्युका जो प्रभाव हो सकता है, वही लोकमान्यके निधनका हुआ। मुझपर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिनसे जीवनमें कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानो कोई बहुत ही प्रेम करने वाला कुटुंबी चल बसा हो। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। आज दस बरस हो गये। आज फिर उनका स्मरण करता हूं। लोकमान्यके चरणोंमें अपनी यह तुच्छ श्रद्धांजलि मैं अपनी गहरी श्रद्धाके कारण चढ़ा रहा हूं।

तिलकके विषयमें जब कुछ कहने लगता हूं तो मुझसे शब्द निकालना कठिन हो जाता है। गद्गद् हो उठता हूं। साधु-संतोंका नाम लेते जो मेरी स्थिति होती है वही इस नामसे भी होती है। मैं मनके विचार भाव ही प्रकट नहीं कर सकता। उलटे भावनाको शब्दोंमें व्यक्त करना कठिन होता है। गीताका भी नाम लेते ही मेरी ऐसी स्थिति हो जाती है, मानो स्फूर्तिका संचार हो जाता है। भावनाओंकी प्रबल बाढ़ आ जाती है। वृत्ति उमड़ने लगती है परन्तु यह बखान मेरा नहीं है। बखान गीताका है। यही हाल तिलकके नामका है। मैं तुलना नहीं करता, क्योंकि तुलनामें गलत दोष आ जाते हैं, परन्तु जिनके नामके स्मरणसे ऐसी स्फूर्ति देनेकी शक्ति है उन्हींमेंसे तिलक भी हैं, मानो उनके स्मरणमें ही शक्ति संचित है। रामनामको ही देखिये। कितने यह जीवात्मा इस नामके स्मरणसे उद्धार हो गया इसकी गिनती कौन करेगा? अनेक कालोंमें अनेक ग्रंथ इतिहास पुराण — इनमेंसे किसी भी जीवपर उतना प्रभाव न हुआ होगा जितना कि

रामनामका हुआ है और हो रहा है। राज्योंका उदय हुआ और अस्त हुआ। राज्योंका विनाश हुआ और नाश हुआ। किन्तु रामनामकी सत्ता अबाधित रूपसे विद्यमान है। तुलसीदासजीने कहा है, "कहउँ नाम बड़ राम तें।" —हे राम मुझे तुमसे तेरा नाम ही अधिक प्रिय है। तेरा रूप तो उस समय के अयोध्यावासियोंने और उस जमानेके नर-नारियोंने देखा। हमारे सामने तेरा रूप नहीं लेकिन तेरा नाम है। जो महिमा तेरे नाममें है, वह तेरे रूपमें नहीं। हे राम तूने शबरी जटायु आदिका उद्धार किया। लेकिन वे तो गुणवान थे। इसमें तेरा बड़प्पन कुछ नहीं परन्तु तेरे नामने अनेक अधमजनोंका उद्धार किया यह वेद कहते हैं।

"सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद-बिदित गुनगाथ॥"

तुलसीदासजी कहते हैं रामकी महिमा गानेवाले मूढ़ हैं। रामने तो बड़े-बड़े सेवकोंका उद्धार किया। परन्तु नामने? नामने असंख्य खल-मूढ़ोंका उद्धार किया। शबरी तो महाभाग्य स्त्री थी। उसका वैराग्य और उसकी भक्ति कितनी महान् थी। वैसा ही वह जटायु था। इन श्रेष्ठ जीवोंका इन सज्जनोंका रामने उद्धार किया। कौन बड़ी बात हुई? परन्तु रामनाम तो दुर्जनोंको भी उबारता है। और बरसोंसे मुझे इसका अनुभव हो रहा है मुझसे बड़ा खल दूसरा कौन हो सकता है। मेरे समान दुष्ट मैं ही हूँ। मुझे इस विषयमें दूसरोंका मत जाननेकी जरूरत नहीं। नामसे उद्धार होता है। जिन्होंने पवित्र कर्म किये अपना शरीर परार्थमें लगाया उनके नाममें ऐसा सामर्थ्य आ जाता है।

इसीमें मनुष्यकी विशेषता है। आहार विहारादि दूसरी बातोंमें मनुष्य और पशु समान ही हैं। परन्तु जिस प्रकार मनुष्य पशु या पशुसे भी नीच बन सकता है उसी प्रकार पराक्रमसे पौरुषसे वह परमात्माके निकट भी जा सकता है। मनुष्यमें ये दोनों शक्तियाँ हैं। खूब मांस और अंडे वगैरा खाकर दूसरे प्राणियोंका भक्षण कर वह शेरके समान हृष्ट-पुष्ट भी बन सकता है या दूसरोंके लिए अपना शरीर भी फेंक सकता है। मनुष्य अपने लिए पशुओंका नाश करके पशु बन सकता है, या अनेकोंके लिए अपना बलिदान कर पवित्रात्मा भी बन सकता है। पशुकी शक्ति

मर्यादित है। उसकी बुराईकी भी मर्यादा है। लेकिन मनुष्यके पतनकी या ऊपर उठनेकी कोई सीमा नहीं है। वह पशुसे भी नीचे गिर सकता है और इतना ऊपर चढ़ सकता है कि देवता ही बन जाता है। जो गिरता है वही चढ़ भी सकता है। पशु अधिक गिर भी नहीं सकता, इसलिए चढ़ भी नहीं सकता। मनुष्य दोनों बातोंमें पराकाष्ठा कर सकता है। जिन लोगोंने अपना जीवन सारे संसारके लिए अर्पण कर दिया, उनके नाममें बहुत बड़ी पवित्रता आ जाती है। उनका नाम ही तारेके समान हमारे सम्मुख रहता है। हम नित्य तर्पण करते हुए कहते हैं 'वसिष्ठं तर्पयामि' 'भारद्वाजं तर्पयामि' 'अत्रिं तर्पयामि'। इन ऋषियोंके बारेमें हम क्या जानते हैं? क्या सात या आठसौ पन्नोंमें उनकी जीवनी लिख सकते हैं? शायद एकाध सफा भी नहीं लिख सकेंगे। लेकिन उनकी जीवनी न हो तो भी वसिष्ठ—यह नाम ही काफी है। यह नाम ही तारक है। और कुछ शेष रहे या न रहे, केवल नाम ही तारेके समान मार्ग-दर्शक होगा, प्रकाश देगा। मेरा विश्वास है कि सैकड़ों वर्षोंके बाद तिलकका नाम भी ऐसा ही पवित्र माना जायगा। उनका जीवन-चरित्र आदि बहुत-सा नहीं रहेगा, किन्तु इतिहासके आकाशमें उनका नाम तारेके समान चमकता रहेगा।

हमें महापुरुषोंके चारित्र्यका अनुसरण करना चाहिए, न कि उनके चरित्रका। दरअसल महत्त्व चारित्र्यका है। शिवाजी महाराजने छोटे-छोटे किले बनवाकर स्वराज्य प्राप्त किया। इसलिए आज यह नहीं समझना चाहिए कि उसी तरह किले बनानेसे स्वराज्य प्राप्त होगा। किन्तु जिस वृत्तिसे उन्होंने अपना जीवन बिताया और लड़ाई की वह वृत्ति व गुण हमें चाहिए। जिस वृत्तिसे शिवाजीने काम किया उस वृत्तिसे हम आज भी स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए मैंने कहा है कि उस समयका रूप हमारे कामका नहीं है, उसका भीतरी रहस्य उपयोगी है। चरित्र उपयोगी नहीं, चारित्र्य उपयोगी है। काम करते हुए उनकी जो वृत्ति थी वह हमारे लिए आवश्यक है। उनके गुणोंका स्मरण आवश्यक है। इसीलिए तो हिंदुधर्मने चरित्रका बोझ छोड़कर नाम-स्मरणपर जोर दिया। इन महान् व्यक्तियोंका सारा चरित्र दिमागमें रखनेकी कोशिश करें तो उसीके भार तले दब कर मरें। इसीलिए केवल नामोंका स्मरण करना है, चरित्रका अनुकरण नहीं।

एक कहानी मशहूर है। कुछ लड़कोंने 'साहसी यात्री' नाम की एक पुस्तक पढ़ी। फौरन यह तय किया गया कि जैसा उस पुस्तकमें लिखा है वैसा ही हम भी करें। उस पुस्तकमें बीस-पच्चीस युवक थे। ये भी बड़े उत्साहसे बीस-पच्चीस इकट्ठे हुए। पुस्तकमें लिखा था कि वे एक जंगलमें गये। फिर क्या था? ये भी एक जंगलमें पहुंचे। पुस्तकमें लिखा था उन लड़कोंको जंगलमें एक शेर मिला। अब ये बेचारे शेर कहांसे लावें? आखिर उनमें जो एक बुद्धिमान् लड़का था वह कहने लगा "भाई, हमने तो शुरूसे आखिरतक गलती ही की। हम उन लड़कोंकी नकल उतारना चाहते हैं। लेकिन यहां तो सबकुछ उलटा ही हो रहा है। वे लड़के कोई पुस्तक पढ़कर थोड़े ही निकले थे मुसाफिरी करने! हमसे तो शुरूमें ही गलती हुई।

तात्पर्य यह कि हम चरित्र की सारी घटनाओंका अनुकरण नहीं कर सकते। चरित्रका तो विस्मरण होना चाहिए। केवल गुणोंका स्मरण पर्याप्त है। इतिहास तो भूलनेके लिए ही है और लोग उसे भूल भी जाते हैं। लड़कोंके ध्यानमें यह सन-का-सन रहता भी नहीं है। इसके लिए उनपर फिजूल मार भी पड़ती है। इतिहासमें हमें सिर्फ गुण ही लेने चाहिए। जो गुण है उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए, श्रद्धापूर्वक याद रखना चाहिए। पूर्वजोंके गुणोंका श्रद्धापूर्वक स्मरण ही श्राद्ध है। यह श्राद्ध पावन होता है। आपका श्राद्ध मुझे पावन प्रतीत होता है। उसी प्रकार आपको भी प्रतीत होना होगा।

देना चाहिए। इस अवसरपर मुझे अहल्याकी कथा याद आरही है। रामायण में मुझे अहल्याकी कथा बहुत सुहाती है। रामका सारा चरित्र ही श्रेष्ठ है और उसमें यह कथा बहुत ही प्यारी है। आज भी यह बात नहीं कि हमारे अंदर राम (सत्व) न रहा हो। आज भी राम है। राम-जन्म हो चुका है चाहे उसका किसीको पता हो या न हो। परंतु आज राष्ट्र में राम है क्योंकि अन्यथा यह जो बोझा-बहुत देशका सवार दीख पड़ता है वह न दिखाई देता। महाराष्ट्र देखोंतो आज रामका अवतार हो चुका है। यह जो राम लीला हो रही है इसमें कौनसा हिस्सा लूं किस पात्रका अभिनय करूं यह मैं सोचने लगता हूं। रामकी इस लीलामें मैं क्या बनूं? लक्ष्मण बनूं? नहीं नहीं। उनकी वह जागृति वह भक्ति कहांसे लाऊं? तो क्या भरत बनूं? नहीं भरतकी कर्तव्य-दक्षता उत्तरदायित्वका बोध उनकी दयालुता और त्याग कहांसे लाऊं। हनुमानका तो नाम भी मानो रामका हृदय ही है। तो फिर भाग्में पुण्य नहीं है इसलिए क्या रावण बनूं? ऊंऽहूं। रावण भी नहीं बन सकता। रावणकी उत्कटता महत्वाकांक्षा मेरे पास कहां है? फिर मैं कौनसा स्थान लूं? किस पात्रका अभिनय करूं? क्या कोई ऐसा पात्र नहीं है, जो मैं बन सकूं? जटायु, शबरी?—ये तो सुसेवक थे। अतमें मुझे अहल्या नजर आई। अहल्या तो पत्थर बनकर बैठी थी।

सोचा मैं अहल्याका अभिनय करूं। जड़ पत्थर बनकर बैठूं। इतनेमें वह अहल्या बोल उठी "सारी रामायणमें सबसे तुच्छ जड़-मूढ़ पात्र क्या मैं ही ठहरी? अरे बुद्धिमान क्या अहल्याका पात्र सबसे निकृष्ट है? मुझमें क्या कोई योग्यता ही नहीं? अरे, रामकी यात्रामें तो अयोध्यासे लेकर रामेश्वरतक हजारों पत्थर थे उनका उद्धार क्यों नहीं हुआ? मैं कोई नालायक पत्थर नहीं हूं। मैं भी गुणी पत्थर हूं।" अहल्याकी बात मुझे जच गई। परंतु अहल्याके पत्थरमें गुण थे तो भी यह सारी महिमा केवल उस पत्थरकी नहीं। इसी प्रकार सारी महिमा रामके चरणोंकी भी नहीं। अहल्याके समान पत्थर और रामके चरणों-जैसे चरण दोनोंका संयोग चाहिए। न तो रामके चरणोंसे दूसरे पत्थरका ही उद्धार हुआ और न किसी दूसरेके चरणोंसे अहल्याका ही।

इसे मैं अहल्या राम-न्याय कहता हूं। दोनोंके मिलापसे काम होता है।

नहीं स्थान तिलकके दृष्टान्तपर अंकित होता है। तिलकका ब्राह्मणत्व महाराष्ट्रीयत्व आदि सब भूलकर सारा हिंदुस्तान उनकी पुण्य-स्मृति मानता है। इस चमत्कारमें तिलकके गुण और जनताके गुण, दोनोंका स्थान है। इस चमत्कारके दोनों कारण हैं। कुछ गुण तिलकका है और कुछ उन्हें माननेवाली साधारण जनताका। हम उन गुणोंका जरा पृथक्करण करें।

तिलकका गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया उसमें सारे भारतवर्ष का विचार किया। तिलकके प्राण बम्बईमें गिरे, इसलिए वहां उनके स्मारक मंदिर होंगे। उन्होंने मराठीमें लिखा इसलिए मराठी भाषामें उनके स्मारक होंगे। लेकिन तिलकने यहां कहीं जो कुछ किया—चाहे जिस भाषामें क्यों न किया हो वह सब भारतवर्षके लिए किया। उन्हें यह अभिमान नहीं था कि मैं ब्राह्मण हूं। मैं महाराष्ट्रका हूं। उनमें पृथक्त्वकी भावना नहीं थी। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होंने सारे भारतवर्षका विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियोंने सारे भारतवर्षका विचार किया तिलक उनमेंसे एक थे। और दूसरे जो मेरी दृष्टिके सामने आते हैं वह न्यायमूर्ति रानडे। तिलकने महाराष्ट्रको अपनी जेबमें रखा और सारे हिंदुस्तानके लिए लड़ते रहे। हिंदुस्तानके हितमें मेरे महाराष्ट्रका भी हित है इसीलिए पूनेका हित है, पूनेमें रहनेवाले मेरे परिवारका हित है और परिवारमें रहनेवाले मेरा भी हित है। हिंदुस्तानके हितका विचार करनेसे उसीमें महाराष्ट्र, पूना मेरा परिवार और मैं सबके हितका विचार आ जाता है। यह तत्त्व उन्होंने जान लिया था और उसीके अनुसार उन्होंने काम किया। ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी। जो सच्ची सेवा करना चाहता है उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थानमें करनी पड़ती। लेकिन उस मर्यादित स्थानमें रहकर भी आनेवाली सेवाके पीछे जो वृत्ति रहेगी वह विशाल व्यापक और असमर्यादित होनी चाहिए।

आसपास मर्यादित है। लेकिन उसमें मैं जिस भगवान्के दर्शन करता हूं वह सचराचरव्यापी चर अचर जड चेतन सबमें निवास करनेवाला भी है। तभी तो वह वास्तविक पूजा हो सकती है। 'जलेस्थले तथा काष्ठे विष्णुः पर्वतमूर्धनि।' उस त्रिभुवन व्यापक विष्णुको यदि वह पुजारी

बालसाममें न देखेगा तो उसकी पूजा निरा पागलपन होगी। सेवा करनेमें भी खूबी है, रहस्य है। अपने आश्रम रहकर भी मैं विश्वेश्वरकी सेवा कर सकता हूं। दूसरोंको न लूटते हुए जो सेवा की जाती है वह अनमोल हो सकती है, होती भी है।

तुकारामने अपना देहू नामक गांव नहीं छोड़ा। रामदास दस गांवोंमें विचरे और सेवा करते रहे। फिर भी दोनोंकी सेवाका फल एक है, अनंत है। यदि बुद्धि व्यापक हो तो अल्प कर्मसे भी अपार मूल्य मिलता है। सुदामा मुट्ठीभर ही तंदुल लेकर गये थे लेकिन उन तंदुलोंमें प्रचंड शक्ति थी। सुदामाकी बुद्धि व्यापक थी। बहुत बड़ा कर्म करनेपर भी कुछ अभागोंको बहुत थोड़ा फल मिलता है। लेकिन सुदामा छोटे-से कर्मसे बहुत बड़ा फल प्राप्त कर सके। जिसकी बुद्धि शुद्ध निष्पाप पवित्र तथा समत्वयुक्त है, भक्तिमय और प्रेममय है, वह थोड़ी-सी भी क्रिया करे तो भी उसका फल महान् होता है, मूल्य बहुत बड़ा होता है। यह एक महान् आध्यात्मिक सिद्धांत है। माका पत्र दो ही शब्दोंका क्यों न हो, जिसपर वह प्रभाव डालता है। वह प्रेमकी स्याहीसे पवित्रताके स्वच्छ कागजपर लिखा होता है। दूसरा कोई पोथा कितना ही सफेद कागजपर क्या न लिखा हुआ हो यदि उसके मूलमें शुद्ध बुद्धि न हो, निर्मल बुद्धि न हो, जो कुछ लिखा गया है, वह प्रेममय बना हुआ न हो तो सारा पोथा बेकार है।

परमात्माके यहां कितनी सेवा यह प्रश्न नहीं है। कैसी सेवा' यह प्रश्न है। तिलक अत्यन्त बुद्धिमान विद्वान नाना शास्त्रोंके पंडित थे इसलिए उनकी सेवा अनमोल और बहुत बड़ी है। परन्तु तिलकने जितनी कीमती सेवा की उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती भी कर सकता है। तिलककी सेवा विपुल और बहुमूल्य थी। तो भी उसका मूल्य और एक स्वच्छ सेवककी गवालेका मूल्य बराबर हो सकता है। एक गाड़ीभर ज्वार रास्तेसे जा रही हो। लेकिन उसकी कीमत मैं अपनी छोटी-सी जेबमें रख सकता हूं। दस हजारका नोट जेबमें रख सकता हूं। उसपर सरकारी मुहरभर लगी हो। आपकी सेवापर व्यापकताकी मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे पर व्यापक दृष्टि और वृत्तिसे न करे तो उसकी कीमत व्यापक दृष्टिसे की हुई थोड़ी-सी सेवाकी अपेक्षा कम हो जायगी।

व्यापक दृष्टिसे की हुई अल्प सेवा भी अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप और मैं सब कोई सेवा कर सकें इसीलिए परमात्माकी यह योजना है। चाहे जहां चाहे जो कुछ भी कीजिए पर संकुचित दृष्टिसे न कीजिये। उसमें व्यापकता भर दीजिये। यह व्यापकता आजके कार्यकर्ताओंमें कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्ता आज संकुचित दृष्टिसे काम करते हुए देख पड़ते हैं।

तिलककी दृष्टि व्यापक थी इसलिए उनके चारित्र्यमें मिठास और मार्दव है। हिंदुस्थानके ही नहीं बल्कि संसारके किसी भी समाजके वास्तविक हितका विरोध न करते हुए चाहे जहां सेवा कीजिये। चाहे वह एक गांवकी ही सेवा क्यों न हो वह अनमोल है परन्तु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइये। फिर देखिये आपके कर्मोंमें कैसी स्फूर्तिका संचार होता है। कैसी बिजलीका संचार होता है। तिलकमें यही व्यापकता थी। मैं भारतीय हूं यह भावना ही उनकी वृत्ति रही। बंगालमें आंदोलन शुरू हुआ। उन्होंने दौड़कर उसकी मदद की। बंगालका साथ देनेके लिए महाराष्ट्रको खड़ा किया। स्वदेशीका डंका बजवाया। "आज बंगाल लड़ाईके मैदान में खड़ा है तो हमें भी जाना ही चाहिए। जो बंगालका दुःख है, वह महाराष्ट्रका भी दुःख है।" ऐसी व्यापकता सार्वराष्ट्रीयता तिलकमें थी। इसीलिए पूनेके निवासी होकर भी वह हिन्दुस्तानके प्राण बन गये। सारे देशके प्रिय बने। तिलक सारे भारतवर्षके लिए पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सार्वराष्ट्रीय थी व्यापक थी।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था। वह था जनता की विशेषता। जनताका मन सब कार्यकर्ताओंमें भी है क्योंकि वे भी तो जनताके ही हैं। लेकिन उनको खुद इस बातका पता नहीं है। तिलकके पूजक साथ जनताके पूजक स्वरूप भी बनना चाहिए क्योंकि तिलक अपने-आपको जनताके प्रतिनिधि कम समझते थे। जनताके साथ जनताकी दुर्बलता बुद्धिमत्ता सब-कुछ वे अपनी ही समझते थे। वे जनताके एकरूप हो गये थे। इसलिए जनताके गरीबोंका स्वरूप तिलकके सबका स्वरूप ही है।

यह जो जनताका बल है वह हमारा बनाया हुआ नहीं है। हमारे महान पुरुषोंने विशाल दृष्टिवान पूर्वजोंकी यह देन है। यह गुण मानों

हमने अपनी माके दूधके साथ ही पिया है। उन श्रेष्ठ पूर्वजोंने हमें यह सिखाया कि मनुष्य किस प्रान्तका किस जातिका है, यह देखनेके बदले इतना ही देखो कि वह भला है या नहीं वह भारतीय है या नहीं। उन्होंने हमें यह सिखाया कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। कई लोग कहते हैं कि अंग्रेजोंने यहां आकर हमें देशाभिमान सिखलाया तब कहीं हम राष्ट्रीयतासे परिचित हुए। पर यह गलत है। एक राष्ट्रीयता की भावना अगर हमें किसीने सिखाई है तो वह हमारे पुण्यवान पूर्वजोंने। उन्हींकी कृपासे यह अनूठी देन हमें प्राप्त हुई है।

हमारे राष्ट्रपिने हमें यह सिखावन दी है कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। 'दुर्लभं बंगेषु जन्म' 'दुर्लभं गुर्जरेषु जन्म' ऐसा उन्होंने नहीं कहा। ऋषिने तो यही कहा कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। काशीमें गंगातटपर रहनेवालेको किस बातकी तड़प होती है। वह इसके लिए तड़पता है कि काशीकी गंगाकी बहंगी या कावर भरकर कब रामेश्वरको चढ़ाऊं? मानो काशी और रामेश्वर उसके मकानका आंगन और पिछवाड़ा हो। वास्तवमें तो काशी और रामेश्वरमें पन्द्रहसौ मीलका फासला है परन्तु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियोंने ऐसा वैभव दिया है कि आपका आंगन पन्द्रहसौ मीलका है। रामेश्वरमें रहनेवाला इसलिए तड़पता है कि रामेश्वरके समुद्रका जल काशी-विश्वेश्वरके मस्तकपर चढ़ाऊं। वह रामेश्वरका समुद्र-जल काशी तक ले जायगा। कावेरी और गोदावरीके जलमें नहानेवाला भी 'जय गंगे' 'हरगंगे' ही कहेगा। गंगा सिर्फ काशीमें ही नहीं यहांपर भी है। जिस बर्तनमें हम नहानेके लिए पानी लेते हैं उसे भी गंगाजल (गंगाळम) नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह। यह भारतीय भावना है।

यह भावना आध्यात्मिक नहीं किन्तु राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य 'दुर्लभं भारते जन्म' नहीं कहेगा। वह और ही कहेगा। जैसा कि तुकारामने कहा 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रया मध्यें वास। (स्वदेशो भुवनत्रयम्) उन्होंने आत्माकी मर्यादाको व्यापक बना दिया। सारे बरतावों सारे रिश्तों को तोड़कर आत्माको प्राप्त किया। तुकारामके समान महापुरुषोंने या आध्यात्मिक रंगमें रंगे हुए व अपनी आत्माको स्वतंत्र सभार करने

दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस भावनासे प्रेरित होकर छोटे पेड़-पौधोंको पारकर जो सर्वत्र विस्मयताके दर्शन कर सकें वे धन्य हैं। लोग भी समझ गये कि ये छोर विस्मयके हैं इनकी कोई सीमा नहीं है। परंतु 'भूमन भारते धर्म' की जो कल्पना ऋषियोंने की वह आध्यात्मिक नहीं राष्ट्रीय है।

वाल्मीकिने अपनी रामायणके प्रारंभिक श्लोकोंमें रामके गुणोंका वर्णन किया है। रामका गुणगान करते हुए राम कैसे थे इसका वह यों वर्णन करते हैं कि 'समुद्र इव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव'—"स्थिरता उत्तरवाले हिमालय-जैसी और गाम्भीर्य पैरोंके निकटवाले समुद्र-जैसा। देखिये कैसी विशाल उपमा है। एक सांसमें हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतकके दर्शन कराये। पांच मील ऊंचा पर्वत और पांच मील गहरा सागर एकदम दिखाये। तभी तो यह रामायण राष्ट्रीय हुई। वाल्मीकिके रोम रोममें राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था इसलिए वे सार्वराष्ट्रीय रामायण रच सके। उनकी रामायण संस्कृतमें है तो भी सबको आदरणीय है। वह जितनी महाराष्ट्रमें प्रिय है उतनी मद्रासकी तरफ केरलमें भी है। श्लोकके एक ही चरणमें उत्तर भारत और दक्षिणका समावेश कर दिया। विशाल और भव्य उपमा है।

हमसे कोई पूछे कि तुम कितने हो तो हम तुरन्त बोल उठेंगे हम पैंतीस करोड़ बहन भाई हैं। अंग्रेजसे पूछा तो वह चार करोड़ बतलायेगा। फ्रांसीसी चार करोड़ बतलायेगा। जर्मन ६ करोड़ बतलायेगा। बेलजियन [illegible] बतलायेगा। यूनानी आठ करोड़ बतलायेगा। और हम पैं-तीस करोड़। [illegible] पैंतीस करोड़का नाद सुना।

हमने भारतको एक खंड यानी देशोंका समुदाय न मानकर भारतवर्षके नामसे सारा एक ही देश माना, एक राष्ट्र माना।

उस जमानेमें यूरोपवासियोंने सारा यूरोप एक नहीं माना। उन्होंने यूरोपको एक खंड (महाद्वीप) माना। उसके छोटे-छोटे टुकड़े किये। एक एक टुकड़ेको अपना नाम दिया और एक-दूसरेसे घनघोर युद्ध किये। पिछले महासमरको ही ले लीजिये। लाखों लोग मरे। वे एक-दूसरेसे लड़े मगर आपसमें नहीं लड़े। यह कसूर उन्होंने नहीं किया। लेकिन हमने भारतको एक राष्ट्र मान लिया और हम आपसमें लड़े।

अक्सर या यूरोपीय इतिहासकार हमसे कहा करते हैं कि "तुम आपसमें लड़ते रहे, मत्स्य न्याय करते रहे।" आपसमें लड़ना बुरा है, यह तो मैं भी मानता हूं। लेकिन यह दोष स्वीकार करते हुए भी मुझे इस आरोपपर अभिमान है। हम लड़े लेकिन आपसमें। इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक हैं, यह बात इन इतिहासकारोंको भी मंजूर है। उनके आक्षेपमें ही यह स्वीकृति आयी है। कहा जाता है कि यूरोपीय राष्ट्र एक-दूसरेसे लड़े लेकिन अपने ही देशमें आपसमें नहीं। लेकिन इसमें कौन-सी बड़ाई है। एक छोटे-से मानव-समुदायको अपना राष्ट्र कहकर यह शेखी बघारना कि हमारे अंदर एकता है, आपसमें फूट नहीं है, कौन-सी बहादुरी है? मान लीजिये कि मैंने अपने राष्ट्रकी 'मेरा राष्ट्र यानी मेरा शरीर' इतनी संकुचित व्याख्या कर ली तो आपसमें कभी युद्ध ही न होगा। हां मैं ही अपने मुंहपर झटसे एक थप्पड़ जड़ दूं तो अलबत्ता लड़ाई होगी। परंतु 'मैं ही मेरा राष्ट्र हूं' ऐसी व्याख्या करके मैं अपने भाईसे या किसीसे भी लड़ूं तो वह भी आपसकी लड़ाई नहीं होगी, क्योंकि मैंने तो अपने साढ़े तीन हाथके शरीरको ही अपना राष्ट्र मान लिया है। तात्पर्य हम आपसमें लड़े यह अभियोग सही है, परंतु वह अभिमानास्पद भी है, क्योंकि इस अभियोगमें ही अभियोग लगानेवालेने यह मान लिया है कि हम एक हैं, हमारा एक ही राष्ट्र है। यूरोपके जमानेने इस कल्पनाका विनाश किया। हम उसकी शिक्षा दी गई है। इतना ही नहीं, वह हमारी रग-रगमें पैठ गई है। हम पुराने जमानेमें आपसमें लड़े तो भी यह एकराष्ट्रीयताकी भावना आज भी विद्यमान है। महाराष्ट्रने पंजाबपर, गुजरात और बंगालपर चढ़ाइयां

थी फिर भी यह एकराष्ट्रीयताकी आत्मीयताकी भावना नष्ट नहीं हुई।

जनताके इस गुणकी बदौलत तिलक सब प्रांतोंमें प्रिय और पूज्य हुए। तिलक-गांधी तो अलौकिक पुरुष हैं। सब प्रान्त उन्हें पूजेंगे ही। परन्तु राजगोपालाचार्य जमनालालजी आदि तो साधारण मनुष्य हैं। लेकिन उनकी भी सारे प्रान्तोंमें प्रतिष्ठा है। पंजाब महाराष्ट्र कर्नाटक उनका आदर करते हैं। हमें उसका पता भले ही न हो लेकिन एकराष्ट्रीयताका यह महान् गुण हमारे खूनमें ही घुल-मिल गया है। हमारे यहां एक प्रांतका नेता दूसरे प्रान्तमें जाता है लोगोंके सामने अपने विचार रखता है। क्या यूरोपमें यह कभी हो सकता है? जरा मान लीजिये मुसोलिनीको रूसमें फासिज्मपर व्याख्यान दें। लोग उस पत्थर मार-मारकर कुचल डालेंगे या फांसीपर लटका देंगे। हिटलर और मुसोलिनी जब मिलते हैं तो कैसा जबरदस्त बन्दोबस्त किया जाता है जैसी चुपचाप गुप्त रूपसे मुलाकात होती है। मानो दो खूनी आदमी किसी साजिशके लिए एक-दूसरेसे मिल रहे हैं! भिन्न भाषाओंकी दीवारें सब तरफ खड़ी करके सारे यूरोपमें द्वेष और मत्सर पैदा किया है इन लोगोंने। पर हिंदुस्तानमें ऐसी बात नहीं है। तिलक-गांधीको छोड़ दीजिये। वे लोकोत्तर पुरुष हैं। किंतु दूसरे साधारण लोगों-का भी सर्वत्र आदर होता है। लोग उनकी बातें ध्यानसे सुनते हैं। ऐसी राष्ट्रीय भावना ऋषियोंने हमें सिखाई है। समाज और जनतामें सर्वत्र इसका असर मौजूद है। अज्ञात रूपमें वह हमारी नस-नसमें विद्यमान है।

हमें इस गुणका पता नहीं था। आइये अब ज्ञानपूर्वक हम उसमें परिचय कर लें। आज तिलकका स्मरण सर्वत्र किया जायगा। उनके ब्राह्मण होते हुए भी महाराष्ट्रीय होते हुए भी सब जनता सर्वत्र उनकी पूजा करेगी क्योंकि तिलककी दृष्टि व्यापक थी। वह सारे भारतवर्षका विचार करते थे। वह सारे हिंदुस्तानमें व्याप्त हो गए थे। यही तिलककी विशेषता है। भारतकी जनता भी प्रान्ताभिमान आदिका ख्याल न करती हुई गुणोंको पहचानती है। यह भारतीय जनताका गुण है। इन दोनोंके गुणोंका यह चमत्कार है कि तिलकका नाम सब लोग स्मरण कर रहे हैं। जैसे एक ही आमकी गुठलीसे पेड़ छाया और आम पैदा होते हैं उसी प्रकार एक ही

भारतमाताके बालक जुदा जुदा रूप दिखाई देते हैं—कोई क्रोधी कोई स्नेही। फिर भी मीठे और मुलायम आम जिस गुठलीसे पैदा होते हैं उसीसे पेड़का कठिन भाग भी पैदा होता है। इसी तरहसे हम ऊपरसे कितने ही भिन्न क्यों न दिखाई दें तो भी हम एक ही भारतमाताकी सन्तान हैं यह कदापि न भूलना चाहिए। इसे ध्यानमें रखकर प्रेम-भाव बढ़ाते हुए सेवकोंको सेवाके लिए तैयार करना चाहिए। तिलकने ऐसी ही सेवा की। आशा है आप भी करेंगे।

३९

भूदान-यज्ञ और उसकी भूमिका

हमारा यह मानव-समाज हजारों वर्षोंसे इस पृथ्वीपर जीवन बिता रहा है। पृथ्वी इतनी विशाल है कि पुराने जमानेमें एकके बारेमें दूसरी जगह के मानवोंको पहचान नहीं रहती थी। हरेकको शायद इतना ही लगता था कि अपनी जितनी जमात है उतनी ही मानव-जाति है। पृथ्वीके ऊपर क्या क्या होगा इसका भान भी शायद उन्हें नहीं था। लेकिन जब-जैसे विज्ञानका प्रकाश फैलता गया मनुष्यका सम्पर्क पृथ्वीके साथ बढ़ता गया और सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक सभी दृष्टियोंसे मानवोंका आपसी सम्पर्क भी बढ़ता गया। जब कभी दो राष्ट्रोंका या दो जातियोंका सम्पर्क हुआ तो हर बार वह मीठा ही साबित हुआ हो ऐसी बात नहीं है। कभी वह मीठा होता था, कभी कड़वा। लेकिन कुल मिलाकर उसका फल मीठा ही रहा। इस बातकी मिसाल दुनियाभरमें मिल सकती है। लेकिन सारी दुनियाकी मिसाल हम छोड़ भी दें और केवल भारतका ही बयान करें तो मालूम होगा कि बहुत प्राचीन जमानेसे यहाँ जो आर्य लोग रहते थे उनकी बस्ती हिन्दुस्तानके उत्तरी भागमें थी और दक्षिणमें जो द्रविड़ लोग रहते थे उनकी बस्ती मुख्यतः दक्षिणमें थी। इस तरह द्रविड़ और आर्योंकी सांस्कृतिक मिश्रण एक नई संस्कृति बनी। पहले वे दोनों संस्कृतियाँ

उत्तर और दक्षिणकी अलग-अलग रही। हजारों वर्षोंतक इन लोगोंमें आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं था क्योंकि बीचमें एक बड़ा भारी दण्डकारण्य पड़ा था। लेकिन फिर दो जमातोंका सम्बन्ध हुआ। उनमेंसे कुछ मीठे और कुछ कड़वे अनुभव आये और उसका नतीजा आजका भारतवर्ष है। द्रविड़ लोग यहाँके बहुत प्राचीन लोग थे। द्रविड़ और आर्यों, इन दोनोंकी संस्कृतिके संगमका नाम हिन्दुस्तानको मिला और उससे एक ऐसा भिन्न राष्ट्र बना जिसमें उत्तर और दक्षिणके अच्छे अंश एक साथ समन्वयसे मिल गये उत्तर और दक्षिण एक हो गये। उत्तरके लोग ज्ञान-प्रधान थे तो दक्षिणके लोग भक्ति-प्रधान थे। इस तरह ज्ञान और भक्तिका संगम हो गया लेकिन इसके बाद यहाँ जो भिन्न समाज बना उसकी व्यापकता भी एकांगी साबित हुई।

लेकिन बाहरसे मुसलमान लोग यहाँ आये और अपने साथ एक नई संस्कृति ले आये। उनकी नई संस्कृतिकी साथ यहाँकी संस्कृतिकी टक्कर हुई। मुसलमानोंने अपनी संस्कृतिके विकासके लिए दो मार्ग अपनाये ऐसा दीखता है। एक हिंसाका और दूसरा प्रेमका। ये दो मार्ग दो धाराओंकी तरह एक साथ चले। हिंसाके साथ हम गजनी और औरंगजेब आदिका नाम ले सकते हैं तो दूसरी तरफ प्रेम-मार्गके लिए अकबर और कबीरका नाम ले सकते हैं। हमारे यहाँ जो कमी थी वह इस्लामने पूरी की। इस्लाम सबको समान मानता था। यद्यपि उपनिषद् आदिमें यह विचार मिलता है लेकिन हमारी सामाजिक व्यवस्थामें इस समानताकी अनुभूति नहीं मिलती थी। इसपर अमल नहीं किया था। व्यावहारिक समानताका विचार इस्लामके साथ आया। इस्लामके आगमनके समय यहाँ अनेक जातियाँ थीं। एक जाति दूसरी जातिके साथ न शादी-ब्याह करती थी न रोटी-पानी। इस तरह यहाँ ऐसी बड़ी दीवारें खड़ी हुई थीं लेकिन धीरे धीरे दो संस्कृतियाँ नजदीक आईं। दोनोंके गुणोंका लाभ देशको मिला। इस मिलनसे जो लड़ाई-झगड़े हुए और जो संघर्ष हुआ उसका इतिहास हम जानते ही हैं। जो लोग यहाँ आये उन्होंने तलवारसे हिन्दुस्तान जीता या हिन्दुस्तानके लोग लड़ाईमें हार गये यह कोई नहीं कह सकता बल्कि बताया हुई उनसे पहले ही फकीर लोग यहाँ आये। वे गाँव-गाँव घूम

और उन्होंने इस्लामका संदेश पहुंचाया। यहांके लिए यह चीज एकदम आकर्षक थी।

बीचके जमानेमें हिंदुस्तानमें बहुत-से संत हुए, जिन्होंने जाति भेदके खिलाफ प्रचार किया और एक ही परमेश्वरकी उपासनापर जोर दिया। इसमें इस्लामका बहुत बड़ा हिस्सा था। हिंदुस्तानको इस्लामकी यह बड़ी देन है। इस तरह पहले ही जो संस्कृति द्रविड़ और आर्योंकी संस्कृतियोंके मिश्रणसे बनी थी उसमें यह नया रसायन दाखिल हुआ।

इसके बाद कुल तीनसौ साल पहलेकी बात है। यूरोपके लोगोंको मालूम हुआ कि हिंदुस्तान बड़ा संपन्न देश है और यहां पहुंचनेसे लाभ हो सकता है। इसी समय यूरोपमें विज्ञानकी प्रगति हुई। वे लोग हिंदुस्तान आ पहुंचे। हिंदुस्तानमें आजतक जो प्रगति हुई थी उसमें विज्ञानकी कमी थी। यह नहीं कि विज्ञान यहां था ही नहीं। यहां वैद्यक-शास्त्र मौजूद था, पदार्थ-विज्ञान शास्त्र मौजूद था, लोगोंको रसायन-शास्त्रका ज्ञान था। अच्छे मकान, अच्छे रास्ते, अच्छे मंदिर यहां बनते थे—यानी शिल्प विज्ञान भी था। प्राचीन हिंदुस्तान एक ऐसा प्रगतिशील देश था, जहां उस जमानेमें अधिक से अधिक विज्ञान मौजूद था। लेकिन बीचके जमानेमें यहां विज्ञानकी प्रगति कम हुई। उसी जमानेमें यूरोपमें विज्ञानका आविष्कार हुआ और पाश्चात्य लोग यहां आ पहुंचे। अब उनके और हमारे बीच संघर्ष शुरू हुआ। उनके साथ हमारा संबंध कड़वा और मीठा दोनों प्रकारका रहा। तथा अब हम मिश्रणमें एक और नई संस्कृति बनी। कुछ मिश्रण तो पहले ही हो चुका था। फि‍र जो जो प्रयोग यूरोपवालोंने अपने देशमें किये उनके फलस्वरूप न सिर्फ लौकिक जीवनमें बल्कि समाजशास्त्र आदिमें भी परिवर्तन हुए और जैसे जैसे अंग्रेज, फ्रेंच, जर्मन, रशियन आदिके विचारोंमें परिवर्तन होने लगा वैसे-वैसे यहांके नव-विचारोंका संबंध भी बढ़ने लगा। आज हम जहां जाते हैं वहां सोशलिज्म (समाजवाद) कम्युनिज्म (साम्यवाद) आदिपर विचार सुनते हैं। ये सारे विचार पश्चिमसे आये हैं। अब इनका विचारोंमें मंथन शुरू हुआ है। उसमें कचरा-कचरा निकल जायगा। हमारी संस्कृति शुद्ध लोगोंकी नहीं बल्कि शुद्ध पानेकी हो। यही देखो न ! हिंदुस्तानमें—बावजूद इसके कि पश्चिमके विचारोंका प्रवाह

विस्तार यहां पाया रहा—राष्ट्रके समाजमें जितने आध्यात्मिक विचार वाले महापुरुष पैदा हुए उतने कम इस समाजमें नहीं हुए। यहां आज विज्ञान तो आया आयगा। पर इस समय भी संघर्ष हो रहा है, टक्कर हो रही है, मिलन हो रहा है। यह जो बीचकी अवस्था है, इसमें कई प्रकारके परिणाम होते हैं।

यह तो मैंने प्रसंगके तौरपर अपने कुछ विचार रखे ताकि हिन्दुस्तान की हालत आप लोग अच्छी तरह समझ सकें।

गांधीजीके जानेके बाद जब मैं सोचता रहा कि अब मुझे क्या करना चाहिए तो मैं शरणार्थियोंके काममें लग गया। परन्तु उसके कम्युनिस्टोंके बारेमें मैं बराबर सोचता रहा। यहांकी कुछ पार्टियों और लोगोंके बारेमें कुछ जानकारी मिलती रहती थी फिर भी मेरे मनमें कभी घबराहट नहीं हुई, क्योंकि मानव जीवनके विकासका कुछ दर्शन मुझे हुआ है। इसलिए मैं कह सकता हूं कि जब-जब मानव-जीवनमें नई परिस्थिति पैदा हुआ है वहां कुछ संघर्ष भी हुआ है, इसकी बात भी नहीं है। इसलिए हम बिना घबराये शान्तिसे सोचना चाहिए और शान्तिमय उपाय करना चाहिए।

मैंने सुना कि हम मुकाबला करना चाहिए। लेकिन मुकाबला करना हो तो कैसे किया जाय? मारने आदि साधन विचार शोधक नहीं हैं। वे समय-साधक हैं, काम या रास्ता सरल है। जहां विचार हुआ है वहां शान्तिमय साधन चाहिए। पुराने जमानेमें लोग तलवार वगैरह आदि थे। आज उनका उपयोग भी

प्राप्त किया। कम्युनिस्टोंके कामके पीछे जो विचार है उसका सारभूत अंश हमें ग्रहण करना होगा उसपर अमल करना होगा। यह अमल कैसे किया जाय इस बारेमें मैं सोचता था तो मुझे कुछ सूझ गया। ब्राह्मण मैं था ही वामनावतार मैंने ले लिया और भूमिदान मांगना शुरू कर दिया।

पहले-पहल लगता था कि इसका परिणाम वातावरण पर क्या होगा? थोड़े-से अमृतबिंदुओंसे सारा समुद्र मीठा कैसे होगा? पर धीरे-धीरे विचार बढ़ता गया। परमेश्वरने मेरे शब्दोंमें कुछ शक्ति भर दी। लोग समझ गये कि यह जो काम चल रहा है क्रांतिका है और सरकारकी शक्तिके परे है क्योंकि यह काम तो जीवन बदलनेका काम है। अब लोग दान देने लगे। एक जगह हरिजनोंने अस्सी एकड़ मांगे और एक भाईने सौ एकड़ दे दिये। इस तरह लोग मुझे देने लगे। यद्यपि लोगोंने मुझे काफी दिया तो भी मेरा काम इतनेसे पूरा नहीं होता।

जब विचार फैलेगा तब काम होगा। मैं चाहता हूं कि दरिद्रनारायणको जो भूखा है और अब जाग गया है आप अपने कुटुंबका एक हिस्सा समझें और आपके परिवारमें चार लड़के हैं तो उसे पांचवां मान लें। एक भाईके पास पांच एकड़ जमीन थी। उस भाईसे मैंने जमीन मांगी तो उसने मुझसे कहा कि मेरे घरमें आठ लड़के हैं। मैंने पूछा कि अगर नौवां आया तो उसे भी सहोगे या नहीं? उसने कहा "हां।" मैंने कहा "यही समझो कि मैं नौवां हूं और मुझे भी कुछ दे दो। समझ लीजिये कि दस हजार एकड़ वाला सौ एकड़ देता है। आंकड़ा दीखनेको बहुत बड़ा दीखता है पर दाता और दरिद्रनारायण दोनोंके हिसाबमें यह कम है। इस आंकड़ेसे मैं तो संतुष्ट हो जाऊंगा परन्तु देनेवालोंको नहीं होना चाहिए। अगर ऐसा होता कि यहां कोई युद्ध की या चंद लोगोंके कष्टनिवारणकी समस्या होती और मैं धन मांगता तो थोड़ा-थोड़ा देनेमें भी काम चल जाता परन्तु यहां तो एक राजकीय समस्या हल करनी है एक सामाजिक समस्या सुलझानी है जो समस्या न सिर्फ इन दो जिलोंकी है न सिर्फ हिंदुस्तानकी है बल्कि पूरी दुनियाकी है। और जहां ऐसी राजनैतिक व सामाजिक क्रांति करनेकी बात है वहां तो मनोवृत्ति ही बदल देनेकी जरूरत होती है। अब कोई छोटा सा नुकसान होता तो अल्प दानसे काम चल जाता परन्तु यहां दस हजार

एकड़ जमीन रखनेवाले यदि सौ एकड़ देने लगें तो काम नहीं चलेगा। उन्हें तो दरिद्रनारायणको अपने परिवारका एक हिस्सा समझकर दान देना चाहिए। मैं तो गरीब और श्रीमान सबका मित्र हूं। मुझे तो मैत्रीमें ही आनन्द आता है। जो शक्ति मैत्रीमें है वह द्वेषमें नहीं है। अनेक राजाओंने लड़ाइयां लड़कर जो शांति नहीं दी वह बुद्ध ईसा रामानुज आदिने दी। इनमेंसे एक-एक आदमीने जो काम किया वह अनेक राजाओंने मिलकर नहीं किया अर्थात् प्रेम और विचारकी तुलनामें दूसरी कोई शक्ति नहीं है। इस वास्ते बार-बार समझानेका काम पड़े तो भी मैं तैयार हूं। दो दफा समझानेसे कोई न समझ सका तो तीन दफा समझाऊंगा। तीन दफा समझानेसे यदि नहीं समझ सका तो चार दफा समझाऊंगा। और चार दफा समझानेसे भी नहीं समझेगा तो पांच दफा समझाऊंगा। समझाना यही मेरा काम है। जबतक मैं नाउम्मीद नहीं होता तबतक मैं हारता नहीं निरन्तर समझाता ही रहूंगा।

जो मैं चाहता हूं वह तो सर्वस्व दानकी बात है। जैसा पोतना कविने (तेलगु) भागवतमें बताया है— शान्तिबहुल भवि धर्मवत्सलतनु श्रीकृष्ण गाथ पितिपुवानु। माता पिताके समान चिंता करनेकी यह उपमा मैं आपको लागू करना चाहता हूं। जिस प्रेमसे माता-पिता बच्चोंके लिए काम करते हैं भूखे रहकर उन्हें खिलाते हैं उनके लिए सर्वस्वका त्याग करते हैं वह शक्ति और वह प्रेम मैं आप लोगोंसे प्रकट करना चाहता हूं।

आज मैं जेलमें यह जाननेके लिए कम्युनिस्ट भाइयोंसे मिलने गया था कि उनके क्या विचार चल रहे हैं। उनके साथ जो बातचीत हुई, वह पूरी यहां बतानेकी आवश्यकता नहीं है। पर उन्होंने एक सवाल मुझसे किया कि क्या आप इन श्रीमानोंको वापस अपने घरोंमें ले जाकर बताना चाहते हैं? क्या उनके दिलमें परिवर्तन होनेवाला है? आपको वे लोग ठग रहे हैं। कुछ इस तरहका उनका भाव था। मुझे यहां उनसे बहस नहीं करनी थी न उनके हर प्रश्नका जवाब ही देना था। लेकिन अगर यह बात सही है कि हरेकके हृदयमें परमेश्वर विराजमान है और हमारे श्वासोच्छ्वासका नियमन वही करता है और सारी प्रेरणा वही देता है तो मेरा विश्वास है कि परिवर्तन जरूर हो सकता है। अगर कालात्मा कहा

है और कालात्मा परिवर्तन करना चाहता है तो परिवर्तन होने ही वाला है। मनुष्य चाहे या न चाहे जब मनुष्य प्रवाहमें पड़ता है तब उसकी तैरनेकी शक्ति ही उसके काम नहीं आती प्रवाहकी शक्ति भी काम आती है। उसी तरह मनुष्यके हृदयमें परिवर्तनके लिए खास प्रवाह मददरूप होता है। आज तो सबकी भूमि तपी हुई है। ऐसी तपी हुई भूमिपर प्रेमकी दो बूंदें छिड़कानेका काम अगर भगवान् मुझसे करवाना चाहता है तो मैं वह खुशीसे कर रहा हूं। मैं तो गरीबोंसे भी जमीनें ले रहा हूं। एक एकड़वालेसे भी मैं एक टुकड़ा ले आया हूं। अगर वह आधा टुकड़ा देता तो भी मैं ले लेता। लोग पूछते हैं कि एक टुकड़ा जमीनका मैं क्या करूंगा? मैं कहता हूं 'कोई हर्ज नहीं। *जिसने मुझे यह एक टुकड़ा दिया है उसीको ट्रस्टी बनाकर मैं वह जमीन* उसे सौंप दूंगा और कहूंगा कि जो पैदावार उसमें होगी वह गरीबोंको दे देना।' एक एकड़वालेको एक टुकड़ा देनेकी वृत्ति होना उसे ही मैं विचार क्रांति कहता हूं। जहां विचार क्रांति होती है वहीं जीवन प्रगतिकी ओर बढ़ता है। 'अपि प्राज्यम् राज्यम् तृणमिव परित्यज्य सहसा'—एक चाउक तिनके की तरह राज्यका परित्याग करनेवाला त्यागी इस भूमिमें हो गये हैं।

विचार-शक्तिकी कोई हद नहीं होती। एक विचार एक मनुष्यको ऐसा सूझता है कि उससे मनुष्यके जीवनमें क्रांति हो जाती है। आपने देखा बुद्ध महापुरुष भी ऐसे होते हैं जिनके विचारमें ऐसी शक्ति होती है कि दूसरेके जीवनको पलट देते हैं। इसलिए विचारको जगानेके लिए मैंने उस गरीबसे भी एक टुकड़ा जमीन ले ली और जहां मैं उन श्रीमानोंसे जमीन ले रहा हूं वहां उनके सिर पर मेरा वरदहस्त है—"भाइयो तुम्हें मन महलमें बांधकर रखनेकी आवश्यकता नहीं है। कबतक बांधते रहोगे?" यानी जहां मैंने श्रीमानोंसे एकड़ दान लिया वहां मैंने उनके मनमें एक अच्छा विचार भी जगा दिया। हरेक मनुष्यके दिलमें अच्छे-बुरे विचार होते हैं। अब उसके हृदयमें एक लड़ाई शुरू होती है, एक महाभारत युद्ध शुरू होता है।

'अविद्यायां चिकित्सुये ममाय
तस्यान्तरेण वसती वसुधाते
तयोपद् तत्वं क्षरत् महीयः
तस्मिन् योऽसीत्यदि हृदि या यतन्"

शास्त्रकार जानते हैं कि हर मनुष्यके हृदयमें सत् और असत्की लड़ाई भिड़ चलती रहती है। जो सत् होता है, उसकी रक्षा होती है और जो असत् है, उसका खात्मा होता है। इसीलिए सत्ता होती है, ऐसा माननेका कारण नहीं है। परन्तु उसके द्वारा अन्यायसे भी कई काम हुए होते हैं। बिना अन्यायके हजारों एकड़ जमीन कभी जमा हो सकती है? अर्थात् जिन्होंने दान दिया है उन श्रीमानोंके जीवनमें कई तरहका अन्याय और अनीतिका होना सम्भव है। परन्तु उनके हृदयमें भी एक मनसा पैदा होगा कि क्या हमने जो अन्याय किया है, वह ठीक है? परमेश्वर उन्हें बुद्धि देता है व अन्याय छोड़ दें। परिवर्तन इसी तरह हुआ करता है।

मेरी प्रार्थना है कि अब जैसा जमाना आया है, आप सब लोग दिल खोलकर दीजिये। देनेसे एक दैवी संपत्ति निर्माण होती है। उसके सामने आसुरी संपत्ति टिक नहीं सकती। आसुरी संपत्ति टूट जाया करती है। वह ममत्वभावपर आधार रखती है। समत्व नहीं जानती। दैवी तो समत्व पर आधार रखती है। दैवी और आसुरी संपत्तिकी यह पहचान है।

जहां मैं दान लेता हूं वहां हृदय-मन्थनकी हृदय-परिवर्तनकी आशा, समत्वबुद्धिकी आशा, भावनाकी मैत्रीकी और गरीबोंके लिए प्रेमकी आशा करता हूं। जहां दूसरोंकी फिक्रकी भावना जागती रहती है, वहां समत्व बुद्धि प्रकट होती है वहां वैरभाव टिक नहीं सकता। वैरभावका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं होता। पुण्यमें ताकत होती है पापमें कोई ताकत नहीं होती। प्रकाशमें शक्ति होती है, अन्धकारमें कोई शक्ति नहीं होती। प्रकाशका अन्धकारसे मुकाबला नहीं हो सकते। प्रकाश वस्तु है, अन्धकार अवस्तु है। मानो कि अन्धकारमें प्रकाश ले जाइये एक क्षणमें अन्धकारका निवारण हो जायगा। वैसे ही आज पुण्योदय हुआ है। उसके सामने दुर्भाव टिक नहीं सकता। यह भू-दान-यज्ञ अहिंसाका एक प्रयोग है, जीवन परिवर्तनका प्रयास है। मैं तो निमित्तमात्र हूं। आप भी निमित्तमात्र हैं। परमेश्वर आप दाताओंसे और मुझसे काम कराना चाहता है। यह काल पुण्यकी परमेश्वरकी प्रेरणा है। इसलिए मैं मांग रहा हूं तब आप लोग दीजिये और दिल खोलकर दीजिये। जहां आज एक फुट जमीनके लिए झगड़ा है वहां अब बहुतसे लोग सैकड़ों हजारों एकड़ जमीन देनेके लिए

तैयार हो जाते हैं। तो आप समझिये कि यह परमेश्वरकी प्रेरणा है। इसके साथ हो जाइये। इसके विरोधमें मत खड़े रहिये। इसमें भला-ही भला होगा।

आज मैं फिरसे कहता हूं कि हम विज्ञानसे पूरा लाभ उठाना चाहते हैं। अगर हम विज्ञानसे पूरा लाभ उठायें तो इस भूमिको हम स्वर्ग बना सकते हैं। लेकिन फिर हम विज्ञानके साथ हिंसाको नहीं अहिंसाको जोड़ना होगा। अहिंसा और विज्ञानके मेलसे ही यह भूमि स्वर्ग बन सकती है। हिंसा और विज्ञानके मेलसे यह स्वर्ग नहीं बन सकती बल्कि खतम हो सकती है।

पहले लड़ाइयां छोटी-छोटी होती थीं। जरासंध-भीम लड़े कुश्ती हुई, पाण्डवोंको राज्य मिल गया सारी प्रजा खून-खराबीसे बच गई। अगर इस जमानेमें वैसी लड़ाइयां लड़ी जाय तो इसमें हिंसा होनेपर भी नुकसान कम है। इसलिए यह द्वन्द्व-युद्ध मैं कबूल कर लूंगा। अगर हिटलर और स्टालिन कुश्तीके लिए खड़े हो जाते हैं और तय करते हैं कि जो हारेगा वह हारेगा और जो जीतेगा वह जीतेगा तो मैं उसे कबूल कर लूंगा। और अगर दुनिया वह द्वन्द्व देखने को आई है तो मैं उसका निषेध नहीं करूंगा क्योंकि दुनियाका उसमें विशेष नुकसान नहीं होगा। परन्तु द्वन्द्व-युद्धका जमाना अब बीत गया है। पहले द्वन्द्व-युद्ध होते थे फिर हजारों लोग आपसमें लड़ने लगे। हजारोंकी लड़ाई खतम हुई तो लाखों लड़ने लगे। उससे भी नतीजा नहीं निकला। फिर क्या इधर बीस लाख तो उधर पच्चीस लाख और इधर पच्चीस तो उधर पचास लाख। इस तरह यह जमाना आया कि हजारों-लाखों नहीं करोड़ों लोग आपसमें लड़ने लगे। मनुष्यके सामने सवाल यह है कि या तो 'टोटल वार' की तैयारी करो या हिंसा छोड़ो और अहिंसाको अपनाओ। मैं कम्युनिस्टोंको यही समझाता हूं कि भाइयो तुम थोड़े नहीं दो-चार खून करते हो कहीं दो-चार मकान जलाते हो कहीं कुछ लूट-खसोट कर लेते हो उसमें पाप ही किया पराक्रम दिखाते हो लेकिन अब छिटपुट जमाना खतम हो चुका है। अब ऐसी हरकतोंका कोई लाभ नहीं है। अगर लड़ाई करनी है तो विश्वयुद्ध (टोटल वार) की तैयारी करो और उसीमें पड़ जाओ। लेकिन जबतक करोड़ोंके पैमानेपर हिंसा करनेकी तैयारी नहीं करते तबतक छोटी छोटी लड़ाइयोंका यह उपेक्षा

छोड़ दो और तुम्हें वोट देनेका जो अधिकार मिला है, उसमें लाभ उठाओ। प्रजाको अपने विचारके लिए तैयार करो। आणविक युद्ध या परिशुद्ध प्रेम ऐसी समस्या विज्ञानने हमारे सामने खड़ी कर दी है।

इसलिए अगर प्रेमका, अहिंसाका तरीका आजमाना चाहते हो तो इन जमीनोंका ममत्व छोड़ दो, नहीं तो हिंसाका ऐसा जमाना आनेवाला है कि उसमें सारी जमीनें और उस जमीनपर रहनेवाले प्राणी खतम हो जायंगे। यह समझकर कि भगवानने यह समस्या हमारे सामने खड़ी कर दी है जागो! निरन्तर काम किया करो।

६०

ग्रामदानकी विचार और आचार-योजना

अंग्रेज हिंदुस्तानमें जिस तरह आये और कैसे स्थिर हुए, उसका इतिहास सब जानते हैं। आश्चर्यकी बात यह है कि पहले उनके राज्यके लिए हम लोगोंमें कुछ श्रद्धा भी थी परन्तु कुछ दिनोंमें उस श्रद्धाका पर्यवसान अश्रद्धामें हुआ। फिर बहुत दिनोंके बाद यह निश्चय हुआ कि स्वराज्य-प्राप्तिके बिना हिंदुस्तानके दुःख नहीं मिटेंगे। दादाभाई नौरोजीने १९०६ में कलकत्ता-कांग्रेस में हिंदुस्तानको स्वराज्यका मंत्र दिया। उसके बाद लोकमान्य तिलकने और फिर महात्मा गांधीने उस कार्यक्रमको उठा लिया। हजारों लोग उनके साथ जुट गये। बहुत दीर्घ प्रयत्नके बाद स्वराज्यकी प्राप्ति हुई।

इस प्रकार जब एक मंजिलकी सिद्धि हो जाती है तब साधकोंकी हिम्मत बढ़ती है। जो साधक नहीं होते उनकी शक्ति एक-सिद्धिके बाद क्षीण हो जाती है। जब सिद्धि हो गयी तो फिर उनकी भोग-वासना जागृत हो जाती है। फिर वे नयी तपस्या नहीं कर पाते। परन्तु जो साधक होते हैं, उनका एक मंजिलकी सिद्धिके बाद उत्साह बढ़ता है। हिंदुस्तानमें भी साधक काफी संख्यामें थे, जिन्हें गांधीजीकी तालीम मिली थी। उन लोगोंने स्वराज्य प्राप्तिके बाद अपने सामने सर्वोदयका मंत्र रखा। एक मंजिलकी सिद्धिके बाद जब भीतर

दूसरा मंत्र आता है तो मनुष्यके जीवनकी सिद्धिके लिए यह बहुत ही सौभाग्यकी बात समझनी चाहिए। जैसे कालिदासने लिखा है "क्लेश: फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते" अर्थात् जब एक क्लेश फलित होता है तो साधकोंको फिरसे नये क्लेशकी हिम्मत होती है। वैसे ही हिन्दुस्तानको स्वराज्यके बाद नये मंत्रकी प्राप्ति हुई। उन्हें यह मंत्र ढूंढना नहीं पड़ा। यह गांधीजीकी स्फूर्ति थी कि एक मंत्रकी सिद्धि के पहले ही उन्होंने दूसरा मंत्र तैयार रखा था। जो क्रान्तिदर्शी होते हैं उनका यह लक्षण है कि वे दूरका देखते हैं। गांधीजीने भी बहुत दूरका देख लिया था। १९१७में यानी स्वराज्य प्राप्तिके तीस साल पहले ही उन्होंने दक्षिण भारतमें हिंदीका काम शुरू किया था। वे कहते थे कि हमलोग हिंदीमें अच्छी तरह तैयार हो जायंगे तो स्वराज्यके बाद प्रगति कर सकेंगे। १९३७में यानी स्वराज्यके दस साल पहले ही उन्होंने नई तालीमकी योजना की थी ताकि स्वराज्यके बाद नई तालीम शुरू हो जाय और देशकी प्रगति न रुके। इस तरहसे स्वराज्य प्राप्तिके बाद क्या करना पड़ेगा इसका भी दर्शन उन्हें पच्चीस-तीस साल पहले ही हुआ था। स्वराज्यके बाद सर्वोदय करना होगा यह मंत्र उन्होंने दे रखा था।

भारतका यह बहुत बड़ा भाग्य है कि एक मंत्रकी सिद्धिके बाद दूसरा मंत्र उपस्थित हुआ। मंत्रकी सिद्धिके लिए तपस्या करनी पड़ती है। एक तपस्या पूरी होनेके बाद फौरन दूसरी तपस्या शुरू करनेका आनंद भगवानने हमें दिया। जिस जीवनमें तपस्या नहीं, मंत्र नहीं, वह जीवन सुखमय हो तो भी निस्सार हो जाता है। मनुष्यको उस सुखमें रस नहीं मालूम होता है। फिर मनुष्य यह करता है कि घरमें खानेकी चीजें खूब पड़ी रहनेपर भी एकादशीका उपवास करता है। सुखसे मनुष्यको समाधान नहीं होता है, इसलिए वह तपस्या ढूंढता है। सुखसे पशुको समाधान होता है लेकिन मनुष्यको कोई मंत्र चाहिए, तपस्या करनेका मौका चाहिए। स्वराज्य प्राप्तिके बाद हमें फौरन एक मंत्र प्राप्त हुआ और भारत उस काममें लग गये। सत्ता हाथमें आई तो उसके साथ कई प्रकारकी बाधाएं भी आईं। युद्ध चलाना। सेना हाथमें लेनी पड़ी। वह आवश्यक भी था। परन्तु उस वक्त बहुत पीड़ा सहन करनी पड़ी। देशमें खूब हिंसा चली। पचास लाख लोग पाकिस्तानसे हिन्दुस्तान आये और करीब उतने ही

हिंदुस्तानमें पाकिस्तान एक विशेष बहुत बड़ी समस्या खड़ी हुई। परस्पर द्वेष बढ़ा। किसीका किसीपर विश्वास नहीं था। स्वराज्य प्राप्त तो हुआ परन्तु उसके छिननेका अवसर भी भरोसा नहीं रहा। उस हालतमें सर्वोदय तो पीछे छिप गया और सर्वनाशका खतरा दीखने लगा।

किसी तरहसे परिस्थिति सम्हल गई और उसके बाद देशमें योजना बनी। उस योजनामें सर्वोदयका तो कहीं पता नहीं चला। यह सोचा गया कि अपनी रक्षा अच्छी होनी चाहिए। तो लश्कर उत्तम होनी चाहिए। जहाँ मनुष्य युद्धकी तैयारी कर लेता है, वहाँ बड़े-बड़े उद्योगोंका विकास करना होता है क्योंकि आधुनिक युद्ध-कलामें उसकी जरूरत होती है। हिंदुस्तानके दो टुकड़े होनेसे थे। एक-दूसरेका एक-दूसरेको भय था। इस हालतमें कोई भी देश अपनी योजना स्वयं नहीं करता है। हम नाममात्रका राष्ट्रीय प्लानिंग करते हैं लेकिन वास्तवमें अपना 'प्लानिंग' हम नहीं करते हैं, बल्कि दूसरे देश हमारा प्लानिंग करते हैं। पाकिस्तानने सेना बढ़ाई तो हमारे प्लानिंगमें भी सेना बढ़ानेकी बात आती है। फिर हम प्लानका बहुत-सा पैसा उसीमें लगाना होता है। इसका मतलब यह होता है कि आपके देशका प्लानिंग पाकिस्तानने किया। प्लान करनेके लिए दिल्लीमें हम बैठे, प्लान हमारे हाथसे हुआ परन्तु हमारे दिमागसे नहीं हुआ। हमारा दिमाग कहता था कि अधिक-से अधिक पैसा गरीबोंकी सेवामें लगाना चाहिए और सेना पर कम-से-कम खर्च करना चाहिए, गांधीजीके बताये हुए अहिंसाके मार्ग पर चलना चाहिए फिर भी हमारे हाथोंने लिखा कि सेनाका खर्च बढ़ाना चाहिए क्योंकि हमारा प्लानिंग पाकिस्तानने किया और पाकिस्तानका प्लानिंग किसने किया? वहाँ तो अभी चुनाव ही नहीं हुए हैं और दस सालमें आठ मंत्रि-मंडल बदल गये तो वे क्या प्लानिंग करेंगे। पाकिस्तान भक्त बन गया है अमरीकाकी शरणमें गया है। पाकिस्तानका प्लानिंग अमरीका करता है और आपका प्लानिंग पाकिस्तान करता है। अब सर्वोदय कहाँ रहेगा? इस हालतमें सर्वोदय अगर चलेगा तो मन-भक्तिसे चलेगा।

सर्वोदयके साधक चार थे। वे बेचारे निराश हो गये। वे दूर बैठकर बोलते थे परन्तु समझते थे कि अपनी मृत्युके साथ यह बात भी कहनेमें आयेगा। वे कहते थे कि हम तो कल्पना नहीं छोड़ेंगे क्योंकि हमने

यह व्रत लिया है। हम तो यह पातिव्रत बराबर निभाएंगे परन्तु इसमेंसे कुछ निकलेगा नहीं। दुनियामें एक चरखा चलेगा नहीं मिल ही चलेगी। जो साधक नहीं थे उन्होंने कातना छोड़ दिया था परन्तु जो साधक थे उन्होंने नहीं छोड़ा। वे कहते थे कि हम इस उपासनाको नहीं छोड़ेंगे परन्तु उनके मनमें आशा नहीं थी। इस तरह सर्वोदय निराशामें पहुंच गया था। 'सर्वोदय' शब्द तो लोगोंने उठाया परन्तु 'सर्वोदय होटल' भी खुल गया मानो वह शब्द राम-नामके-जैसा पवित्र बन गया। जैसे किसी कारखानेको भी रामजीका नाम दिया जा सकता है, वैसे ही सर्वोदयकी हालत हो गई। 'सर्वोदय' शब्द बहुत अच्छा है यह विचार सबको कबूल है परन्तु व्यवहारमें नहीं आयेगा अव्यवहार्य है ऐसा देशका निर्णय हुआ। इसपर भी सर्वोदयके साधक काम कर रहे थे।

हम भी ढूंढ रहे थे कि सर्वोदयकी शक्ति कहांसे प्रकट होगी। होते होते भगवानकी कृपासे तेलंगानामें भूदान-यज्ञका जन्म हुआ और सर्वोदय की अहिंसक पद्धतिसे कुछ-न-कुछ काम बन सकता है इसका थोड़ा दर्शन वहांपर हुआ। तेलंगानाके दो महीनेके भूदान-कार्यसे वहां थोड़ी शान्ति हुई। उसके बाद कम्युनिस्टोंने चुनावमें हिस्सा लिया और एक प्रदेशमें उनकी सरकार भी बनी। उन्होंने संविधानके अन्दर रहकर काम करनेका निश्चय किया। इस तरहसे परिवर्तन होता गया तो सर्वोदयका विचार कुछ पराक्रम कर सकता है, व्यवहारमें आ सकता है ऐसा कुछ थोड़ा भास देशको हुआ। सर्वोदय अच्छा विचार है, इसमें किसीको संदेह नहीं था। परन्तु वह व्यावहारिक है या नहीं इस बारेमें संदेह था लेकिन वह शायद कुछ व्यावहारिक है ऐसा भास हुआ तो सर्वोदयके साधकोंकी कमर मजबूत हुई। आखिर भूदानके साथ बढ़ते-बढ़ते उसमेंसे ग्रामदान निकला तो एक मानसिक चमत्कार हुआ अभी सर्वोदयमें काफी शक्ति पड़ी है इसका भास हुआ।

इसके बाद और एक बात हुई जो उससे भी बड़ी थी लेकिन उसकी तरफ लोगोंका जितना ध्यान जाना चाहिए था उतना नहीं गया। भारत भरमें भूदानका काम चला और आखिर ग्रामदान हुआ। उसका आधार यह था कि जिले-जिलेमें भूदान-समिति थी। जैसे हर जिलेमें कांग्रेस-कमेटी होती है वैसे हिन्दुस्तानके तीनसौ जिलोंमेंसे करीब ढाईसौ जिलोंमें भूदान-समिति

थी। इसके लिए गांधी-निधिसे कुछ मदद भी मिलती थी। यह अच्छा ही था। गांधी-निधिका उसमें बहुत सुन्दर उपयोग होता था क्योंकि गांधीजीके स्मारकके लिए यह निधि थी और गांधीजीके विचारका प्रचार जितनी अच्छी तरह इसमें हो सकता है उतना और किसीमें नहीं हो सकता है। इस बातको सब ऐसा महसूस करते थे और गांधी-निधिवाले बड़ी खुशीसे भूदानके लिए पैसा देते थे।

ग्रामदान होनेके बाद हमारे चित्तमें एक अस्वस्थता पैदा हुई। हमें लगा कि अब और एक क्रांतिकारक कदम उठाना चाहिए। भूदानमें ग्रामदान तक प्रगति होनेसे विचार काफी विकसित हो गया है। अब यह आग्रह छोड़ना चाहिए। इसलिए भूदानके लिए जो गांधी-निधिका आधार लिया जाता था वह हमने बन्द किया और साथ-साथ भूदान-समितियां आदि तोड़ डालीं। कोई भी पार्टी जो व्यापक बनी है अपना संगठन और मज-बूत करना चाहती है। लेकिन यहां हमने बिलकुल उससे उलटी प्रक्रिया चलाई। उन्होंने एक ही प्रस्तावसे सारे भारतकी कुल भूदान-समितियां खत्म कर दीं। क्रान्तिके विकासका इतिहास लिखनेवाला भविष्यका इतिहासकार इस घटनाको बहुत महत्त्व देगा। यही वास्तवमें इतिहास है, जिसमें मानवकी कल्पनाका किस तरह विकास हुआ यह बताया गया है।

इससे यह लाभ हम क्यों लेता? संस्थाएं मालिक होती हैं, सार्वजनिक नहीं होती हैं। सबके साथ व्याप्ति होती है सबके संगठनके बलसे नहीं। संस्थामें कोई साधारण सेवाका काम हो सकता है, उसके सत्ता बन सकती है परन्तु जन-समाजमें क्रांति लानेका काम उससे नहीं हो सकता। क्रांतिके लिए सब चाहिए और लोग सारे मुक्त हों। हरकोई अपनी-अपनी इच्छाके मुताबिक काम कर सकता हो। इस तरह कार्य जनतापर आयोजन छोड़ दें, तब क्रांति हो सकती है।

इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ प्रांतोंमें जहां पहले ४-५ कार्यकर्ता थे उनके बदले सैकड़ों कार्यकर्ता हुए और कुछ प्रांतोंमें जहां पहले कार्यकर्ता थे, वे भी गिर गए। इस तरह दोनों परिणाम निकले। हमने दोनों परिणामोंकी कल्पना कर रखी थी और मनकी दोनोंकी तैयारी भी। भूदान समितियां टूटनेके बाद कुछ निष्क्रियताका काम गिर जाता तो भी हमें कबूल था

कि हमने जो कदम उठाया यह सही है क्योंकि यह एक शास्त्र है, सिद्धांत है कि क्रांतियां कभी संस्थाओंके जरिये नहीं होती। संस्थाका एक ढांचा होता है, एक अनुशासनकी पद्धति होती है, उसके अंदर रहकर सबसे काम लिया जाता है। उसमें बुद्धि-स्वातंत्र्य नहीं रहता है।

आजके लोकतंत्रमें यह दोष देख सकते हैं। मान लीजिये कि चुनावमें १ %लोगोंने एक पार्टीको वोट दिया बाकीके १ %ने २-४ पार्टियोंको मिलकर वोट दिया और ८ %ने किसीको वोट ही नहीं दिया। अब जिस पार्टीको १ %वोट मिले उस पार्टीका राज्य चलेगा और वे १ % लोगों पर राज्य करेंगे। अब वे जो १ %वोट पानेवाले राज्य करने लगे उनकी सरकारकी तरफसे पार्लमेंटमें एक बिल आता है जिसकी चर्चा पहले पार्टीकी बैठकमें होती है। वहां ११%लोगोंने इस बिलको कबूल किया और १८%ने कबूल नहीं किया तो भी पार्टी-बैठकमें यह बिल पास हो जाता है। फिर वह बिल पार्लमेंटमें आता है, तो जिन १४%ने उसे पसंद नहीं किया उन्हें भी वहां उसे पसंद करना पड़ेगा। उसके पक्षमें हाथ उठाना पड़ेगा क्योंकि पार्टीका अनुशासन होता है। तो आखिर भारतपर कितने व्यक्तियोंकी सत्ता चली? यह केवल भारतकी ही हालत नहीं है सारी दुनिया के लोकतंत्रोंकी हालत है। आखिर ११ /का राज्य चलता है और इसका नाम है बहुमतका शासन और वे जो ११ हैं उनमें भी २ ४ लोगोंके पीछे सब लोग चलते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि २ ४ व्यक्तियोंके ही दिमाग का राज्य भारतपर चलता है। संस्था की मैकेनिज़्म यह सब होता है। इसमें क्रांतिका सवाल ही नहीं आता है क्योंकि बुद्धिकी आजादी नहीं होती। वहां तो हाथोंकी गिनती होती है। इसीलिए हमने कहा कि क्रांति के लिए तंत्र नहीं चाहिए। हमारे इस निश्चयके बाद ग्रामदानोंकी संख्या बढ़ती ही गई।

भूदानमें एकके बाद एक अद्भुत घटनाएं घटती गईं। लोग भूदानके विचारकी ओर ध्यान देते लगे यह एक आश्चर्य ही है। फिर भूदानसे आरंभ करते-करते लोग ग्रामदान तक आते हैं यह दूसरी बड़ी घटना है। फिर सारे भारतमें जो तंत्र बना था वह तोड़ने के लिए लोग तैयार हो गये यह और एक बड़ी घटना है। बावजूद तंत्र तोड़नेके ग्रामदान बढ़ रहे हैं यह एक अद्भुत ही घटना है और इस सबके शिरपर एक बड़ी घटना मैसूर प्रदेशमें

घटी। यहां हिंदुस्तानके भिन्न-भिन्न राजनैतिक पक्षोंकी चोटीके नेता, जिनके विचार एक दूसरेसे मिलते नहीं, इकट्ठे हुए और उन्होंने प्रस्ताव करके देशको ग्रामदानका काम उठानेका आदेश दिया। लोग हमसे पूछते हैं कि बाबा आप तो १९५७ में क्रांति होगी ऐसा कहते थे। हम उनसे कहते हैं कि क्या आप देखते नहीं कि क्रांति हो चुकी है, क्या आपको उसका दर्शन नहीं हुआ? यहां परस्पर विरोधी विचार रखनेवाले देशके सब मान्य नेता ग्रामदानका एक विचार मान्य करते हैं, यहां वैचारिक क्रांति हुई या नहीं हुई। वैचारिक क्रांति ही वास्तव में क्रांति है। वह हाथोंसे होनेवाली है, वह पीछे आती है। इसलिए आगेका सवाल बहुत कठिन नहीं है।

हम तो बिल्कुल विचारसे भर गये हैं। क्रांति हमारे साथ आयी है। हम उसके पीछे-पीछे जाते थे, उसे पकड़ना चाहते थे, अब वह हमारी पकड़ में आयी है। उसे हाथमें लेकर अब हम आगे बढ़ेंगे।

अब इसके आगे हमें क्या करना है, इस बारेमें मैं योजना रखूंगा। अब वैचारिक क्रांति होगयी, तो अब इसके आगे हमारे कार्यकर्ताओंको जागृत रहना चाहिए। उनके मुखसे मधुर वाणी ही निकलनी चाहिए। खंडन नहीं होना चाहिए। यह जो मैंने नेताओंके सम्मेलनके पहले ही कालडीमें कहा था कि अब खंडन पर्व समाप्त हुआ है, इसके आगे परम शान्तिपर्व आया है। नेताओंके सम्मेलनके बाद हरेकको इसका दर्शन होना चाहिए कि हम कुछ खंडन करते हैं तो हमारे कामके लिए वह बाधक होता है। अब विश्वास रखना चाहिए कि राष्ट्रका संकल्प हुआ है, इस संकल्पके पीछे परमेश्वरका बल है। अब यह बाबाका व्यक्तिगत संकल्प नहीं रहा है, न वह सर्वोदयके साथियोंका संकल्प रहा है। यह कुल हिंदुस्तान देशका संकल्प हुआ है। इसलिए हमें परमेश्वर दर्शन तो हो चुका है, इसके बाद उसकी सेवा करने-का कार्यक्रम है, वह सब प्रेमसे हम करेंगे। जबतक परमेश्वरका दर्शन नहीं हुआ था तबतक बड़ी विकट साधना करनी पड़ती थी। वैराग्य बहुत जरूरी था। बहुत [illegible] विरोध आदि की जरूरत थी। परंतु ईश्वरका दर्शन होनेके बाद तो प्रेमसे सेवा करनी है। इसलिए यहां देशको नेताओंका आदेश मिल गया, यहां हमें क्रांतिका दर्शन हो गया।

अब तो लोगोंके काममें जोश आना चाहिए। हमने कहा कि इसके आगे

कार्यकर्ताओंके मुखसे मंगल शब्द ही निकलना चाहिए। कहीं किसीकी मदद मिली नहीं मिली तो कोई चिंता नहीं करनी चाहिए। यह देशका कार्य क्रम है और देश इसे उठायेगा ऐसा विश्वास रखना चाहिए।

दूसरी सूचना यह है कि ग्रामदानका विचार क्या है इसे पूर्ण रूपसे समझ लीजिये। अभीतक लोग समझते थे कि जिनके पास है उनसे लेना है, और जिनके पास नहीं है उनको देना है याने जिनके पास है उनका देनेका धर्म है और जिनके पास नहीं है उनका लेनेका ही धर्म है। धर्म इस तरह नहीं होता है। धर्म सबको लागू होता है। सत्य बोलना धर्म है तो किनके लिए है? सबके लिए है। प्रेम करना आदि धर्म है तो सबके लिए है। उसी तरह अगर देना धर्म है तो देनेका धर्म सबको लागू है। इसलिए समझनेकी जरूरत है कि इस देशमें और दुनियामें संपत्तिहीन कोई नहीं है। हरकिसीके पास देने लायक कुछ-न-कुछ चीज है। किसीके पास जमीन है किसीके पास संपत्ति है किसीके पास बुद्धि है किसीके पास श्रम-शक्ति है। प्रेम तो सबके पास है अथवा होना चाहिए। जिसके पास देनेकी जो चीज है वह उसे ग्राम दानमें देनी चाहिए। गांवके सब जमीनवालोंने अपनी सारी जमीन दान दी तो ग्रामदान हुआ यह अपूर्ण विचार है। जमीनवाले अबतक अपनी जमीन का उपयोग अपने घरके लिए करते थे अब उन्होंने जमीनका उपयोग गांव के लिए करनेका तय किया है यह बहुत अच्छी बात है। उसी तरहसे मजदूर अबतक अपनी मजदूरीका उपयोग घरके लिए करते थे अब उन्हें अपनी मजदूरी सारे ग्रामको समर्पण करनी चाहिए। ग्रामदानमें केवल जमीनवालों का ही हृदय-परिवर्तन नहीं करना है कुल जनताका हृदय-परिवर्तन करना है। कुछ लोगोंसे लेना और कुछ लोगोंको देना ऐसा यह विचार नहीं है। प्रारंभ में तैलंगानामें जब भूदान-यज्ञ शुरू हुआ था तब ऐसा विचार था और हम भी इस तरह कहते थे लेकिन भारतभरमें संचार करते-करते विचारका विकास हुआ और अब एक पूर्ण विचार आया है कि ग्राममें जिस किसीके पास जो भी हो वह ग्राम-समाजके लिए अर्पण करे। इस पूर्ण-विचारको समझकर इसे जनताके सामने रखना चाहिए।

तीसरा सूचना यह है कि हम एक बातमें लोगोंको निर्भय बनाना चाहिए। कुछ लोग समझे हुए हैं कि ग्रामदान हुआ तो गांवकी कुल जमीन

एक करनी पड़ेगी। फिर सारे लोग मजदूर-ही-मजदूर बनेंगे। यह बिलकुल गलत विचार है। गांवकी योजना गांववाले अपनी इच्छाके अनुसार ही करेंगे। अगर वे चाहें तो गांवकी कुल जमीनको एक कर सकते हैं, चाहें तो चार खेत बना सकते हैं, चाहें तो हर घरमें जमीन बांट सकते हैं। मालकियतके तौर पर नहीं, बल्कि काश्त करनेके लिए। हम गांवोंमें जिस प्रकारकी योजना चाहते हैं, वैसी कर सकते हैं। लेकिन एक बात बड़े महत्वकी है कि जो भी करें, परस्पर-सहयोगके साथ सहयोगकी भावना होनी चाहिए। सहयोग भावना जो मूल है, वह होना चाहिए, फिर खेती सहकारी बनानी है या नहीं, यह विषय गौण है। ग्रामदानके हर गांवमें एक ही प्रयोग नहीं चलेगा, बल्कि भिन्न-भिन्न प्रयोग चलेंगे। उनमें किस प्रयोगमें ज्यादा लाभ होता है, यह सब देखेंगे। हम चाहते हैं कि लोग अलग न रहें, सब लोग एकत्र काम करें तो अच्छा होगा। परन्तु यह पूर्ण विचारसे और स्वतंत्र बुद्धिसे करनेकी बात है, इसमें दबाव कुछ नहीं है।

चौथी बात यह है कि ग्रामदानमें किसीको कुछ भी खोना नहीं है। यह बात ध्यानमें आनी चाहिए। राजा-महाराजा गये और उनकी रियासतें भारतमें शामिल हुईं, इसमें उन्होंने क्या खोया? उन्हें पूरा रक्षण मिला और जो राज्यका वैभव उनके पीछे लगा था, जिसकी उन्हें चिन्ता करनी पड़ती थी, वह खत्म हुई और उनमें जो बुद्धिवाले थे, उन्हें प्रजाका प्रेम मिला। इसी तरहसे ग्रामदानमें किसीको कुछ खोना नहीं है। उसमें अपना पैसा बैंकमें रखने जैसी बात है। व्यक्तिके लिए समाज ही उत्तम बैंक है। सारे समाजको अपनी जमीन समर्पण करनेसे व्यक्तिका पूरा रक्षण है। इसमें चार वैज्ञानिक सूचनाएं दीं। अब आचार-योजनाके बारेमें कुछ कहूंगा।

अब इस कामका भार भूदानके सब कार्यकर्ताओं पर है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। इसमें भूदान सामग्रियां नहीं डालीं, फिर भी एक दिशामें [illegible] मनुष्य रहा। जिसने क्या काम पाया है, इस बारेमें उस सब तरह न विचार करना। अब अकेला काम एक दिशामें क्या करना, कुछ उस भावनाके प्रमाणमें ज्यादा रखना, इसमें ज्यादा वह कुछ नहीं कर सकता।

जिन सज्जनोंने उस कामको उठानेका आदेश दिया है, उनके अनुयायियों

को यह काम उठा लेना चाहिए। अब यह आन्दोलन सबके आधार पर है। इसमें सबकी इज्जत खतरेमें है। देशकी आबरू इसके साथ जुड़ी हुई है। यह समझकर सब प्रकारके मतभेदोंको छोड़कर सबको यह काम उठा लेना चाहिए। यह हमारी प्रत्यक्ष आचार-योजना है। उन-उन लोगोंमें बात करते समय हम उनसे पूछें कि आप क्या काम करते रहे हैं? अब यह बाबाका काम नहीं है आपका काम है। बाबा आपके जिलेमें घूम रहा है उसका उपयोग करो। अभी तक यह था कि बाबाके काममें ये लोग मदद करते थे और बाबाको उनका उपकार मानना पड़ता था। अब वे उनके काममें बाबाकी मदद लें और बाबाने मदद की तो उसका उपकार मानेंगे। अब परिस्थिति बदल गई है। फिर भी हम आपसे यह अपेक्षा नहीं करते हैं कि आप हमारा उपकार मानें। हम तो सबके चरणोंके सेवक हैं। हमें बहुत दफा सम्मनबार का एक वचन याद आता है जिसमें वह कहता है कि 'मैं तेरे दासके दासके दासका दास हूँ।' यही विनोबाकी हैसियत है। इसलिए विनोबा आपकी चरण-सेवाके लिए हमेशा तैयार है। लेकिन आप सबको यह काम उठाना चाहिए।

आप यह काम करेंगे और जगह-जगह लोग ग्रामदानके लिए तैयार हो जायेंगे। लेकिन जहाँ लोग ग्रामदानके लिए तैयार होते हैं वहाँ उनके पीछे राहु केतु शनि मंगल जैसे साहूकार लगते हैं। साहूकार उनसे कहते हैं कि पुराना कर्जा जल्दी वापस दो और इसके आगे तुम्हें कर्जा नहीं मिलेगा क्योंकि तुम्हारी मालमियत नहीं रही है। यहाँतक कि सरकार भी उन्हें कर्जा देनेको राजी नहीं होती है मानो इन बेचारोंने कुछ पाप ही किया हो! इस तरहसे सब लोग उनपर हमला करते हैं। इसलिए ग्रामदान प्राप्ति के बाद कुछ आगेका काम करना पड़ता है।

ग्रामदानके बाद ग्राम-स्वराज्यकी स्थापना करनेका काम आता है। एक गाँवको मजबूत बनानेकी बात है। यह काम सबको करना है। इसमें सबकी जिम्मेदारी आती है। इसमें टाटा व्यापारी खादी कमीशन कम्युनिटी प्रोजेक्ट आदि सबकी जिम्मेदारी है। देशमें एक बड़ी घटना बनी तो ग्रामके उत्थानके लिए जिम्मेदारी रहती है यह काम हम नहीं करेंगे। इसका मतलब यह है कि देशमें ग्रामदानसे नैतिक हवा निर्माण हुई तो उसे

टिकाये रखना चाहिए। लोगोंके पास सतत जाकर विचार समझानेवालोंकी और सेवा करनेवालोंकी एक सेना खड़ी करनी चाहिए। उसे हमने 'सेवा-सेना' नाम दिया है। शहरमें ऐसी 'सेवा-सेना' बननी चाहिए। दस लाखकी जनसंख्यावाले बम्बई शहरके लिए हर पांच हजार मनुष्योंके पीछे एक सेवक इस हिसाबसे दोसौ सेवक चाहिए। वे सेवक पांच हजार लोगोंसे सम्पर्क रखेंगे। रोज लोगोंके घर जायेंगे। उन्हें साहित्य पढ़ायेंगे। हरेकका दुःख जानेंगे। फिर अपने लोगोंमें वह बात रखेंगे और दुःख-निवारणकी कोशिश करेंगे। इस तरह एक निष्कामसेवाकी योजना सारे भारतमें होनी चाहिए। तब ग्रामदान शांति सम्भव होगी स्थिर होगी। ग्रामदानसे जो नैतिक हवा बनती है, उसकी गर्मी तभी रहेगी जबकि वह गर्मी बढ़ती रहेगी। उसके लिए सारे भारतमें सत्तर हजार सेवकोंकी एक सेवा-सेना चाहिए।

हमने 'सेवा-सेना' नाम क्यों दिया ? हिन्दुस्तानमें सेवा है, परन्तु सेवा सेना नहीं है। यानी सेवाका आक्रमण नहीं हो रहा है। हमारे सामने कोई भिखारी आता है तो उसका दुःख देखकर हमारा दिल पिघलता है और हम कुछ सेवा करते हैं। इस तरहकी सेवासे सामाजिक शांति नहीं होती है। सेवाका आक्रमण होना चाहिए। जैसे बच्चा भागना चाहता है तो भी मा उसे पकड़ती है उसकी नाक बन्द करती है, उसे दूध पिलाती है। वह रोता ही रहता है, मुंह खोलता ही नहीं तो मा नाक दबाकर मुंह खोलती है और उसे दूध पिलाती है। उसके हितकी बात मा समझती है। वैज्ञानिक कहते हैं कि बच्चा अगर नहीं रोयेगा तो उसे दूध हजम नहीं होगा। उसका रोना लाजमी है रोते हुए भी मा उसके मुंहमें दूध डालेगी तभी वह उसे पचा सकेगा। इस तरह जैसे माता प्रेमका आक्रमण करती है, वैसे ही सेवा-का आक्रमण होना चाहिए। हमारी आंखके सामने कोई दुःख आया और फिर हमने उसके निवारणकी कोशिश की वह सेवा-सेना नहीं है। सेवा-सेनाके सेवक खुद घर-घर जायेंगे। यह सेवा-सेना ही मौके पर 'शांति-सेना' बनेगी।